वैदिक वाङ्मय का इतिहास

प्रथम भाग

अपौरुषेय वेद तथा शाखा

मूल लेखक

पं. भगवद्दत्त

परिवर्धक तथा सम्पादक

सत्यश्रवा एम.ए.

पं. भगवद्दत्त

आर्यसमाज में वैज्ञानिक वैदिक शोध के प्रवर्तक पं. भगवद्दत्त ने डी. ए. वी. कॉलेज, लाहौर के शोध विभाग के अध्यक्ष के रूप मे १६२१ से १६३४ तक कार्य किया। इस अवधि में उन्हें प्राचीन संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक अनुशीलन का अवसर मिला। उनके स्वयं के द्वारा संग्रहीत लगभग सात हजार पाण्डुलिपियाँ भी उनके ज्ञानवर्धन में सहायक हुईं। इस बीच उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों, विशेषतः वेबर, मैक्समूलर, मैकडॉनल, ए. बी. कीथ तथा विन्टरनिट्ज़ के भारतीय वाङ्मय विषयक ग्रन्थों को सूक्ष्म रीति से पढ़ा। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पाश्चात्य विद्वानों का यह कार्य स्तुत्य है किन्तु इसमें विद्यमान उनका पूर्वाग्रह, विशेषतः आर्य वाङ्मय की गहनता, गम्भीरता तथा उदात्तता को जानबूझ कर स्वीकार न करने की मानसिकता अवश्य चिन्तनीय है। इस अध्ययन के दौरान उन्होंने निश्चय किया कि वे स्वयं पूर्णरूपेण भारतीय दृष्टिकोण को अपना कर वैदिक साहित्य का विस्तृत, शोधपूर्ण इतिहास लिखेंगे जिसमें वेदों तथा उनसे सम्बद्ध ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों की विशद चर्चा होगी।

शेष अंतिम फ्लैप पर...

वैदिक वाङ्मय का इतिहास

प्रथम भाग

अपौरुषेय वेद तथा शाखा

मूल लेखक

स्वर्गीय पं० भगवद्दत्त

अनुसंधानाध्यक्ष, डी.ए.वी.कालेज, लाहौर;
महोपाध्याय, कैम्प कालेज, पंजाब विश्वविद्यालय, दिल्ली
तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता

परिवर्धक तथा सम्पादक

सत्यश्रवा एम०ए०

Formerly Director, State Museum, Lucknow;
Deputy Keeper (Archaeology), National Museum, New Delhi;
Officer Archaeological Survey of India, New Delhi
Author : Śakas in India; The Kushāṇa Numismatics;
A Comprehensive History of Vedic Literature;
The Dated Kushāṇa Inscriptions;
Irrigation in India Through the Ages; प्राचीन भारत में सिंचाई
सम्पादक : भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (2 भाग) तथा
भारतवर्ष का इतिहास

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

वैदिक वाङ्मय का इतिहास : तीन भाग

1. अपौरुषेय वेद तथा शाखा
2. वेदों के भाष्यकार
3. ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ

ISBN : 978- 81-7077-109-X(set)
ISBN : 978- 81-7077-110-8(vol-I)

प्रकाशक : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
4408, नई सड़क, दिल्ली–110006
दूरभाष : 23977216
Email : ajayarya@vsnl.com
Website : vedicbooks.com

Celebrating 83 Years of Publishing (1925-2008)

संस्करण : 2008
मूल्य : 400.00 रुपये
मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली–110032

Vedic Vāṅmaya Kā Itihāsa Part-I By Pt. Bhagavadutt, Editor : Sh. Satya Shrava M.A.

आर्यसमाज में वैदिक शोध के प्रवर्तकः पं० भगवद्दत

डॉ० भवानीलाल भारतीय

आर्यसमाज में वैदिक शोध का प्रवर्तन सच्चे अर्थों में पं० भगवद्दत के लेखन से माना जा सकता है। यद्यपि उनसे पहले पं० गुरुदत्त ने वेदार्थ की दयानन्द प्रतिपादित प्रणाली की पुष्टि में लिखे गए अपने लेखों के द्वारा इस विद्या को आरम्भ किया था तथापि बिना किसी शोध प्रविधि को सीखे पं० भगवद्दत ने अपनी प्रतिभा के बल पर वैदिक साहित्य की विविध विधाओं का ऐतिहासिक सर्वेक्षण एवं मूल्यांकन कर वैदिक विद्वत्-समुदाय को न केवल चकित कर दिया अपितु उन्हें मजबूर किया कि वे उनके द्वारा प्रस्तुत निष्कर्षों की सत्यता को स्वीकार करें अथवा उनका प्रमाण पूर्वक प्रतिवाद करें। पं० भगवद्दत के वैदिक शोध के महत्त्व को पश्चिमी वेद-विदों ने स्वीकार किया है, यद्यपि पण्डित जी का अधिकांश लेखन हिन्दी भाषा में हुआ था। वैदिक अध्ययन के अतिरिक्त पं० भगवद्दत ने भारत के पुरातन इतिहास तथा भाषा-विज्ञान जैसे विषयों को अपनी मौलिक शोध के द्वारा समृद्ध किया। वैज्ञानिक शोध में अपने अनुवर्तियों का मार्गदर्शन करने वाले पं० भगवद्दत के पास किसी मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय की शोध उपाधि की तो बात ही क्या, उनके पास तो संस्कृत या किसी अन्य विषय में स्नातकोत्तर उपाधि (एम.ए.) भी नहीं थी। पाठक उनके नाम के साथ 'बी.ए., रिसर्च स्कालर' के शब्द पढ़ने मात्र से उनके वैदुष्य तथा लेखन की गुरुता का अनुमान लगा लेता था।

पं० भगवद्दत का जन्म 27 अक्टूबर, 1893 को अमृतसर में लाला चंदनलाल तथा माता हरदेवी के यहाँ हुआ। इण्टरमीडियेट तक ये विज्ञान के विद्यार्थी रहे, तदुपरान्त 1913 में बी.ए. किया और अपना भावी जीवन वैदिक अध्ययन को समर्पित कर दिया। पं० भगवद्दत ने स्वामी लक्ष्मणानन्द से विधिवत् योग की विधि सीखी थी। ध्यातव्य है कि इन स्वामीजी ने महर्षि दयानन्द से अमृतसर में योग का प्रशिक्षण प्राप्त किया था। उनकी लिखी 'ध्यानयोगप्रकाश' योग विषयक एक महत्त्वपूर्ण कृति है। पं० भगवद्दत ने डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर से बी. ए. किया था। आरम्भ में वे इसी कॉलेज में अवैतनिक रूप से अध्यापन करते रहे। जब महात्मा हंसराज की प्रेरणा से इस कॉलेज में शोध-विभाग की स्थापना हुई तो मई, 1921 में वे इस विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए। उस पद पर रह कर पण्डितजी ने प्रकाशन किया तथा लगभग सात हज़ार महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह किया। 1 जून, 1934 को उन्होंने डी.ए.वी. के शोध विभाग से सेवा निवृत्ति ली और स्वतन्त्र रूप से अध्ययन तथा लेखन में स्वयं को समर्पित कर दिया। मार्च 1923 में स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा ने उन्हें अपना सदस्य मनोनीत किया। स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के सम्पादन तथा प्रकाशन के बारे में वे इस सभा को समय-समय पर उपयोगी सुझाव देते रहते थे। देश-विभाजन के बाद वे पंजाबी बाग, दिल्ली में रहने लगे। 22 नवम्बर, 1968 को पचहत्तर वर्ष की आयु में दिल्ली में उनका निधन हो गया।

जैसा कहा जा चुका है पं० भगवद्दत के लेखन तथा शोध के विविध आयाम रहे हैं। सर्वप्रथम तीन खण्डों में प्रकाशित उनके प्रमुख ग्रन्थ *वैदिक वाङ्मय का इतिहास* की चर्चा करें। स्वयं के गंभीर अध्ययन तथा सहस्त्रों वर्षों की सुदीर्घ अवधि में प्रणीत वैदिक वाङ्मय (संहिता, शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग तथा उपवेदों तक विस्तृत) का गम्भीर आलोड़न-विलोड़न के बाद ये तीन खण्ड तैयार किए गए हैं। प्रथम खण्ड में वेदों की विभिन्न शाखाओं का यथोपलब्ध विवरण दिया गया है। द्वितीय खण्ड में ब्राह्मण एवं आरण्यक साहित्य का इतिहास लिपिबद्ध किया गया है। तृतीय भाग में वेदों के विभिन्न भाष्यकारों का समग्र इतिहास दिया गया है। तीनों खण्ड दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत लाहौर से छपे। देश-विभाजन के बाद रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रथम खण्ड को पुनः प्रकाशित किया तथा पण्डितजी के पुत्र पं० सत्यश्रवा ने अन्य खण्डों को प्रणव प्रकाशन के तत्त्वावधान में छापा। वैदिक साहित्य के इतिहास को जानने के लिए यह ग्रन्थ अपरिहार्य है।

पण्डितजी की वैदिक वाङ्मय-विषयक इस शोध से अनेक परवर्ती लेखकों ने लाभ उठाया। अनेक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में उनके शोध निष्कर्षों को बिना उनका उल्लेख किए या उनके प्रति सौजन्य प्रकट किए यथावत् समाविष्ट कर लिया, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने तक का शिष्टाचार नहीं दिखाया, जब कि सर्वश्री टी.आर. चिन्तामणि, पं० एम.के.शर्मा., हरिहर नरसिंहाचार्य तथा पेरिस के वेद-विद् लुई रेनो ने अपने ग्रन्थों में उनके कार्य के प्रति ऋणी होने को स्वीकार किया। लुई रेनो ने 'जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च' (मद्रास, भाग 18, सन् 1950) में वैदिक शाखाओं पर अपने लेख में स्वीकार किया है कि पं० भगवद्दत ने वैदिक शाखाओं का इतिहास प्रथम बार हिन्दी में लिखा है।

प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविद प्रो. आर. एन. दाण्डेकर ने पूना से 1942 में छपे स्वसम्पादित 'प्रोग्रेस ऑफ इण्डियन स्टडीज़' (1917-1942) में पं० भगवद्दत द्वारा सम्पादित बैजवाप गृह्य संकलन, माण्डूकी शिक्षा तथा अथर्ववेदीया पञ्च पटलिका आदि का उल्लेख किया। *वैदिक वाङ्मय का इतिहास* के चौथे खण्ड में पण्डितजी कल्प-सूत्रों का इतिहास देना चाहते थे। इसकी सामग्री भी एकत्र की जा चुकी थी, किन्तु उनके निधन के कारण यह ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया।

दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत पं० भगवद्दत द्वारा सम्पादित निम्न ग्रन्थ प्रकाशित हुए–

अथर्ववेदीया पञ्चपटलिका (1920), *अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा* (1921), वाल्मीकीय रामायण के बाल, अयोध्या, तथा अरण्य काण्डों के पश्चिमोत्तर काश्मीरी संस्करण का सम्पादन आदि। सम्पादित चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय, आथर्वण ज्योतिष, धनुर्वेद का इतिहास तथा बृहस्पति के राजनीति सूत्रों की भूमिका जैसे ग्रन्थ अप्रकाशित ही रह गए। उनके अन्य वैदिक ग्रन्थ निम्न हैं।–

ऋग्वेद पर व्याख्यान वेदार्थ विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं के समाधान पर सटीक लेखन (1920)।

ऋङ्मन्त्र व्याख्या–स्वामी दयानन्द के वेद भाष्य से भिन्न जिन ग्रन्थों में वेद मन्त्र उद्धृत किए गए हैं उनका संकलन तथा सम्पादन, वेदविद्या निदर्शन-वैदिक मन्त्रों में निहित विविध भौतिक विद्याओं की गूढ़ विवेचना (1959) पण्डितजी ने यास्कीय निरुक्त का विस्तृत भाष्य लिखा जिसमें सिद्धेश्वर वर्मा तथा डॉ० राजवाड़े जैसे पूर्वाग्रही भारतीयों तथा पश्चिम के पक्षपात-ग्रस्त लेखकों द्वारा यास्कीय निरुक्त पर लगाए गए आक्षेपों का निराकरण किया गया है (1964)।

पुरातन भारतीय इतिहास पर पं० भगवद्दत की शोध वैदिक वाङ्मय विषयक उनके अनुसन्धान से कथमपि कम नहीं है। दो भागों में उन्होंने *'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास'* लिखा। इसमें पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अंध अनुयायी भारतीय इतिहासकारों की कालगणनाओं तथा समूचे भारतीय इतिहास को मात्र दो-तीन सहस्राब्दियों में सीमित कर देने के दुष्प्रयत्नों का खण्डन किया गया है। साथ ही पुराणोक्त राजवंशावलियों की सहायता से भरत खण्ड के अत्यन्त प्राचीन इतिहास को क्रमबद्ध और व्यवस्थित किया गया है। इतिहास की भाँति भाषा विज्ञान-विषयक उनका मौलिक चिन्तन तथा भाषा की उत्पत्ति-विषयक उनकी धारणाएँ तुलनात्मक भाषा विज्ञान के पश्चिमी आविष्कारों तथा उनके शिष्य भारतीय विद्वानों को चुनौती देती प्रतीत होती हैं। भाषा की उत्पत्ति विषय में भाषा की दैवी उत्पत्ति की वैदिक अवधारणा को नाना प्रमाणों से उन्होंने पुष्ट किया है।

स्वामी दयानन्द के पत्रों को संगृहीत कर उन्हें सम्पादित करने का अभूतपूर्व कार्य पण्डितजी के पुरुषार्थ से सम्भव हो सका। 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' (1945) शीर्षक यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देश विभाजन से पहले प्रकाशित हो गया था। पाकिस्तान के जन्म के साथ हुए साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण पण्डितजी के द्वारा संगृहीत स्वामी दयानन्द के मूल पत्र भारत में नहीं लाए जा सके। पत्र सम्पादन के अतिरिक्त पं० भगवद्दत ने स्वामी दयानन्द के स्वयंकथित (पूना प्रवचनों का अन्तिम व्याख्यान-4 अगस्त, 1875) तथा स्वलिखित ('थियोसोफिस्ट' में प्रकाशनार्थ आत्मकथ्य की 3 किस्तें) आत्मकथ्य का सम्पादन किया। इसके कई संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रकाशित किए हैं। उनके द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश का सटिप्पण संस्करण 1963 में गाविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने प्रकाशित किया था।

यदि पं० भगवद्दत ने अपनी विद्वत्ता और शोध वृद्धि का प्रकाशन अंग्रेज़ी के माध्यम से किया होता तो शायद वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करते तथा विश्वविख्यात होते, किन्तु स्वभाषा हिन्दी के माध्यम से वैदिक विषयों की विवेचना कर भारतीय भाषा के गौरव को बढ़ाना उन्हें इष्ट था। तथापि उनका अंग्रेज़ी लेखन भी कम महत्त्व का नहीं है। *Western Indologists: A Study in Motives* आकार में लघु

होने पर भी विषय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीय विद्याओं के अध्ययन में पाश्चात्य विद्वानों का आन्तरिक प्रयोजन क्या था, इसे आज भी अनेक लोग ठीक प्रकार से नहीं समझ पाए हैं। कुछ को छोड़ कर अधिकांश पश्चिमी प्राच्यविद्याविद् ईसाई मत की श्रेष्ठता के पूर्वाग्रह को रख कर संस्कृत शास्त्रों के अनुशीलन में प्रवृत्त हुए थे। इस कटु सत्य को पण्डितजी ने सप्रमाण सिद्ध किया। इससे इन विद्वानों के विद्या व्यासंग के पीछे निहित उनके मूल भाव का समुचित उद्घाटन होता है। *Extraordinary Scientific Knowledge in Vedic Works* अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या परिषद के दिल्ली अधिवेशन में पठित उनके शोध निबन्ध का प्रकाशित रूप है।

कैम्प कॉलेज, दिल्ली में पं० भगवद्दत भारतीय प्रशासनिक सेवा में छात्रों को भारतीय इतिहास पढ़ाते थे। एक दिन पं० नेहरू ने कॉलेज में आकर इन छात्रों से भारतीय इतिहास पर कुछ प्रश्न किए। पं० भगवद्दत द्वारा प्रदत्त इतिहास ज्ञान के आधार पर जब छात्रों के उत्तर को पं० नेहरू ने सुना तो उनका चमत्कृत होना स्वाभाविक था। उन्होंने पण्डितजी के बारे में पूरी जानकारी ली और उनके गम्भीर इतिहास ज्ञान की प्रशंसा की।

पं0 भगवद्दत रचित कालजयी ग्रन्थः
वैदिक वाङ्मय का इतिहासः एक परिचय

डॉ. भवानीलाल भारतीय

आर्यसमाज में वैज्ञानिक वैदिक शोध के प्रवर्तक पं० भगवद्दत ने डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर के शोध विभाग के अध्यक्ष के रूप में 1921 से 1934 तक कार्य किया। इस अवधि में उन्हें प्राचीन संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक अनुशीलन का अवसर मिला। उनके स्वयं के द्वारा संग्रहीत लगभग सात हजार पाण्डुलिपियाँ भी उनके ज्ञानवर्धन में सहायक हुईं। इस बीच उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों, विशेषतः वेबर, मैक्समूलर, मैकडॉनल, ए. बी. कीथ तथा विन्टरनिट्ज़ के भारतीय वाङ्मय विषयक ग्रन्थों को सूक्ष्म रीति से पढ़ा। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पाश्चात्य विद्वानों का यह कार्य स्तुत्य है किन्तु इसमें विद्यमान उनका पूर्वाग्रह, विशेषतः आर्य वाङ्मय की गहनता, गम्भीरता तथा उदात्तता को जानबूझ कर स्वीकार न करने की मानसिकता अवश्य चिन्तनीय है। इस अध्ययन के दौरान उन्होंने निश्चय किया कि वे स्वयं पूर्णरूपेण भारतीय दृष्टिकोण को अपना कर वैदिक साहित्य का विस्तृत, शोधपूर्ण इतिहास लिखेंगे जिसमें वेदों तथा उनसे सम्बद्ध ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों की विशद चर्चा होगी।

अन्ततः *वैदिक वाङ्मय का इतिहास* तीन खण्डों में प्रकाश में आया। सर्व प्रथम इसका द्वितीय भाग शोध विभाग डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर द्वारा 1924 में छपा। लेखक न इसमें ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य का विचार किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों को लेकर आर्यसमाज तथा सनातनी दृष्टिकोण में मौलिक भिन्नता है। ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मण ग्रन्थों को याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा निर्मित ग्रन्थ माना है जो वेदों की व्याख्या के रूप में लिखे गए थे। सनातनी दृष्टि से 'संहिता' तथा 'ब्राह्मण' भाग एक हैं, दोनों को तुल्य महत्त्व प्राप्त है तथा मंत्र समुदाय तथा ब्राह्मण दोनों अपौरुषेय हैं। प्रत्येक संहिता पर पृथक्-पृथक् ब्राह्मण मिलते हैं। अनेक ब्राह्मण समय की मार में आकर नष्ट हो गए। इस खण्ड में ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में समग्र विवेचना उपलब्ध होती है। उपलब्ध और अनुपलब्ध ब्राह्मणों के विवरण के पश्चात् इन ग्रन्थों पर लिखे गए भाष्यकारों की पूरी जानकारी दी गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों का विचार करने के अनन्तर लेखक ने आरण्यक ग्रन्थों का विवरण दिया है। चारों वेदों से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न आरण्यकों की विषय-सामग्री का उल्लेख करने के पश्चात् आरण्यकों का संकलन काल, इन ग्रन्थों के भाष्यकारों की जानकारी तथा अन्य आवश्यक तथ्य प्रस्तुत किए हैं। अपने विषय का यह प्रथम मौलिक ग्रन्थ था।

'वेदों के भाष्यकार' शीर्षक तृतीय खण्ड का प्रकाशन 1913 में हुआ। वेद भाष्यकारों के काल का निर्धारण करने में लेखक ने महत् परिश्रम किया है। यहाँ अनेक ऐसे भाष्यकारों की चर्चा हुई है जिनके अस्तित्व की जानकारी भी लोगों को नहीं थी। इस ग्रन्थ में ऋग्वेद के भाष्यकारों में सर्वाधिक प्राचीन स्कन्द स्वामी से लेकर उन्नीसवीं शती के स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेद के प्राचीनतम भाष्यकार शौनक से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती, (काण्व और तैत्तिरीय संहिताओं के भाष्यकारों का पृथक् उल्लेख है) यजुर्वेदान्तर्गत रुद्राध्याय के भाष्यकार, सामवेद के आदि भाष्य लेखक माधव से लेकर गणविष्णु तक तथा अथर्ववेद के एकमात्र भाष्यकार सायण का विस्तृत विवरण एक स्थान पर उपलब्ध कराया गया है। ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में पदपाठकारों का परिचय दिया गया है। इसमें शाकल, रायण, (रायण ने ऋग्वेद का पदपाठ लिखा था,

पण्डितजी की वैदिक वाङ्मय-विषयक इस शोध से अनेक परवर्ती लेखकों ने लाभ उठाया। अनेक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में उनके शोध निष्कर्षों को बिना उनका उल्लेख किए या उनके प्रति सौजन्य प्रकट किए यथावत् समाविष्ट कर लिया, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने तक का शिष्टाचार नहीं दिखाया, जब कि सर्वश्री टी.आर. चिन्तामणि, पं० एम.के.शर्मा., हरिहर नरसिंहाचार्य तथा पेरिस के वेद-विद् लुई रेनो ने अपने ग्रन्थों में उनके कार्य के प्रति ऋणी होने को स्वीकार किया। लुई रेनो ने 'जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च' (मद्रास, भाग 18, सन् 1950) में वैदिक शाखाओं पर अपने लेख में स्वीकार किया है कि पं० भगवद्दत ने वैदिक शाखाओं का इतिहास प्रथम बार हिन्दी में लिखा है।

प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविद प्रो. आर. एन. दाण्डेकर ने पूना से 1942 में छपे स्वसम्पादित 'प्रोग्रेस ऑफ इण्डियन स्टडीज़' (1917-1942) में पं० भगवद्दत द्वारा सम्पादित बैजवाप गृह्य संकलन, माण्डूकी शिक्षा तथा अथर्ववेदीया पञ्च पटलिका आदि का उल्लेख किया। *वैदिक वाङ्मय का इतिहास* के चौथे खण्ड में पण्डितजी कल्प-सूत्रों का इतिहास देना चाहते थे। इसकी सामग्री भी एकत्र की जा चुकी थी, किन्तु उनके निधन के कारण यह ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया।

दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत पं० भगवद्दत द्वारा सम्पादित निम्न ग्रन्थ प्रकाशित हुए—

अथर्ववेदीया पञ्चपटलिका (1920), *अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा* (1921), वाल्मीकीय रामायण के बाल, अयोध्या, तथा अरण्य काण्डों के पश्चिमोत्तर काश्मीरी संस्करण का सम्पादन आदि। सम्पादित चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय, आथर्वण ज्योतिष, धनुर्वेद का इतिहास तथा बृहस्पति के राजनीति सूत्रों की भूमिका जैसे ग्रन्थ अप्रकाशित ही रह गए। उनके अन्य वैदिक ग्रन्थ निम्न हैं।—

ऋग्वेद पर व्याख्यान वेदार्थ विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं के समाधान पर सटीक लेखन (1920)।

ऋङ्मन्त्र व्याख्या—स्वामी दयानन्द के वेद भाष्य से भिन्न जिन ग्रन्थों में वेद मन्त्र उद्धृत किए गए हैं उनका संकलन तथा सम्पादन, वेदविद्या निदर्शन-वैदिक मन्त्रों में निहित विविध भौतिक विद्याओं की गूढ़ विवेचना (1959) पण्डितजी ने यास्कीय निरुक्त का विस्तृत भाष्य लिखा जिसमें सिद्धेश्वर वर्मा तथा डॉ० राजवाड़े जैसे पूर्वाग्रही भारतीयों तथा पश्चिम के पक्षपात-ग्रस्त लेखकों द्वारा यास्कीय निरुक्त पर लगाए गए आक्षेपों का निराकरण किया गया है (1964)।

पुरातन भारतीय इतिहास पर पं० भगवद्दत की शोध वैदिक वाङ्मय विषयक उनके अनुसन्धान से कथमपि कम नहीं है। दो भागों में उन्होंने '*भारतवर्ष का बृहद् इतिहास*' लिखा। इसमें पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अंध अनुयायी भारतीय इतिहासकारों की कालगणनाओं तथा समूचे भारतीय इतिहास को मात्र दो-तीन सहस्राब्दियों में सीमित कर देने के दुष्प्रयत्नों का खण्डन किया गया है। साथ ही पुराणोक्त राजवंशावलियों की सहायता से भरत खण्ड के अत्यन्त प्राचीन इतिहास को क्रमबद्ध और व्यवस्थित किया गया है। इतिहास की भाँति भाषा विज्ञान-विषयक उनका मौलिक चिन्तन तथा भाषा की उत्पत्ति-विषयक उनकी धारणाएँ तुलनात्मक भाषा विज्ञान के पश्चिमी आविष्कारों तथा उनके शिष्य भारतीय विद्वानों को चुनौती देती प्रतीत होती हैं। भाषा की उत्पत्ति विषय में भाषा की दैवी उत्पत्ति की वैदिक अवधारणा को नाना प्रमाणों से उन्होंने पुष्ट किया है।

स्वामी दयानन्द के पत्रों को संगृहीत कर उन्हें सम्पादित करने का अभूतपूर्व कार्य पण्डितजी के पुरुषार्थ से सम्भव हो सका। 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' (1945) शीर्षक यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देश विभाजन से पहले प्रकाशित हो गया था। पाकिस्तान के जन्म के साथ हुए साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण पण्डितजी के द्वारा संगृहीत स्वामी दयानन्द के मूल पत्र भारत में नहीं लाए जा सके। पत्र सम्पादन के अतिरिक्त पं० भगवद्दत ने स्वामी दयानन्द के स्वयंकथित (पूना प्रवचनों का अन्तिम व्याख्यान-4 अगस्त, 1875) तथा स्वलिखित ('थियोसोफिस्ट' में प्रकाशनार्थ आत्मकथ्य की 3 किस्तें) आत्मकथ्य का सम्पादन किया। इसके कई संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रकाशित किए हैं। उनके द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश का सटिप्पण संस्करण 1963 में गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने प्रकाशित किया था।

यदि पं० भगवद्दत ने अपनी विद्वत्ता और शोध वृद्धि का प्रकाशन अंग्रेज़ी के माध्यम से किया होता तो शायद वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करते तथा विश्वविख्यात होते, किन्तु स्वभाषा हिन्दी के माध्यम से वैदिक विषयों की विवेचना कर भारतीय भाषा के गौरव को बढ़ाना उन्हें इष्ट था। तथापि उनका अंग्रेज़ी लेखन भी कम महत्त्व का नहीं है। *Western Indologists: A Study in Motives* आकार में लघु

होने पर भी विषय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीय विद्याओं के अध्ययन में पाश्चात्य विद्वानों का आन्तरिक प्रयोजन क्या था, इसे आज भी अनेक लोग ठीक प्रकार से नहीं समझ पाए हैं। कुछ को छोड़ कर अधिकांश पश्चिमी प्राच्यविद्याविद् ईसाई मत की श्रेष्ठता के पूर्वाग्रह को रख कर संस्कृत शास्त्रों के अनुशीलन में प्रवृत्त हुए थे। इस कटु सत्य को पण्डितजी ने सप्रमाण सिद्ध किया। इससे इन विद्वानों के विद्या व्यासंग के पीछे निहित उनके मूल भाव का समुचित उद्घाटन होता है। *Extraordinary Scientific Knowledge in Vedic Works* अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या परिषद के दिल्ली अधिवेशन में पठित उनके शोध निबन्ध का प्रकाशित रूप है।

कैम्प कॉलेज, दिल्ली में पं० भगवद्दत्त भारतीय प्रशासनिक सेवा में छात्रों को भारतीय इतिहास पढ़ाते थे। एक दिन पं० नेहरू ने कॉलेज में आकर इन छात्रों से भारतीय इतिहास पर कुछ प्रश्न किए। पं० भगवद्दत्त द्वारा प्रदत्त इतिहास ज्ञान के आधार पर जब छात्रों के उत्तर को पं० नेहरू ने सुना तो उनका चमत्कृत होना स्वाभाविक था। उन्होंने पण्डितजी के बारे में पूरी जानकारी ली और उनके गम्भीर इतिहास ज्ञान की प्रशंसा की।

पं० भगवद्दत्त रचित कालजयी ग्रन्थ: वैदिक वाङ्मय का इतिहास: एक परिचय

डॉ. भवानीलाल भारतीय

आर्यसमाज में वैज्ञानिक वैदिक शोध के प्रवर्तक पं० भगवद्दत्त ने डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर के शोध विभाग के अध्यक्ष के रूप में 1921 से 1934 तक कार्य किया। इस अवधि में उन्हें प्राचीन संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक अनुशीलन का अवसर मिला। उनके स्वयं के द्वारा संग्रहीत लगभग सात हज़ार पाण्डुलिपियाँ भी उनके ज्ञानवर्धन में सहायक हुईं। इस बीच उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों, विशेषत: वेबर, मैक्समूलर, मैकडॉनल, ए. बी. कीथ तथा विन्टरनिट्ज़ के भारतीय वाङ्मय विषयक ग्रन्थों को सूक्ष्म रीति से पढ़ा। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पाश्चात्य विद्वानों का यह कार्य स्तुत्य है किन्तु इसमें विद्यमान उनका पूर्वाग्रह, विशेषत: आर्य वाङ्मय की गहनता, गम्भीरता तथा उदात्तता को जानबूझ कर स्वीकार न करने की मानसिकता अवश्य चिन्तनीय है। इस अध्ययन के दौरान उन्होंने निश्चय किया कि वे स्वयं पूर्णरूपेण भारतीय दृष्टिकोण को अपना कर वैदिक साहित्य का विस्तृत, शोधपूर्ण इतिहास लिखेंगे जिसमें वेदों तथा उनसे सम्बद्ध ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों की विशद चर्चा होगी।

अन्तत: *वैदिक वाङ्मय का इतिहास* तीन खण्डों में प्रकाश में आया। सर्व प्रथम इसका द्वितीय भाग शोध विभाग डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर द्वारा 1924 में छपा। लेखक न इसमें ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य का विचार किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों को लेकर आर्यसमाज तथा सनातनी दृष्टिकोण में मौलिक भिन्नता है। ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मण ग्रन्थों को याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा निर्मित ग्रन्थ माना है जो वेदों की व्याख्या के रूप में लिखे गए थे। सनातनी दृष्टि से 'संहिता' तथा 'ब्राह्मण' भाग एक हैं, दोनों को तुल्य महत्त्व प्राप्त है तथा मंत्र समुदाय तथा ब्राह्मण दोनों अपौरुषेय हैं। प्रत्येक संहिता पर पृथक्-पृथक् ब्राह्मण मिलते हैं। अनेक ब्राह्मण समय की मार में आकर नष्ट हो गए। इस खण्ड में ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में समग्र विवेचना उपलब्ध होती है। उपलब्ध और अनुपलब्ध ब्राह्मणों के विवरण के पश्चात् इन ग्रन्थों पर लिखे गए भाष्यकारों की पूरी जानकारी दी गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों का विचार करने के अनन्तर लेखक ने आरण्यक ग्रन्थों का विवरण दिया है। चारों वेदों से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न आरण्यकों की विषय-सामग्री का उल्लेख करने के पश्चात् आरण्यकों का संकलन काल, इन ग्रन्थों के भाष्यकारों की जानकारी तथा अन्य आवश्यक तथ्य प्रस्तुत किए हैं। अपने विषय का यह प्रथम मौलिक ग्रन्थ था।

'वेदों के भाष्यकार' शीर्षक तृतीय खण्ड का प्रकाशन 1913 में हुआ। वेद भाष्यकारों के काल का निर्धारण करने में लेखक ने महत् परिश्रम किया है। यहाँ अनेक ऐसे भाष्यकारों की चर्चा हुई है जिनके अस्तित्व की जानकारी भी लोगों को नहीं थी। इस ग्रन्थ में ऋग्वेद के भाष्यकारों में सर्वाधिक प्राचीन स्कन्द स्वामी से लेकर उन्नीसवीं शती के स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेद के प्राचीनतम भाष्यकार शौनक से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती, (काण्व और तैत्तिरीय संहिताओं के भाष्यकारों का पृथक् उल्लेख है) यजुर्वेदान्तर्गत रुद्राध्याय के भाष्यकार, सामवेद के आदि भाष्य लेखक माधव से लेकर गणविष्णु तक तथा अथर्ववेद के एकमात्र भाष्यकार सायण का विस्तृत विवरण एक स्थान पर उपलब्ध कराया गया है। ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में पदपाठकारों का परिचय दिया गया है। इसमें शाकल, रायण, (रायण ने ऋग्वेद का पदपाठ लिखा था,

जिसकी अपूर्ण पाण्डुलिपि डी.ए.वी. कॉलेज के हस्तलेख संग्रह में थी) आत्रेय, गार्ग्य के अतिरिक्त काण्व तथा मैत्रायणी संहिता के पदपाठकारों का परिचय दिया गया है। इस ग्रन्थ में निरुक्तकारों पर एक स्वतन्त्र अध्याय है जिसमें यास्क पूर्व के औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूणि, और्णनाभ, गालव आदि का यथा प्राप्त विवरण शोधपूर्वक दिया है। निघण्टु के भाष्यकार देवराज यज्वा तथा निरुक्त के भाष्यकारों–दुर्ग तथा स्कन्दमहेश्वर का परिचय दिया गया है। वररुचि कृत *'निरुक्त समुच्चय'* तथा कौत्सव्य के निरुक्त–निघण्टु की जानकारी प्रथम बार यहीं दी गई है।

वैदिक वाङ्मय के इतिहास का प्रथम खण्ड जिसमें मुख्यत: *'वैदिक शाखाओं का विचार'* किया गया है, 1935 में छपा था। एक वर्ष पहले पं० भगवद्दत डी.ए.वी. कॉलेज की सेवा से मुक्त हो गए थे और अब उनका संकल्प था कि शेष सारा जीवन वैदिक अध्ययन में ही लगाना है। लाहौर में उस समय संस्कृत विद्वानों की एक बड़ी मण्डली थी और ये सभी विद्वान् पं० भगवद्दत की मित्र–मण्डली में थे। इनमें से प्रमुख थे–डॉ० लक्ष्मणस्वरूप, पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं० चारुदेव शास्त्री, प्रो. वेदव्यास, पं० ईश्वरचन्द्र शर्मा आदि। पं० युधिष्ठिर जी इस विद्वतमण्डली में उस समय कनिष्ठ स्थान पर थे। उनका उल्लेख *'ब्रह्मचारी युधिष्ठिर'* के रूप में किया गया है। वैदिक शाखा विषयक इस प्रथम खण्ड का संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण 1956 में रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रकाशित किया। लेखक ने इसकी भूमिका में स्पष्ट किया कि उनके इस ग्रन्थ की सामग्री को अनेक लेखकों ने बिना कोई सौजन्य या कृतज्ञता दिखाए अपनी बता कर अपने ग्रन्थों में यथावत् रख दिया है। ऐसे लेखकों की सूची में चतुरसेन शास्त्री, बलदेव उपाध्याय, बटकृष्ण घोष, रामगोविन्द त्रिवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल तथा रजनीकान्त शास्त्री आदि हैं जिन्होंने पराए श्रम को अपना बताने में थोड़ा भी अस्वस्ति बोध नहीं किया। मूल लेखक के प्रति सौजन्य प्रकट करना तो दूर।

इस संशोधित संस्करण में कुछ अध्याय सर्वथा नये हैं जिनमें विद्वान् लेखक ने भाषा शास्त्र तथा भारत के प्राचीन इतिहास विषयक अपने मौलिक चिन्तन का सार प्रस्तुत किया है। प्रथम अध्याय में वेद वाक् तथा संस्कृत वाक् की चर्चा है। इसमें 'भाषा की उत्पत्ति' के विषय में पाणिनि, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि के प्राचीन मत को प्रस्तुत किया गया है। लेखक भाषा की उत्पत्ति के आर्य सिद्धान्त का समर्थक है। भाषा के लिए प्राचीन साहित्य में जो पद प्रयुक्त किए हैं। उनका संग्रह तथा विवेचन अत्यन्त रोचक है। यहाँ वाक्, मानुषी वाक् भाषा, व्यावहारिकी, जाति भाषा, संस्कृत जैसे पदों का विचार लेखक की सूक्ष्म विवेचना का परिचायक है।

द्वितीय अध्याय में लेखक ने पाश्चात्य भाषा विज्ञान या तुलनात्मक भाषा विज्ञान *Comparative Philology or Linguistic Science* का तार्किक परीक्षण कर पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रवर्तित भाषा की उत्पत्ति के मत की अलोचना की है। पाश्चात्य विद्वानों ने यह मत स्थापित किया था कि भाषा–विषयक विवेचन का सूत्रपात करने वाले यूरोपियन, विशेषत: बॉप आदि जर्मन विद्वान थे। लेखक ने इस स्थापना का प्रतिवाद करते हुए सिद्ध किया कि भारत में यास्क, पतञ्जलि, पाणिनि, भर्तृहरि आदि विद्वानों ने भाषा–विषयक जो चिन्तन प्रस्तुत किया, वस्तुत: वही भाषा शास्त्र का मूल आधार बना है। भाषा–विज्ञान के विद्यार्थी को आज ग्रिम नियम पढ़ना पड़ता है जो वर्ण तथा ध्वनि परिवर्तन विषयक है। लेखक ने बताया कि ग्रिम के इस नियम का मूल भरत मुनि के ग्रन्थ (नाट्य शास्त्र) में देखा जा सकता है। उन्होंने आपिशलि को ध्वनिशास्त्र का असाधारण ज्ञाता बताया, कल्पना प्रसूत मूल योरोपीय भाषा की धारणा को मिथ्या सिद्ध किया तथा भाषा की उत्पत्ति के बारे में प्रचलित विभिन्न वादों को खारिज कर भाषा की दैवी उत्पत्ति को सत्य घोषित किया। तीसरे अध्याय में संस्कृत को संसार की आदि भाषा सिद्ध किया गया है।

पं० भगवद्दत की उपर्युक्त धारणाएँ और उपपत्तियाँ विद्वत् संसार में हड़कम्प मचा देने वाली थीं। विरोधियों में इतनी क्षमता तो थी नहीं कि वे इनका सतर्क खण्डन करते, इसलिए उन्होंने कुछ यथा–तथा लिखकर अपने–आपको सन्तुष्ट किया। *भारतीय इतिहास की प्राचीनता, भारत के आदिम निवासी आर्य* आदि अध्याय लेखक के सतर्क विवेचना कौशल को उजागर करते हैं। इस खण्ड का मूल विषय वेदों की शाखाओं का विचार करना था। इसमें लेखक ने उपलब्ध शाखाओं का समग्र विवरण दिया है। पं० भगवद्दत के दिवंगत हो जाने के बाद उनके पुत्र पं० सत्यश्रवा ने इस ग्रन्थ के दो खण्डों का पुन: प्रकाशन किया। ऋषि दयानन्द के शास्त्रों के विषय में प्रस्तुत मन्तव्यों की पूर्ण रक्षा करते हुए पं० भगवद्दत ने इस ग्रन्थ के द्वारा पुरातन वैदिक वाङ्मय की जो समीक्षा की है वह सचमुच अद्वितीय है।

विषय-सूची

प्रकाशकीय

श्री पं॰ भगवद्दत्त जी का स्नेह, आशीर्वाद व सहयोग **गोविन्दराम हासानन्द** को सदैव मिलता रहा है। सन् 1962 में स्व॰ श्री विजयकुमार जी के आग्रह पर पं॰ भगवद्दत्त जी ने **सत्यार्थ प्रकाश** का एक बहुपयोगी संस्करण अत्यन्त परिश्रम से तैयार किया जिसका प्रकाशन निरन्तर हो रहा है।

पं॰ भगवद्दत्त जी की कालजयी कृति **वैदिक वाङ्मय का इतिहास** तीनों भागों का प्रकाशन कर मुझे अत्यन्त गौरव अनुभव हो रहा है। यह ग्रन्थ पर्याप्त समय से अनुपलब्ध था तथा विद्वानों, विद्यार्थियों, अनुसंधानकर्ताओं तथा सुधी पाठकों द्वारा निरन्तर इसकी मांग की जा रही थी।

मैं आभारी हूँ श्रीमती श्रुति जी का जिनकी अनुमति से इसका पुनः प्रकाशन सम्भव हो पाया।

मेरा प्रयास होगा की इस ग्रन्थ का अगला संस्करण कम्प्यूटर द्वारा पुनः मुद्रित कर और भी भव्य साज–सज्जा के साथ प्रस्तुत किया जाए।

—अजय कुमार

गोविन्दराम हासानन्द

सम्पादकीय

ऋग्वेद पर व्याख्यान नामक पुस्तक मूल लेखक स्वर्गीय पं० भगवद्दत्त जी ने सन् १६२० में छपायी थी। इसमें लगभग एक सौ पृष्ठ थे। वेद सम्बन्धी प्रचलित पाश्चात्य निर्मूल धारणाओं का तर्क तथा प्रमाण पूर्वक विशद निराकरण था। इस पुस्तक की सम्पूर्ण सामग्री तथा पिछले लगभग साठ वर्ष में उपलब्ध शोध-सामग्री का यथा स्थान सम्मिश्रण करके प्रस्तुत वैदिक वाङ्मय का इतिहास का प्रथम भाग परिवर्धित तथा परिमार्जित रूप में छपाया गया है। योरोपीय विचारधारा के निराकरण का अधिकांश होने के कारण इस भाग का नाम, **अपौरुषेय वेद तथा शाखा** रखा गया है।

क्या वेद-मन्त्र गडरियों के गीत थे? गत तीन शती में पाश्चात्य लेखकों ने निरन्तर तथा उनका अनुकरण करने वाले एतद्देशीय अन्वेषकों ने, प्रमाण रहित होते हुए भी, यह सिद्ध समझा था कि वेद मन्त्र तथा वेद की भाषा मनुष्य निर्मित है। वैदिक वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन के अनन्तर तथा संस्कृत साहित्य के अपूर्व अनुशीलन द्वारा, मूल लेखक ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास लिखना आरम्भ किया था। यह इतिहास आज भी वैदिक साहित्य का अपूर्व ग्रन्थ है। इतना विशद परिशीलन अन्य किसी भी इस विषय के इतिहास ग्रन्थ में प्राप्य नहीं है। सायण, महीधर आदि के मन्त्रों के अर्थों की अपेक्षा स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रस्तुत युक्ति युक्त अर्थों को ग्रहण करके, तथा अन्य अर्थों को प्रकृत रूपेण त्याज्य मानकर यह अतीव सरल हो गया कि ऐसी धारणाएं केवल निर्मूल ही नहीं अपितु हास्यास्पद हैं। यह स्पष्ट है कि वेद मन्त्रों के अर्थ केवल याज्ञिक ही नहीं हैं, अपितु प्रकरणानुसार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा व्यावहारिक भी हैं। ऐसा अध्ययन ही प्रचलित धारणाओं को निर्मूल सिद्ध करने में सहायक हुआ है।

वेद अपौरुषेय है, ऐसा कथन तो सरल है, परन्तु इसे प्रमाण पूर्वक सिद्ध करना कठिन, परन्तु आवश्यक है। भाषा विज्ञान के आधार पर ही योरोपीय लेखक मुख्यतः अपना मन्तव्य विषय प्रस्तुत करते हैं। क्या आधुनिक भाषा-विज्ञान सम्पूर्ण है? इन लेखकों द्वारा निर्धारित भाषा उत्पत्ति की भित्ति इस भाग के प्रथम तीन अध्याय **वेद-वाक् तथा संस्कृत-भाषा; योरोपीय भाषा-मत परीक्षा तथा संसार की आदि भाषा-संस्कृत** में पूर्ण रूपेण जर्जरित हो गयी है। भाषा की उत्पत्ति का आर्षवाद; आकाशस्थ ऋषि वाक्-कर्ता; वाणी के उत्पादक देव; आदि स्थल प्रमाण सहित इस भाषा विज्ञान पर कुठाराघात हैं। पाश्चात्य वर्ण-ध्वनि परिवर्तन नियम; ग्रिम नियम की त्रुटि; तालव्य नियम की विशद विवेचना; फ्रान्त्स बाप का मत; मैक्स वालेसर के नियम की व्यर्थता; भारोपीय भाषाविद् और ध्वनि-नियमों की अपूर्णता का स्पष्ट निराकरण भरत मुनि द्वारा नाट्य शास्त्र में प्रस्तुत उदाहरणों से; ध्वनि शास्त्र के असाधारण ज्ञाता आपिशलि का 'अकार' के विभिन्न उच्चारण-स्थानों के नियम; ग्रीक उच्चारण में संस्कृत के मूल स्वरों के सन्धि स्वर; तथा अनेक शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रमाण सहित सफलता पूर्वक किया गया है।

भर्तृहरि और वाक् सिद्धान्त; व्याडि और दैवी वाक्; शौनक और सौरी वाक्; सौरी शब्द का अर्थ; आपस्तम्ब और दैवी वाक्; व्यास और दैवी वाक्, यास्क और दैवी वाक्; ब्राह्मण ग्रन्थ और दैवी वाक्; वैष्णवी वाक्; दैवी वाक् और मन्त्र समाम्नाय; आदि अनेक प्रमाणों से निश्चित तथ्य कि सारा जगत् दैवीवाक् का विवर्त है; संसार मात्र की अपभ्रंश भाषाएं दैवी वाक् की व्यतिकीर्णता से उत्पन्न हुईं; दैवी अथवा सौरी वाक् को ब्राह्मी वाक् भी कहते हैं; दिव्या वाक् को आदि में स्वयंभू ब्रह्मा ने उत्सृष्टा; वाणी उस समय विस्तृत हुई जब आकाशस्थ देव नाना यज्ञ करने लगे; आकाशस्थ यज्ञार्थ इन्द्र वाणी को उत्पन्न करता है; आकाशस्थ ब्राह्मण और वसिष्ठ वाणी को उत्पन्न करते हैं; तथा आकाशस्थ ऋषि और पितर वाणी को उत्पन्न करते हैं सरल तथा स्पष्ट रूप से योरोपीय भाषा मत-खण्डन करने में एक मात्र स्थान रखते हैं।

इस मत की पुष्टि में देवोत्पत्ति; देव इन्द्र कौन; लोक निर्माण; भूमि की प्राथमिकता; बाइबल में सत्य की प्रतिध्वनि; दैवी यज्ञ; बलि रहित यज्ञ; यज्ञों में मन्त्र पाठ, छन्दः उत्पत्ति; आनुपूर्वी नित्य; वेद में मानुष इतिहास का अभाव तथा मानुषी भाषा उत्पत्ति सम्बन्धी अनेक प्रमाण अध्ययनार्थ निश्चित रूपेण पाश्चात्य विचार धारा का उन्मूलन करते हैं।

संसार की आदि भाषा संस्कृत ही थी, इस विषय का पुष्टिकरण असुरों के इतिहास तथा वंश वृक्ष; उनके राज्य स्थान; उनकी भाषा; असुर अथवा कालिडया के सम्राट् और संस्कृत भाषी देश; भारतीय तथा बावल के यज्ञों में साम्यता; आसुर और भारतीय ज्योतिष का सामञ्जस्य; सुमेर और भारतीय शब्दों की असाधारण साम्यता; पारस नाम का कारण; आर्यों, देवों और असुरों के विवाह सम्बन्ध; ईरानी, फिनिशियन = पणि, सीरियन, ईजीपशियन, अरबों की भाषा भी संस्कृत होने के कारण स्पष्ट तथा-प्रामाणित है।

मंत्रकार शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में लगभग बीस स्थलों में हुआ है। इसका सरल अर्थ पाश्चात्य लेखक मंत्र बनाने वाला करते हैं। इसी आधार पर वह एक मत हैं कि मन्त्र ऋषियों द्वारा बनाए गए थे। अपने मत की पुष्टि में सायण का अर्थ कि मंत्रकृद्भ्यः मंत्रं कुर्वन्तीति मन्त्रकृतः प्रस्तुत करते हैं। इसी शब्द का सत्यार्थ भट्ट भास्कर ने--अथ नम ऋषिभ्यः द्रष्टभ्यः मन्त्रकृदभ्यः मन्त्राणां द्रष्टभ्यः। दर्शनमेव कर्तृत्वं वेदस्य कर्तुरस्मरणात् द्वारा विशद विवेचन कर दिया है। कार अन्त वाले तो अनेक शब्द हैं। इनका अर्थ है स्वर्ण, चर्म, लोह आदि पदार्थों को लेकर जो पुरुष रूपान्तर कर देते हैं, वही इन शब्दों से पुकारे जाते हैं। वे लोग स्वर्ण आदि को बनाते नहीं, प्रत्युत विद्यमान् स्वर्ण का रूप परिवर्तन कर देते हैं। ये शब्द स्थूल रूप से साधारण पुरुष को यही ज्ञान देते हैं कि कोई नूतन रचना की जाती है, पन्रतु वास्तविक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो संसार में नूतन पदार्थ कोई है ही नहीं। सब पदार्थों में रूप का परिवर्तन किया जा रहा है। और उन नूतन प्रतीत होने वाले पदार्थों के कर्त्ता वस्तुतः उन-उन पदार्थों का जोड़ तोड़ कर रहे होते हैं।

इसी प्रकार मन्त्रकार के स्पष्ट अर्थ हैं, मन्त्र तथा मन्त्रार्थ अध्यापक; मन्त्रों के विनियोग को बताने वाला; यज्ञादि में मन्त्रों के प्रयोजन का निर्देश करने वाला; प्राचीन मन्त्रों को लेकर उनका नया जोड़ तोड़ कर उनका विशेष भाव बताने वाला तथा यज्ञ के अर्थ का विचारक। नाभानेदिष्ठ की कथा इस मत को पुष्ट करती है। नाभानेदिष्ठ ने ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर, घर लौटकर अपने पिता मनु से अपना भाग मांगा। पिता ने ऋग्वेद के दशम मण्डल के ६१ और ६२वें दो सूक्त दिए। नाभानेदिष्ठ ही इन दोनों सूक्तों का ऋषि है। उसका नाम ६१वें सूक्त के १८वें मन्त्र में आता है। ये सूक्त तो उससे पहले से विद्यमान थे, वह इनका कर्ता नहीं था। ऐसे अनेकों प्रमाण पाश्चात्य अर्थ को असत्य सिद्ध करने में सहायक हैं।

अनेक ऋचाएं व सूक्त ऐसे हैं जिन्हें कई ऋषियों ने देखा। ऋग्वेद की सम्पात ऋचाओं को विश्वामित्र ने पहले देखा। तत्पश्चात् वामदेव ने इन्हें जन साधारण में फैला दिया। ऋग्वेदानुक्रमणी के अनुसार इन ऋचाओं का ऋषि वामदेव है, विश्वामित्र नहीं। मन्त्रों के ऊपर जो ऋषि नाम लिखे हैं, उनका नाम मन्त्रार्थ द्रष्टा होने से ही नहीं लिखा गया है। अनेक ऋचाएं वा सूक्त ऐसे हैं जिन्हें कई ऋषियों ने देखा। प्रथमम् शब्द से अभिप्राय सबसे पहले द्रष्टा से है अर्थात् इसके अनन्तर भी द्रष्टा होते रहे हैं। पुस्तक में प्रस्तुत सम्पूर्ण प्रमाणों से यही निश्चित होता है कि मन्त्रकार ऋषि तो मंत्रों के बनाने वाले नहीं थे, प्रत्युत वेद मंत्र उनसे पहले विद्यमान थे। न्याय दर्शन में इसे सुस्पष्ट किया है य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च।

ऋग्वेद के अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनके दो, तीन, अथवा चार ऋषि हैं। क्या प्रत्येक ऋषि ने एक समान सूक्त बनाए ? उनमें से प्रत्येक ऋषि ने एक-एक दो-दो मन्त्र बनाए और उन सब का नाम सूक्त के ऊपर लिख दिया गया। यह मत भी मान्य नहीं है। सब ऋषि मन्त्रार्थ देखने वाले तो माने जा सकते हैं, परन्तु मन्त्र बनाने वाले नहीं। समाधि द्वारा शब्द ब्रह्म को प्रत्यक्ष करके यदि कोई पुरुष अर्थ प्रकाशित करे तो उसे ऋषि स्वीकार करके उस सूक्त के साथ उसका नाम अन्य ऋषि लगा देंगे। ऋग्वेद के भिन्न भिन्न मण्डलों और सूक्तों में आने वाले मन्त्र समूहों वा एक -एक सदृश मन्त्र के भिन्न भिन्न ऋषि हैं। क्या भिन्न भिन्न ऋषियों ने सदृश मन्त्र रचना की। नहीं, एक से अधिक ऋषि एक ही मन्त्र के अर्थ द्रष्टा थे।

पाश्चात्य लेखक म्यूर ने अनेक ऋचाएं उद्धृत कर यह प्रमाणित करने का यत्न किया था कि ऋग्वेद में नए तथा पुराने ऋषियों का वर्णन मिलता है। इसका निराकरण 'अपौरुषेय ऋग्वेद' नामक द्वादश अध्याय में सविस्तर किया गया है।

मन्त्रों के बार-बार प्रादुर्भाव का एक और भी गम्भीर अर्थ है। भिन्न-भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न अर्थ किए गए हैं। एक ही मन्त्र का विनियोग भी कई प्रकार का मिलता है। मन्त्रार्थ की यही भिन्नता है जो एक ही मन्त्र में समय-समय पर अनेक ऋषियों को सूझी। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने यह लिखा कि ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टा भी थे। यही मूल भाव का अज्ञान पाश्चात्य धारणाओं का कारण बना।

ऋषि बनने पर अनेक व्यक्ति नाम बदलकर वेद के किसी शब्द को अपने नाम के लिए प्रयुक्त करते थे। ऐसा उदाहरण विश्वामित्र ऋषि का है। विश्वरथ राजा ने घोर तप किया। तप के प्रभाव से वह ऋषि बन गया। तब उसने अपना नाम मन्त्र से शब्द लेकर विश्वामित्र रखा। वेद मन्त्र में विश्वामित्र शब्द प्राण वाचक है। इसी प्रकार वामदेव, अत्रि, भरद्वाज नाम भी सामान्यमात्र हैं। शतपथ ब्राह्मण प्रमाणानुसार वासिष्ठ आदि नाम इन्द्रियों के ही हैं। स्पष्ट है कि वेद मन्त्रों के सामान्यार्थ बोधक अनेक शब्दों के अनुसार ही अनेक ऋषियों ने उनका अर्थ द्रष्ट होने के पश्चात् अपने नाम बदले थे।

आज तक बौद्ध, जैन और आर्य इतिहास में ऐसा प्रमाण नहीं है कि वेद मनुष्य-कृति है। वेद तो अनादि काल से चला आ रहा है। जब जब वेद का लोप होता है, वेद का प्रचार न्यून होता है, तब तब ही ऋषि वेद का प्रचार करते हैं। वही उस के अर्थ का प्रकाश करते हैं। सामान्यतया तो ऋषि काल की समाप्ति कभी भी नहीं होती है। तप, योग, ज्ञान, वेदाभ्यास से कोई भी व्यक्ति कभी ऋषि बन सकता है। यह असाधारण कार्य भी सम्भव है। परन्तु वेद मन्त्रों का, अथवा मन्त्रार्थों का दर्शन किसी विरले के ही भाग्य में होता है।

मध्य-युगीन अनेक विद्वानों के मतानुसार आदि में वेद एक ही था। द्वापर युग के अन्त में महर्षि व्यास ने उसके ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, और अथर्ववेद चार विभाग किए। इस मत के विपरीत यदि मन्त्रों में बहुवचनान्त वेदाः पद आजाए तो निश्चित है कि आदि से ही एक से अधिक वेद थे। पुष्टिकर प्रमाण अथर्ववेद ४.३५.६; १९.९.१२ तथा तैत्तिरीय संहिता ७.५.११.२ है। कठ ब्राह्मण में तो स्पष्ट लिखा है—चत्वारि शृंगा इति वेद वा एतदुक्ता। गोपथ ब्राह्मण १.१६ लिखा है—सर्वांश्च वेदान्। अन्य अनेक प्रमाण छठे अध्याय में उद्धृत हैं।

चरण और शाखा शब्द अति प्राचीन हैं। मूल में इन दोनों शब्दों में निश्चय ही भेद रहा होगा। कालान्तर में जन साधारण में इनका एक ही अर्थ रह गया। ऐसा भी मत है कि शाखाएं वेद का अवयव हैं। सब शाखाएं मिलकर चरण बनता है। सब चरण मिलकर पूरा वेद बनता है। अन्य मत यह है कि शाखाएं वेद व्याख्यान हैं। हमारे विचार में शाखा चरण का अवान्तर विभाग है। जैसे शाकल, वाजसनेय चरक आदि चरण हैं। और इनकी एक से अधिक शाखाएं हैं। इन सब का विशद विवेचन पृथक् पृथक् अध्यायों में प्रत्येक वेद के क्रम से दिया गया है। इतना स्पष्ट वर्णन विषय को समझने तथा ग्रहण करने में विशेष सहायक है।

ऋग्वेद की ऋक् संख्या स्पष्ट रूप में पृथक् अध्याय में वर्णित है। ऐसा भी है कि लुप्त शाखाओं की ऋचाएं अन्यत्र उद्धृत हैं। ब्राह्मण और उपनिषद् आदि में जहां ऋचा कहकर मन्त्र उद्धृत हैं, वे अवश्य मूल ऋचाओं के अन्तर्गत थे।

अष्टादश अध्याय में ऐसी शाखाओं का वर्णन है जिनका किसी भी वेद से सम्बन्ध निर्धारण करना कठिन है। ऐसी २१ शाखाओं का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है। यह सारा वर्णन उपलब्ध सामग्री के आधार पर है। अभी भी विपुल हस्तलिखित ग्रन्थ राशि भारत तथा विदेश में निश्चित रूप से कहीं कहीं सुरक्षित हैं। वेद सम्बन्धी विशाल ग्रन्थ राशि अब भी आर्य ब्राह्मणों के घरों में सुरक्षित मिल सकती है। केवल आवश्यकता है, परिश्रमी अन्वेषक की।

वेद का काल कैसे जाना जा सकता है। वेद का काल जानने के लिए पाश्चात्य लेखकों ने अनेक कल्पनाएं की हैं। वे कल्पनाएं हैं सारी निराधार। उनमें तथ्य तो है नहीं, हां साधारण जन उन्हें पढ़ कर भ्रम में अवश्य पड़ गए हैं। वेदों का काल जानने के लिए वेदों के ऋषियों का इतिहास जानना आवश्यक

है । यह भी स्पष्ट है कि मन्त्रों के ऋषि अथवा मन्त्रों के सम्बन्ध में अनुक्रमणियों में वर्णित ऋषि, उन मन्त्रों के आदि द्रष्टा नहीं हैं। मन्त्र उनमें से अनेक से बहुत पहले विद्यमान थे । उन ऋषियों का इतिवृत्त जानने से स्पष्ट है कि अमुक अमुक मन्त्र शाखा-प्रवचन काल से पहले अवश्य विद्यमान थे । वे मन्त्र उस काल से पीछे के नहीं हो सकते । पुराणों में उन ऋषियों का अच्छा-ज्ञान सुरक्षित है ।

जिन ऋषियों को मन्त्र प्रादुर्भूत हुए वें पांच प्रकार के थे । उन्हें महर्षि, ऋषि, ऋषीक, ऋषिपुत्रक, और श्रुतर्षि कहते हैं । इनका वर्णन अन्तिम अध्याय में है ।

वेद अपौरुषेय हैं—इस तथ्य को प्रमाणित करने में इस भाग में विशेष प्रयत्न किया गया है । आशा है यह परिश्रम पाठकों की अनेक धारणाओं का निराकरण कर सकेगा । भारत भूमि पर प्रचलित तथा संसार भर में कुख्यात ऐसी निर्मूल भावना का युक्ति युक्त उन्मूलन किया गया है । यथार्थ का प्रसारण ही इस इतिहास का मुख्य उद्देश्य है ।

यह इतिहास पांच भागों में छापने का कार्यक्रम है । अब तक तीन भाग छप चुके हैं । ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ नामक तीसरा भाग, १९७४ में छपा था । वह सम्पूर्ण बिक चुका है । उसका परिवर्धित दूसरा संस्करण तैयार किया जा रहा है। आशा है कालान्तर में वह भाग पुनः छप जाएगा । वेदों के भाष्यकार नामक दूसरा भाग १९७६ में छपा था । वह भी समाप्त प्रायः है । शीघ्र ही यह भाग भी पुनः छपवाना आवश्यक हो जाएगा । इसके अन्य दो भाग - कल्प सूत्र तथा उपनिषद् ग्रन्थ—की सामग्री एकत्रित की जा रही है । पाठक वृन्द अधिक काल तक इनसे वंचित नहीं रहेंगे ।

विदेश में भी इस साहित्य के प्रचार की अत्यधिक आवश्यकता है । भाषा इसमें रुकावट रही है । अपने मत के प्रसारार्थ ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग को इंग्लिश में पिछले वर्ष छपाया था । यह हिन्दी भाग का रूपान्तर तो नहीं, परन्तु उसपर आधारित रुचिकर नए रूप में सरस निबन्ध है। इसकी भारत तथा विदेश के कोने कोने से विशेष मांग है। प्रस्तुत भाग का विदेश में प्रचार और भी आवश्यक है । यह परम्परागत भारतीय मत को स्पष्ट शब्दों में हृदयंगम करने में एक मात्र सहायक होगा । इस दिशा में विशेष प्रयास अन्य कार्यों के साथ साथ हो रहा है । आशा है यह भाग भी शीघ्र ही अंगरेजी में छप जाएगा ।

श्री चन्द्रमोहन शास्त्री जी का प्रेस अनेकों कार्यों में व्यस्त रहता है । जीविकोपार्जन, इस युग का प्रमुख धर्म है । ऐसे साहित्यिक ग्रन्थों के छपने में परिणामतः रुचि कम रहती है । लगभग अठारह महीने में यह भाग छप सका है । दैवी कृपा से ही ऐसी बाधाएं दूर हो सकेंगी । ग्रन्थ प्रकाशन शीघ्र हो सके ऐसा अन्य दिशा में भी प्रयास किया जा रहा है । मूल लेखक के अन्य साहित्य विशेषतः भारतवर्ष का इतिहास, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाषा, का इतिहास, Story of Creation की बहुत मांग है । ईश कृपा तथा इस महान् यज्ञ में प्रेरणात्मक सफलता का सदैव प्रार्थी हूं ।

श्री चन्द्रमोहन शास्त्री तथा अन्य सहायकों के प्रति विशेष आभार सहित यह भाग पाठकवृन्द की सेवा में प्रस्तुत है ।

२ नवम्बर १९७८ — सत्यश्रवा

मन्त्रों के बार-बार प्रादुर्भाव का एक और भी गम्भीर अर्थ है। भिन्न-भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न अर्थ किए गए हैं। एक ही मन्त्र का विनियोग भी कई प्रकार का मिलता है। मन्त्रार्थ की यही भिन्नता है जो एक ही मन्त्र में समय-समय पर अनेक ऋषियों को सूझी। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने यह लिखा कि ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टा भी थे। यही मूल भाव का अज्ञान पाश्चात्य धारणाओं का कारण बना।

ऋषि बनने पर अनेक व्यक्ति नाम बदलकर वेद के किसी शब्द को अपने नाम के लिए प्रयुक्त करते थे। ऐसा उदाहरण विश्वामित्र ऋषि का है। विश्वरथ राजा ने घोर तप किया। तप के प्रभाव से वह ऋषि बन गया। तब उसने अपना नाम मन्त्र से शब्द लेकर विश्वामित्र रखा। वेद मन्त्र में विश्वामित्र शब्द प्राण वाचक है। इसी प्रकार वामदेव, अत्रि, भरद्वाज नाम भी सामान्यमात्र हैं। शतपथ ब्राह्मण प्रमाणानुसार वासिष्ठ आदि नाम इन्द्रियों के ही हैं। स्पष्ट है कि वेद मन्त्रों के सामान्यार्थ बोधक अनेक शब्दों के अनुसार ही अनेक ऋषियों ने उनका अर्थ द्रष्ट होने के पश्चात् अपने नाम बदले थे।

आज तक बौद्ध, जैन और आर्य इतिहास में ऐसा प्रमाण नहीं है कि वेद मनुष्य-कृति है। वेद तो अनादि काल से चला आ रहा है। जब जब वेद का लोप होता है, वेद का प्रचार न्यून होता है, तब तब ही ऋषि वेद का प्रचार करते हैं। वही उस के अर्थ का प्रकाश करते हैं। सामान्यतया तो ऋषि काल की समाप्ति कभी भी नहीं होती है। तप, योग, ज्ञान, वेदाभ्यास से कोई भी व्यक्ति कभी ऋषि बन सकता है। यह असाधारण कार्य भी सम्भव है। परन्तु वेद मन्त्रों का, अथवा मन्त्रार्थों का दर्शन किसी विरले के ही भाग्य में होता है।

मध्य-युगीन अनेक विद्वानों के मतानुसार आदि में वेद एक ही था। द्वापर युग के अन्त में महर्षि व्यास ने उसके ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, और अथर्ववेद चार विभाग किए। इस मत के विपरीत यदि मन्त्रों में बहुवचनान्त वेदाः पद आजाए तो निश्चित है कि आदि से ही एक से अधिक वेद थे। पुष्टिकर प्रमाण अथर्ववेद ४.३५.६; १९.९.१२ तथा तैत्तिरीय संहिता ७.५.११.२ है। कठ ब्राह्मण में तो स्पष्ट लिखा है—चत्वारि भृंगा इति वेद वा एतदुक्ता। गोपथ ब्राह्मण १.१६ लिखा है—सर्वांश्च वेदान्। अन्य अनेक प्रमाण छठे अध्याय में उद्धृत हैं।

चरण और शाखा शब्द अति प्राचीन हैं। मूल में इन दोनों शब्दों में निश्चय ही भेद रहा होगा। कालान्तर में जन साधारण में इनका एक ही अर्थ रह गया। ऐसा भी मत है कि शाखाएं वेद का अवयव हैं। सब शाखाएं मिलकर चरण बनता है। सब चरण मिलकर पूरा वेद बनता है। अन्य मत यह है कि शाखाएं वेद व्याख्यान हैं। हमारे विचार में शाखा चरण का अवान्तर विभाग है। जैसे शाकल, वाजसनेय चरक आदि चरण हैं। और इनकी एक से अधिक शाखाएं हैं। इन सब का विशद विवेचन पृथक् पृथक् अध्यायों में प्रत्येक वेद के क्रम से दिया गया है। इतना स्पष्ट वर्णन विषय को समझने तथा ग्रहण करने में विशेष सहायक है।

ऋग्वेद की ऋक् संख्या स्पष्ट रूप में पृथक् अध्याय में वर्णित है। ऐसा भी है कि लुप्त शाखाओं की ऋचाएं अन्यत्र उद्धृत हैं। ब्राह्मण और उपनिषद् आदि में जहां ऋचा कहकर मन्त्र उद्धृत हैं, वे अवश्य मूल ऋचाओं के अन्तर्गत थे।

अष्टादश अध्याय में ऐसी शाखाओं का वर्णन है जिनका किसी भी वेद से सम्बन्ध निर्धारण करना कठिन है। ऐसी २१ शाखाओं का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है। यह सारा वर्णन उपलब्ध सामग्री के आधार पर है। अभी भी विपुल हस्तलिखित ग्रन्थ राशि भारत तथा विदेश में निश्चित रूप से कहीं कहीं सुरक्षित हैं। वेद सम्बन्धी विशाल ग्रन्थ राशि अब भी आर्य ब्राह्मणों के घरों में सुरक्षित मिल सकती है। केवल आवश्यकता है, परिश्रमी अन्वेषक की।

वेद का काल कैसे जाना जा सकता है। वेद का काल जानने के लिए पाश्चात्य लेखकों ने अनेक कल्पनाएं की हैं। वे कल्पनाएं हैं सारी निराधार। उनमें तथ्य तो है नहीं, हां साधारण जन उन्हें पढ़ कर भ्रम में अवश्य पड़ गए हैं। वेदों का काल जानने के लिए वेदों के ऋषियों का इतिहास जानना आवश्यक

है। यह भी स्पष्ट है कि मन्त्रों के ऋषि अथवा मन्त्रों के सम्बन्ध में अनुक्रमणियों में वर्णित ऋषि, उन मन्त्रों के आदि द्रष्टा नहीं हैं। मन्त्र उनमें से अनेक से बहुत पहले विद्यमान थे। उन ऋषियों का इतिवृत्त जानने से स्पष्ट है कि अमुक अमुक मन्त्र शाखा-प्रवचन काल से पहले अवश्य विद्यमान थे। वे मन्त्र उस काल से पीछे के नहीं हो सकते। पुराणों में उन ऋषियों का अच्छा-ज्ञान सुरक्षित है।

जिन ऋषियों को मन्त्र प्रादुर्भूत हुए वे पांच प्रकार के थे। उन्हें महर्षि, ऋषि, ऋषीक, ऋषिपुत्रक, और श्रुतर्षि कहते हैं। इनका वर्णन अन्तिम अध्याय में है।

वेद अपौरुषेय हैं—इस तथ्य को प्रमाणित करने में इस भाग में विशेष प्रयत्न किया गया है। आशा है यह परिश्रम पाठकों की अनेक धारणाओं का निराकरण कर सकेगा। भारत भूमि पर प्रचलित तथा संसार भर में कुख्यात ऐसी निर्मूल भावना का युक्ति युक्त उन्मूलन किया गया है। यथार्थ का प्रसारण ही इस इतिहास का मुख्य उद्देश्य है।

यह इतिहास पांच भागों में छापने का कार्यक्रम है। अब तक तीन भाग छप चुके हैं। ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ नामक तीसरा भाग, १९७४ में छपा था। वह सम्पूर्ण बिक चुका है। उसका परिवर्धित दूसरा संस्करण तैयार किया जा रहा है। आशा है कालान्तर में वह भाग पुनः छप जाएगा। वेदों के भाष्यकार नामक दूसरा भाग १९७६ में छपा था। वह भी समाप्त प्रायः है। शीघ्र ही यह भाग भी पुनः छपवाना आवश्यक हो जाएगा। इसके अन्य दो भाग - कल्प सूत्र तथा उपनिषद् ग्रन्थ—की सामग्री एकत्रित की जा रही है। पाठक वृन्द अधिक काल तक इनसे वंचित नहीं रहेंगे।

विदेश में भी इस साहित्य के प्रचार की अत्यधिक आवश्यकता है। भाषा इसमें रुकावट रही है। अपने मत के प्रसारार्थ ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग को इंगलिश में पिछले वर्ष छपाया था। यह हिन्दी भाग का रूपान्तर तो नहीं, परन्तु उसपर आधारित रुचिकर नए रूप में सरस निबन्ध है। इसकी भारत तथा विदेश के कोने कोने से विशेष मांग है। प्रस्तुत भाग का विदेश में प्रचार और भी आवश्यक है। यह परम्परागत भारतीय मत को स्पष्ट शब्दों में हृदयंगम करने में एक मात्र सहायक होगा। इस दिशा में विशेष प्रयास अन्य कार्यों के साथ साथ हो रहा है। आशा है यह भाग भी शीघ्र ही अंगरेजी में छप जाएगा।

श्री चन्द्रमोहन शास्त्री जी का प्रेस अनेकों कार्यों में व्यस्त रहता है। जीविकोपार्जन, इस युग का प्रमुख धर्म है। ऐसे साहित्यिक ग्रन्थों के छपने में परिणामतः रुचि कम रहती है। लगभग अठारह महीने में यह भाग छप सका है। दैवी कृपा से ही ऐसी बाधाएं दूर हो सकेंगी। ग्रन्थ प्रकाशन शीघ्र हो सके ऐसा अन्य दिशा में भी प्रयास किया जा रहा है। मूल लेखक के अन्य साहित्य विशेषतः भारतवर्ष का इतिहास, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाषा, का इतिहास, Story of Creation की बहुत मांग है। ईश कृपा तथा इस महान् यज्ञ में प्रेरणात्मक सफलता का सदैव प्रार्थी हूं।

श्री चन्द्रमोहन शास्त्री तथा अन्य सहायकों के प्रति विशेष आभार सहित यह भाग पाठकवृन्द की सेवा में प्रस्तुत है।

२ नवम्बर १९७८ सत्यश्रवा

प्राक्कथन

मेरा जन्म सन् १८९३ ईस्वी के अक्तूबर मास की २७ तारीख को पञ्जाबान्तर्गत अमृतसर नामक नगर में हुआ था। मेरे पिता का नाम ला० चन्दनलाल और माता का नाम श्रीमती हरदेवी है। मेरी माता इस समय जीवित हैं। सन् १९१३ में बी. ए० श्रेणी में पग रखते ही मैंने संस्कृत भाषा का अध्ययन आरम्भ किया। उससे पूर्व मैं विज्ञान पढ़ता रहा था। सन् १९१५ में बी० ए० पास करके मैंने वेदाध्ययन को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। इसका कारण श्री स्वामी लक्ष्मणानन्द जी का उपदेश था। योगिराज लक्ष्मणानन्द जी के सत्संग का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा है। सन् १९१२ के दिसम्बर के अन्त में उनका देहावसान हुआ था। परन्तु उनकी सारगर्भित बातें मेरे कानों में आज तक गूंज रही हैं। उनकी श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी में अगाध भक्ति थी। वे योगाभ्यास में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के शिष्य थे।

दयानन्द कालेज लाहौर से बी. ए. पास करके मैंने लगभग छः वर्ष तक इसी कालेज में अवैतनिक काम किया। तत्पश्चात् श्री महात्मा हंसराज जी की कृपा से मई १९२१ में मैं इस कालेज का जीवन सदस्य बना। मास मई सन् १९३४ तक मैं इस कालेज के अनुसन्धान विभाग का अध्यक्ष रहा। इन १९ वर्षों के समय में मैंने इस विभाग के पुस्तकालय के लिए लगभग ७००० हस्तलिखित ग्रंथ एकत्र किए। इन ग्रन्थों में सैंकड़ों ऐसे हैं, जो अन्यत्र अनुपलब्ध हैं। मुद्रित पुस्तकों की भी एक चुनी हुई राशि मैंने इस पुस्तकालय में एकत्र कर दी थी। इसी पुस्तकालय के आश्रय से मैंने इन १९ वर्षों में विशाल वैदिक और संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन किया। यह अध्ययन ही मेरे जीवन का एक मात्र उद्देश्य बना रहा है। इसके लिए जो-जो कष्ट और विघ्न-बाधाएं मैंने सही हैं, उन्हें मैं ही जानता हूं।

सन् १९३३ में कालेज के कुछ बाबू वकील प्रबन्धकर्ताओं के मन में यह धुन समाई कि अपने धन के मद में मस्त होकर वे वेदाध्ययन करने वालों को भी अपना नौकर समझें। भला यह बात मैं कब सह सकता था। संस्कृत-विद्या हीन इन बाबू लोगों को आर्य संस्थाओं में धर्म और प्रबन्ध का क्या ज्ञान हो सकता है, ऐसी धारणा मेरे अन्दर दृढ़ थी और अब भी दृढ़ है। अन्ततः यह विषय महात्मा हंसराज जी के निर्णय पर छोड़ा गया। उनको भी धनी लोगों की बात रुचिकर लगी। तब मेरी आंख खुली। मुझे एकदम ज्ञान हो गया। इस कलि काल में नामधारी आर्यों में वेद-ज्ञान के प्रति कोई श्रद्धा नहीं है। यह धन के साम्राज्य का युग है। पर क्योंकि महात्मा हंसराज जी की कृपा से ही मैं कालेज का सदस्य हुआ था, अतः उन्हीं के निर्णय पर मैंने कालेज की सेवा छोड़ने का संकल्प कर लिया। संसार क्या है, इस विषय का मेरा बहुत सा स्वप्न दूर हो गया है। मैं महात्मा हंसराज जी का शतशः धन्यवाद करता हूं कि मेरे इस ज्ञान का वे कारण बने हैं। पहली जून सन् १९३४ को मैंने कालेज को त्याग दिया।

यह जीवन मैंने वैदिक वाङ्मय के अर्पण कर रखा है। अतः कालेज छोड़ने के पश्चात् भी मैं इसी काम में लग गया हूं। मेरे पास अब पुस्तकालय नहीं है। कुछ मित्रों ने ग्रन्थ भेजने का कष्ट उठाया है। मैं उन सबका आभारी हूं। मेरे मित्र और सहपाठी श्री डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप जी न बहुत सहायता की है। उन्हीं के और ला० लब्भूराम जी और पण्डित बालासहाय जी शास्त्री के कारण मैं पञ्जाब यूनिवर्सिटी पुस्तकालय से पूरा लाभ उठा रहा हूं।

इस इतिहास के दो भाग पहले दयानन्द कालेज की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं। एक में है ब्राह्मण ग्रन्थों का इतिहास और दूसरे में है वेद भाष्यकारों का इतिहास। प्रथम भाग अभी तक मुद्रित नहीं हुआ था। यह प्रथम भाग अब विद्वानों के सम्मुख उपस्थित है। इसमें वेद की शाखाओं का प्रधानतया वर्णन है। वेद की शाखाओं के सम्बन्ध में मैक्समूलर, सत्यव्रत सामश्रमी और स्वामी हरिप्रसाद जी ने बहुत कुछ लिखा है। मैंने उन सबका ही पाठ किया है। इस ग्रन्थ में इन शाखाओं के विषय में जो कुछ लिखा गया है, वह उससे बहुत अधिक और बहुत स्पष्ट है। जहां तक मैं समझता हूं, आर्षकाल के पश्चात् इतनी सामग्री आज तक किसी एक ग्रंथकार ने नहीं दी। पाठक ग्रंथ को पढ़कर इस बात को जान जाएंगे।

सन् १९३१ के लगभग मेरे मित्र अध्यापक रघुवीर जी ने मेरे साथ इस इतिहास को अङ्गरेजी में लिखना प्रारम्भ किया था। हमने कुछ सामग्री लिखी भी थी। परन्तु मेरा विचार उनसे बहुत भिन्न था। अतः मैंने उस काम को वहीं स्थगित कर दिया, और उन्हें अधिकार दे दिया था कि वे अपने ग्रन्थ को स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित कर लें। आशा है मेरा ग्रंथ प्रकाशित हो जाने के पश्चात् अब वे अपना ग्रन्थ प्रकाशित करेंगे। मैं भी कुछ काल के पश्चात् इस ग्रंथ का एक परिवर्धित संस्करण अङ्गरेज़ी में निकालूंगा। वैदिक वाङ्मय का सम्पूर्ण इतिहास तो कुछ काल पश्चात् ही लिखा जा सकता है। आए दिन वैदिक वाङ्मय के नए-नए ग्रंथ मिल रहे हैं। इन सबका सम्पादन भी अत्यन्त आवश्यक है। हो रहा है यह काम अत्यन्त धीरे-धीरे। आर्य जाति का ध्यान इस ओर नहीं है। मेरे जीवन की कितनी रातें इस गम्भीर समस्या के हल करने में लगी हैं, भगवान् ही जानते हैं। भारत में वैदिक ग्रंथों के सम्पादन की ओर विद्वानों का बहुत अल्प ध्यान है। देखें कितने तपस्वी लोग इस काम में अपनी जीवन-आहुतियां देते हैं।

मेरे पास न तो धन है, और न सहकारी कार्यकर्ता। यथा तथा जीवन निर्वाह का प्रबन्ध भगवान् कर देते हैं। फिर भी जो कुछ मुझ से हो सकेगा, वह मैं करता ही रहूंगा। बस इतने शब्दों के साथ मैं इस भाग को जनता की भेंट करता हूं। जो दो भाग पहले छप चुके हैं, वे भी संशोधित और परिवर्धित रूप में शीघ्र ही छपेंगे। तत्पश्चात् चौथा भाग छपेगा। उसमें कल्पसूत्रों का इतिहास होगा।

इस ग्रंथ के पढ़ने वालों से मैं इतनी प्रार्थना करता हूं कि यदि वे इस ग्रंथ के पूरे आठ भागों का पाठ करने के इच्छुक हैं, तो उन्हें इसकी अधिक से अधिक प्रतियां बिकवानी चाहिएं। यही मेरी सहायता है और इसी से मेरा काम अपने वास्तविक रूप में चलेगा।

कई फार्मों का प्रूफ पं० शुचिव्रत जी शास्त्री एम० ए० ने शोधा है। तदर्थ मैं उनका बड़ा आभारी हूं। यह ग्रंथ हिन्दी भवन प्रेस लाहौर में छपा है। प्रेस के व्यवस्थापक श्री इन्द्रचन्द्र जी ने ग्रंथ के प्रूफ शोधन में हमारी अत्यधिक सहायता की है। प्रेस सम्बन्धी अन्य अनेक सुविधाएं भी उन्होंने हमें दी हैं। इन सब के लिए मैं उन को हार्दिक धन्यवाद देता हूं। श्रीयुत मित्रवर महावैयाकरण पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु और ब्रह्मचारी युधिष्ठिर ने हमें अनेक उपयोगी बातें सुझाई हैं। नासिक क्षेत्र वास्तव्य शुल्क-याजुष-विद्या-प्रवीण पं० अण्णा शास्त्री बारे और उन के सुपुत्र पं० श्रीधर शास्त्री जी ने भी शुक्ल-याजुष प्रकरण की कई बातें हमें बताई थीं। इन सब महानुभावों के प्रति मैं सनम्र अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

बृहस्पतिवार, २१ मार्च १९३५ — भगवद्दत्त

द्वितीय संस्करण की भूमिका

यह ग्रन्थ गत आठ वर्ष से अप्राप्य हो रहा था। बिना संशोधन और परिवर्धन के मैं इस का प्रकाशन उपादेय न समझता था। इस कार्य के लिए मेरे पास समय नहीं निकला। अन्ततः चैत्र सं० २०११ के मध्य में योग्य विद्वान् श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी मेरे पास आ गए। उनकी सम्मति के अनुसार इस ग्रन्थ के संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण का मुद्रण आरम्भ किया गया।

प्रथम संस्करण चैत्र सं० १९९१ में छपा था। देशी तथा विदेशी विद्वानों ने उस ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। पर योरोपीय विद्वानों को एक बात खटकने लग पड़ी थी। उनके ध्यान में यह बात आनी आरम्भ हो गई थी कि भगवद्दत्त उनके प्रचारित निराधार कल्पित मतों का कठोर खण्डन करेगा।

तत्पश्चात् सं० १९९७ में मेरा 'भारतवर्ष का इतिहास' (प्रथम संस्करण; सं० २००३ में द्वितीय संस्करण) और सं० २००८ में 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' प्रथम भाग प्रकाशित हुए। इन ग्रन्थों का प्रकाशित होना था कि योरोपीय पद्धति पर संस्कृत और भारतीय इतिहास पढ़ने वालों में से अधिकांश व्यक्तियों ने मेरे विरुद्ध एक बवण्डर उत्पन्न करना आरम्भ किया। स्थान-स्थान पर मेरे ग्रंथों का विरोध आरम्भ हुआ। लाहौर में ही कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक उच्च अधिकारी द्वारा मुझे सूचना मिल चुकी थी कि मेरा ग्रंथ उस विद्यालय के पुस्तकालय में रखा नहीं जा सकता। वहां के किसी विभाग का अध्यक्ष इस ग्रंथ का विरोध कर रहा है। एक विद्वान् ने सूचना दी कि दो बंगाली प्रोफेसर मेरे भारतवर्ष के इतिहास की अवहेलना करते हुए उसे एक नया पुराण कहते हैं।

उत्तर-प्रदेश-राज्य हिन्दी की श्रेष्ठ पुस्तकों पर पारितोषिक देने का विज्ञापन देता है। परिस्थिति से परिचित होने के कारण अनिच्छा होते हुए भी परिवार के लोगों के कहने से मैंने बृहद् इतिहास की छः प्रतियां तदर्थ भेजीं। परिणाम मैं जानता था। योरोपीय पद्धति के अनुसार पढ़े लिखे समालोचक अपने मूलमतों पर कुठाराघात करने वाले ग्रंथ की किस प्रकार प्रशंसा कर सकते थे।

अन्य अनेक अड़चनें भी मेरे मार्ग में डाली गयीं। अनेक पी. एच. डी. तथा डी. लिट् घबरा उठे कि यदि भगवद्दत्त के ग्रन्थ भारतीय जनता में प्रिय होने लग पड़े, तो उनका पठित होना भी सन्देह का स्थान बन जाएगा। उनमें मेरे तर्कों का उत्तर देने का सामर्थ्य तो था नहीं, पर अहम्मन्यता के कारण वे प्रलाप अवश्य करते रहे।

उनमें से अनेक ने मेरे ग्रन्थों में एकत्रित सामग्री को यथेष्ट ले लिया, मेरे संगृहीत प्रमाणों को अपने नामों से प्रकाशित करके अपनी योग्यता की डींग मारनी चाही, पर मेरे कार्य के गुरुत्व के विषय में कुछ लिखते वे कतराते रहे। यथा—

१. श्री चतुरसेन वैद्य शास्त्री ने वेद और उनका साहित्य नामक ग्रन्थ (सं० १९९४=सन् १९३७) में लिखा। उसमें उन्होंने अनेक स्थानों में हमारे 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रंथ से प्रभूत सामग्री ली। विशेष कर 'ब्राह्मण ग्रन्थ' नामक छठा अध्याय हमारे इतिहास के ब्राह्मण भाग पर ही आश्रित है। यथा -

क. पृष्ठ १२०—१२३। तुलना करो वै० वा० इ० पृष्ठ २६—३३।
ख. पृष्ठ १२३—१३५। „ „ „ „ „ „ ६३ ८९।
ग. पृष्ठ १७६—१७७। „ „ „ ९९, ११३, ११४, १२८।

शास्त्री जी ने ख निर्दिष्ट प्रकरण का शीर्षक 'ब्राह्मणों का संकलन काल' हमारा ही ले लिया है।

हमारे ग्रंथ से इतनी सामग्री लेने पर भी शास्त्री जी ने हमारे ग्रन्थ का निर्देश कहीं नहीं किया।

२. पं० बलदेव उपाध्याय ने आचार्य सायण और माधव नामक ग्रन्थ (सं० २००३=सन् १९४६) में पृष्ठ २०१—२२३ तक वेद-भाष्यकार प्रसंग की अधिकांश सामग्री हमारे वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग से ली है।

३. डा० बट कृष्ण घोष ने जर्मनी के म्यूनिक (Munich) विश्वविद्यालय से पी.एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। उपाधि के निमित्त उन्होंने जो निबन्ध यूनिवर्सिटी को भेंट किया उसका शीर्षक है—**Collection of the Fragments of Lost Brahmanas.** इस निबन्ध का अंग्रेज़ी रूपान्तर सन् १९४७ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। लुप्त ब्राह्मण में से शाट्यायन ब्राह्मण के वेङ्कटमाधवकृत ऋग्भाष्य से जो उद्धरण उनके महोपाध्याय श्री वुस्ट (Wust) जी को मैंने भेजे, उनके लिए डाक्टर जी ने भूमिका पृष्ठ ६, ७ पर आभार प्रदर्शन किया है, परन्तु उन्होंने अपने निबन्ध की जो शेष सामग्री मेरे 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ब्राह्मण भाग से ली, उसका संकेत तक नहीं किया।

उनका सारा निबन्ध मेरे लेख का जर्मन भाषा में अनुवाद मात्र है। लुप्त ब्राह्मणों के वाक्यों का अनुवाद तो उनका है, पर उनके उद्धरणों के मूल स्थान प्रायः मेरे दर्शाये हुए हैं। उनको पी. एच. डी. की उपाधि मेरे ग्रन्थ के एक अध्याय के कारण मिली है।

स्मरण रहे कि वेङ्कट माधव के ऋग्भाष्य में शाट्यायन ब्राह्मण के जो वचन उन्हें परलोकगत डा. लक्ष्मण स्वरूप के द्वारा मिले थे, उनका संकलन पं. शुचिव्रत शास्त्री एम० ए० ने किया था।

४. पं. रामगोविन्द त्रिवेदी ने वैदिक साहित्य नामक ग्रंथ (सं० २००७=सन् १९५०) में अनेक स्थानों पर हमारे ग्रंथों से सामग्री ली है, परन्तु उस प्रसंग में हमारे ग्रन्थ का निर्देश नहीं किया। यथा—

क. पृष्ठ ६४ पर शाम्बव्य शब्द के पाठान्तर। ये पाठान्तर हमने महाभारत के अनेक हस्तलेखों से संगृहीत किए थे। देखो वै० वा० का इतिहास, वेदों की शाखाएं भाग, संस्क० १, पृष्ठ ११५, संस्क० २ पृष्ठ २१९।

ख. पृष्ठ ९६ पर हमारे लेख का अधिकांश भाग लिया है ।

ग. पृष्ठ २४२, २४३ का निरुक्तवार्तिक तथा बृहद्देवता सम्बन्धी लेख हमारे लेख के आधार पर है ।

घ. पृष्ठ ३८८ पर निर्दिष्ट रावण कृत ऋक्पदपाठ सम्बन्धी लेख । रावण के पदपाठ का हस्त-लेख हमारे अतिरिक्त संसार में अन्यत्र कहीं ज्ञात नहीं था ।

ङ. पृष्ठ ३८८-३८९ पर लिखा गया पदपाठकार संबन्धी लेख हमारे लेख का संक्षेप है ।

इससे स्पष्ट है कि पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ने कितनी सामग्री हमारे ग्रन्थों से ली है ।

५. श्री विष्णुपद भट्टाचार्य ने निरुक्तवार्तिक—a lost treatise शीर्षक लेख (I. H. Q. जून १९५०) की प्रभूत सामग्री हमारे वै० वा० का इतिहास, वेदों के भाष्यकार (भाग) पृष्ठ २१३-२१७ से ली है । इस ग्रन्थ का आधुनिक काल में सर्व प्रथम परिचय हमने ही संसार को दिया था । लेखक को यह सत्य स्वीकार करना चाहिए था ।

६. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने **India as Known to Panini** (सन् १९५३) के चरण और शाखा प्रकरण (पृष्ठ ३२५) में मानव गृह्य परिशिष्ट का अभिप्राय उद्धृत किया है । इस ग्रन्थ का हस्तलेख मेरे पास ही था । उसके कुछ श्लोक मैंने वै० वा० का इतिहास भाग १ प्रथम संस्क० पृष्ठ १९२ (द्वि० संस्क० पृष्ठ २९७) पर उद्धृत किए हैं । श्री अग्रवाल जी को अपने लेख के आधार का मूल स्थान देना चाहिए था ।

पाश्चात्य ढंग से पढ़े लिखे लोगों को यह बात अखरती है कि वे मेरे परिश्रम और विचारों को प्रमुखता दें ।

७. श्री रजनीकान्त शास्त्री ने वैदिक साहित्य परिशीलन (सं० २०१०=सन् १९५३) में हमारे ग्रन्थों से अनेक बातें ली हैं । पृष्ठ ११२ पर उन्होंने लुप्त निघण्टु ग्रन्थों के कई पाठ पढ़े हैं । यह प्रकरण हमारे वेदों के भाष्यकार भाग के पृष्ठ १६३-१६५ के लेख का संक्षेपमात्र है ।

भूलें—इनके ग्रन्थ में अनेक ऐसी भूलें हैं जो मूल ग्रन्थों के स्वयं परिशीलन करने वाले लेखकों से नहीं हो सकतीं । यथा—

क. पृष्ठ ७९ पर—यजुर्वेद की १०० शाखाओं...। यजुर्वेद की १०१ शाखाएं हैं । १०० नहीं । शास्त्री जी महाभाष्य के एकशतमध्वर्युशाखाः वचन का अर्थ नहीं समझे ।

ख. पृष्ठ ८० पर—पतञ्जलि के मत से ११३०...। पतञ्जलि के मत में ११३१ शाखाएं हैं । भूल का कारण ऊपर दर्शा चुके हैं ।

ग. पृष्ठ ८४ पर—(कठ कपिष्ठल शाखा) सम्भवतः आज तक प्रकाशित नहीं हुई है ।

कठ कपिष्ठल शाखा सन् १९३२ में लाहौर से प्रकाशित हो चुकी है ।

८. श्री देवदत्त शास्त्री का भारतीय वाङ्मय की भूमिका नामक ग्रन्थ (सं० २०११=सन् १९५४) प्रकाशित हुआ है । उनके 'भूमिका के नाम पर' शीर्षक वक्तव्य से ऐसा आभास मिलता है कि इस पुस्तक में लिखे गए प्रायः सभी अंश उनके निजी परिश्रम का फल हैं (पृष्ठ २) । परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है । उन्होंने अपने ग्रन्थ में हमारे ग्रन्थों से विपुल सामग्री अविकल तथा संक्षिप्त रूप में ली है । यथा—

क. भारतीय वाङ्मय की भूमिका पृष्ठ ३०–३५ तक जो कुछ लिखा है, वह हमारे कल्याण, गोरखपुर के हिन्दु-संस्कृति नामक विशेषाङ्क (माघ सं० २००६=जनवरी १९५०) में मुद्रित आर्यवाङ्मय नामक लेख (पृष्ठ २५०-२५५) का अविकल संक्षेप है ।

ख. पृष्ठ ६५ पर रामायण के सम्बन्ध में जो लिखा है, उसमें हमारे 'भारतवर्ष का इतिहास' ग्रन्थ से कई पंक्तियां संक्षिप्त रूप में ले ली हैं ।

इसी प्रकार अन्य प्रकरणों में भी हमारे ग्रन्थों से सामग्री ली है, परन्तु हमारे ग्रन्थ का निर्देश

कहीं नहीं किया ।[1] हृदय की स्वच्छता का आग्रह है कि जो अनुसन्धानात्मक सामग्री जिसके ग्रन्थ से ली जाए, उसका निर्देश किया जाए ।

९. पं० बलदेव उपाध्याय ने वैदिक साहित्य और संस्कृति (माघ सं० २०११ = सन् १९५५) में अनेक अंश हमारे 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' से लिए हैं, परन्तु उन्होंने अनेक स्थानों पर हमारे ग्रंथ का निर्देश नहीं किया । यथा—

क. पृष्ठ १०० पर लौगाक्षि स्मृति का उल्लेख किया है । ध्यान रहे कि इसका हस्तलेख केवल हमारे पास था ।

ख. पृष्ठ ३२१ पर निरुक्तवार्तिक विषयक लेख ।

निरुक्तवार्तिक ग्रन्थ का सर्व प्रथम परिचय हम ने ही दिया था, यह ऊपर लिख चुके हैं ।

भूलें मूल ग्रन्थों का स्वयं अनुशीलन न करने से इनके ग्रन्थ में भी कई भयानक भूलें हो गई हैं । यथा—

क. पृष्ठ १०३—यजुर्वेद की १०० शाखाओं...।

सम्भव है पं० बलदेव उपाध्याय ने यह पंक्ति पूर्व-निर्दिष्ट पं० रजनीकान्त शास्त्री के वैदिक साहित्य परिशीलन (पृष्ठ ७९) से ली हो । इस भूल का निर्देश ऊपर कर चुके हैं ।

ख. पृष्ठ ३२१ पर—निरुक्त-निचय—इस ग्रंथ...एक सौ श्लोकों की स्वतन्त्र व्याख्या है ।'

इस लेख में दो अशुद्धियां हैं । प्रथम — ग्रन्थ का नाम ' निरुक्त समुच्चय' है, 'निरुक्त निचय' नहीं । दूसरी - इस ग्रन्थ में १०० मन्त्रों की व्याख्या है, श्लोकों की नहीं । प्रतीत होता है, ग्रन्थकार ने बिना ग्रन्थ का अवलोकन किए ये पंक्तियां लिखी हैं ।

१०. चतुरसेन—नामक त्रैमासिक (निदाघ सं० २०१२ = १९५५) के 'राम' शीर्षक लेख पृष्ठ १७, १७, १८ पर कई पंक्तियां तथा प्रमाण हमारे भारतवर्ष का इतिहास' (संस्क० २) पृष्ठ २ तथा 'भारत वर्ष का बृहद इतिहास' पृष्ठ ७७, ७८ से प्रतिलिपि किए हैं ।

११. धर्मयुग — इसी प्रकार धर्मयुग नामक साप्ताहिक पत्र में गत वर्ष हमारे 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' प्रथम भाग के चन्द्रगुप्त मौर्य के काल विषयक सम्पूर्ण तर्कों का संक्षेप छपा । लेखक ने उसे अपनी खोज के रूप में छपवाया ।

इसके विपरीत श्री० टी० आर चिन्तामणि, श्री के० एम० शर्मा, श्री हरिहर नरसिंहाचार्य और पेरिस के अध्यापक श्री लूई रेनो आदि ने स्पष्ट हमारे ग्रन्थों और हमारे विचारों का उल्लेख करते हुए हमें अनुगृहीत किया ।

रेनो जी ने जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, भाग १८, सन् १९५० के लेख में शाखाओं का उल्लेख करते हुए लिखा —

After Bhagavaddatta who has written in Hindi a primary history of Vedic schools, I have myself undertaken the task in a book recently published.

अपने शाखा-विषयक पुस्तक (सन् १९४७) के आरम्भ में उन्होने स्पष्ट मेरे ग्रन्थ के प्रति आभार माना है ।

एक आश्चर्य की बात और है । सन् १९४२ में पूना से **Progress of Indic Studies** (1917-1942) नामक ग्रन्थ छपा । उसमें वैदिक अध्ययन का इतिवृत्त प्रथम स्थान पर छपा है । उसमें जहां हमारे वैजवाप गृह्य (पृष्ठ १२), माण्डूकी शिक्षा (पृष्ट १८) और पञ्चपटलिका (पृष्ठ १९) के संस्करणों का उल्लेख है, वहां हमारे वैदिक वाङ्मय का नाम मात्र नहीं । इसे भूल समझें, वा पाश्चात्य प्रभाव के कारण अवहेलना का संस्कार, इसे लेखक डाण्डेकर स्वयं समझें ।

१. भारतीय वाङ्मय की भूमिका पृष्ठ ५६–६० तक का 'व्याकरण शास्त्र' शीर्षक लेख पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी के 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग अध्याय २ से संक्षेप किया गया है ।

अब वैदिक वाङ्मय के विषय में नए गन्थों में प्रकाशित मतों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

I. इन्हीं दिनों (सन् १९५६) 'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस के लेखक डा० मङ्गलदेवजी शास्त्री हैं। इस पुस्तक में पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है। भारतीय वाङ्मय के काल क्रम का लेखक को अणुमात्र ज्ञान नहीं। उन्होंने मिथ्या भाषा मत के आधार पर जो प्राग्वैदिक काल (पृष्ठ १३) माना है, उस का इतिहास में साक्ष्य नहीं। इस पुस्तक में कई भूलें अक्षन्तव्य हैं। उदाहरणार्थ यथा—

१ संस्कृत वाङ्मय के ब्राह्मण, उपनिषद् आदि अनेकानेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन पर उन के कर्त्ताओं के नाम नहीं मिलते। इसी लिए उनके विषय में पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व का विवाद चिर काल से चला आया है। पृष्ठ २३३।

२. संस्कृत साहित्य में एक ही ग्रन्थ के अनेक संस्करणों का जो वेदों के समान नहीं हैं, प्रायः उल्लेख मिलता है, जैसे मनुस्मृति, वृद्ध मनुस्मृति आदि। पृष्ठ २३४।

समीक्षा—ब्राह्मण और उपनिषद् आदि ग्रन्थ प्रोक्त ग्रन्थ हैं। इन में कर्तृत्व है ही नहीं। तब इन के साथ कर्ता का नाम कैसे जोड़ा जा सकता है। प्रवचन ग्रन्थ होने से प्रवक्ता का नाम इन के साथ सम्बद्ध है। डाक्टर जी ने उपर्युक्त शब्द यास्क, पाणिनि और औदव्रजि[1] निर्दशित प्रोक्त अथवा प्रवचन शब्द का अभिप्राय समझे बिना निराधार कल्पना से लिखे हैं।

डाक्टर जी का दूसरा लेख भी ऐसा ही निराधार है। डाक्टर जी को ज्ञात होना चाहिए कि एक एक ग्रन्थकार ने एक एक विषय पर बृहत्, मध्यम और लघु अथवा बृहत् लघु बहुविधि ग्रन्थ लिखे हैं। उदाहरणार्थ वाग्भट्ट, प्रभाकर, कुमारिल और नागेश भट्ट आदि के ग्रन्थों को देख लें। इसी प्रकार यदि मानव धर्मशास्त्र के वृद्ध और साधारण दो पाठ हों तो उस में कोई आश्चर्य नहीं।

इसी प्रकरण में डाक्टर जी लिखते हैं—'शौनक के नाम से प्रसिद्ध बृहद्देवता में शौनक की ही सम्मति अनेक स्थानों पर उद्धृत की गई है' (पृष्ठ २३४)। अर्थात् बृहद्देवता शौनक का नहीं है। यह लंगड़ा लेख भी वैसा ही है जैसा कि पाश्चात्य लोग अर्थशास्त्र में कौटल्य का नाम आ जाने से, अर्थशास्त्र कौटल्य का नहीं, ऐसा लिखते हैं। वस्तुतः डाक्टर जी का अधिकांश लेख प्रमाण-रहित तथा कल्पनाओं का संग्रह-मात्र है।

II. सन् १९५५ में श्री ए० डी० पुसल्केर ने—**Studies in The Epics and Puranas**, एक ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। उसमें लिखा—**The Rigveda as we have it is a Kuru-Panchala product, (p.lxv)**

Influence of Prakritic tendency is found even in Vedic texts (p 27)

The last argument regarding irregular and double sandhis has been answered by Dr. Keith by stating that they are simply instances of careless Sanskrit, which are not rare in Sanskrit (p. 28)

ऐसे लेख लेखक के अति अधूरे ज्ञान को प्रकट करते हैं। संस्कृत भाषा का इतिहास जाने बिना अधूरी संस्कृत पढ़ा व्यक्ति ऐसा ही लिखेगा।

योरोप और भारतीय विचार में भूतलाकाश का अन्तर ईस्वी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी में योरोप के लेखकों के हृदय में एक विशेष भाव काम करता रहा। वह भाव था क्रमिक विकास (Development) का। आज तक भी यही विचारधारा उनके मनों पर प्रभाव जमाए बैठी है। सत्य इसके विपरीत है। सतयुग में मानव मस्तिष्क में विकास हुआ। वह संसार के इतिहास का ऊषा काल था।

---

१. अनेक लेखकों के मतानुसार सामवेदीय पुष्पसूत्र औदव्रजि आचार्य का है। उस में लिखा है - 'कालवविनामपि प्रवचनविहितः स्वरः स्वाध्याये' (८/८) इस पर पुरातन टीकाकार अजातशत्रु लिखता है - 'प्रवचनशब्देन ब्राह्मणमुच्यते। प्रोच्यत इति प्रवचनम्।'

संसार का स्वच्छ मण्डल उसमें सहायक था। त्रेता से पृथिवी मण्डल अनेक रूपों में दूषित होने लगा। विशेषकर विचार-तरङ्गों के कारण। तब से आज तक प्रायः बहुविध ह्रास ही ह्रास हुआ। हमारा ग्रन्थ इस बात का साक्ष्य उपस्थित करता है। वाङ्मय में और उसके अन्तर्गत स्वर-पूर्वक उच्चारण के क्षेत्र में जो परम उन्नत प्रकार पहले था, वह आज सम्पूर्ण संसार में दृष्टिगोचर नहीं होता। विज्ञान के विषय में हम अन्यत्र लिखेंगे।

अत एव सर्वत्र विकास ढूंढने वाले को अपना विश्वास बदलना पड़ेगा। वस्तुतः सामूहिक विचार-विकास की रट एक रोग है, जिस के कारण पाश्चात्य लेखक और उन के उच्छिष्ट-भोजी अनुगामियों ने प्राचीन इतिहास को कलुषित किया है। इस ग्रन्थ को पढ़ने वाले अपना अध्ययन विस्तृत करके इस सत्य की परीक्षा करें।

इस संस्करण के प्रथम तीन तथा मध्य ८, ९ और १३ अध्याय सर्वथा नए हैं। अन्य पुराने अध्यायों में भी कहीं परिवर्धन तथा संशोधन हुआ है। इस प्रकार यह संस्करण पूर्वापेक्षया पर्याप्त परिवर्धित तथा परिष्कृत है।

इस संस्करण के छपने में मित्रवर श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का विशेष उत्साह-प्रदर्शन है। श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने तो इस के परिवर्धन तथा संशोधन में पूरा सहयोग दिया है। श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर ने इस के मुद्रण का भार स्वीकार करके मेरा भार बटाया है। श्री बाबू प्रीतम चन्द्र जी कमलानगर, देहली ने इस के संशोधन-व्यय में ५००) पांच सौ रुपयों की बड़ी सहायता देने की कृपा की है। मैं इन सब का हृदय से आभारी हूं।

१ अगस्त १९५६, बुधवार
पूर्वी पटेल नगर, नई दिल्ली

भगवद्दत्त

प्रथम अध्याय

वेद-वाक् तथा संस्कृत-भाषा

प्रयोजन—अगणित शतियां चली गयीं। काल व्यतीत होता गया। किसी भी भारतीय विद्वान् को सन्देह नहीं हुआ कि वेद सृष्टि के आदि में प्रकाशित नहीं हुए तथा संस्कृत पुराकाल में संसार-मात्र की भाषा नहीं थी। वर्तमान युग में पश्चिम के कथित-विद्वानों ने यह मत चलाया कि "लोक-भाषा संस्कृत, वेदकाल के बहुत पश्चात् प्रयुक्त हुई तथा वेद-वाक् पुरानी बोलियों का रूपान्तर है।' ऐसे मत सुन्दर शब्दों में प्रकट किए गए और कतिपय पाठकों को रुचिकर भी लगे। पर थे ये मत कल्पित और तर्क-शून्य। तथापि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के एकदेशीय होने के कारण वर्तमान शिक्षा प्राप्त अनेक भारतीय विद्वानों के हृदयों में इन विचारों ने सन्देह उत्पन्न कर दिए। इन मिथ्या विचारों के निराकरण और परम्परागत विषय में इतिहास सिद्ध यथार्थ पक्ष को उपस्थित करने के लिए वैदिक वाङ्मय का इतिहास लिखा जाता है।

आर्य परम्परा—आर्य परम्परा में सृष्टि-आरम्भ से यह तथ्य सुरक्षित रहा है कि वेद-वाक् दैवी-वाक् है। यह वाक् मानव की उत्पत्ति से बहुत पूर्व अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ देवों और ऋषियों अर्थात् ईश्वर की भौतिक विभूतियों द्वारा प्रकट हो चुकी थी। ओम्, अथ, व्याहृतियां और मन्त्र हिरण्य-गर्भ आदि से तन्मात्रारूप वागिन्द्रिय द्वारा उचारे जा चुके थे। वह वाक् क्षीण नहीं हुई, परम व्योम आकाश में स्थिर रही। मानव सृष्टि के आरम्भ में जब ऋषियों ने आदि शरीर धारण किए, तो वह दैवी वाक् ईश्वर प्रेरणा से उनमें प्रविष्ट हुई। उसे उन्होंने सुना। इस कारण वेद-वाक् का एक नाम श्रुति है। उसी काल में वेद-शब्दों के आधार पर ऋषियों ने व्यवहार की भाषा को जन्म दिया। ब्रह्मा, स्वायम्भुव मनु[1] और सप्तर्षि आदि ऋषियों के उपदेश, आगम-ग्रन्थ तथा मूल सिद्धान्त उसी व्यवहार की भाषा में थे।

---

१ श्री पाण्डुरंग वामन काणे सदृश लेखक विवेचनात्मक अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुंचा कि अनुष्टुप छन्द में आमूलचूल लिखे गए ग्रन्थ आवश्यक नहीं कि सूत्रों के उत्तरवर्ती हों। वह लिखता है—

The present writer does not subscribe to the views of Max Muller (H.A.S.L. p. 68) and others that works in continuous anushṭubh meter followed sūtra works. (Kāṇe, History of Dharmaśāstra, Vol. I, p. 10)

काणे, मैक्समूलर आदि द्वारा प्रतिपादित मत कि "आद्यान्त अनुष्टुप छन्द में लिखे गये ग्रन्थ, सूत्र ग्रन्थों के उत्तरवर्ती हैं," नहीं मानता है।

उपलब्ध धर्म-सूत्रों में प्राचीन श्लोक-बद्ध धर्म-शास्त्रों के शतशः वचन यत्र-तत्र उद्धृत हैं। इसके विपरीत किसी भी प्राचीन श्लोक-बद्ध धर्मशास्त्र में धर्मसूत्रों के वचन उद्धृत नहीं हैं। अतः गौतम और आपस्तम्ब आदि के धर्मसूत्र, भृगु-प्रोक्त आमूलचूल अनुष्टुप छन्दोबद्ध मानव धर्म-शास्त्र के उत्तरवर्ती हैं। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य लेखक कितनी निर्मूल कल्पनाएं करते हैं, यह स्पष्ट है।

आश्चर्य है कि उनके कतिपय अंश अब भी सुलभ हैं।[१] वह भाषा आदि में मानव-मात्र की भाषा थी और थी अत्यन्त विस्तृत और समृद्ध। तब भूमि पर ब्राह्मण ही था। इसलिए वह भाषा शिष्ट-भाषा थी, ग्रामीण बोली न थी। उसमें उच्चारण की परम सावधानता थी। दीर्घ काल के पश्चात्, संसार में लोभ के कारण कुछ अधर्म प्रवृत्त होने लगा। उस समय क्षत्रिय आदि वर्ण बन चुके थे। उच्चारण के भेद आरम्भ हो गए थे। इसके बहुत उत्तर काल में देश, काल, परिस्थिति के भेद, उच्चारण शक्ति की विकलता और अशक्तिजानुकरण आदि के कारण उस व्यावहारिकी संस्कृत भाषा के विकार म्लेच्छ भाषाओं प्राकृत और अपभ्रशों में प्रकट हुए, अर्थात् अतिप्राचीन व्यवहार की मानव-वाक् अथवा पाणिनि से सहस्त्रों वर्ष पूर्व की संस्कृत भाषा संसार की सम्पूर्ण भाषाओं की जननी है। उस काल में अनेक क्षत्रिय जातियां शूद्र और म्लेच्छ बन चुकी थीं। मिश्र, पितर देश, काल्डिया, ईरान के असुर, यूनानी तथा अरब के लोग उन्हीं प्राचीन क्षत्रिय जातियों की सन्तान में से हैं। उन सब की भाषाएं इसी तथ्य का संकेत करती हैं। इस से बहुत काल के पश्चात् भारत-युद्ध हुआ। उसके दो सौ वर्ष पश्चात् पाणिनि ने उस भाषा के अपने काल में अवशिष्ट तथा प्रचलित अति-संकुचित रूप का अपने व्याकरण में अनुशासन किया। यह पाणिनि-निर्दिष्ट भाषा आज तक ग्रन्थों और शिष्टों में व्यवहृत रही। पाणिनि-निर्दिष्ट भाषा और उस से पूर्व की भाषा में जो भेद प्रतीत होता है उसका कारण भाषा का ह्रास अर्थात् बहुविध शब्दों और उनके अर्थों का लुप्त तथा संकुचित होना है।

प्रतिज्ञा—गम्भीरतम प्राचीन मत का यह सार संक्षेप है। भाषा की उत्पत्ति और भाषा के उत्तरोत्तर इतिहास का यह एक मात्र वैज्ञानिक पक्ष औपमन्यव, औदुम्बरायण, यास्क, द्वैपायन व्यास, व्याडि, उपवर्ष, पाणिनि, पतञ्जलि और भर्तृहरि को सर्वथा ज्ञात था। भर्तृहरि के पश्चात् गत दो सहस्र वर्षों में यह लुप्त-प्राय: रहा। अब पुन: उसी तर्कयुक्त प्राचीन पक्ष का स्पष्टीकरण और विपरीत मतों का निराकरण किया जाता है।

संसार की प्राचीन जातियों का मत—मिश्र और यूनान आदि के अति प्राचीन लोग देवों और उनकी विभूतियों को थोड़ा सा समझते थे। देव-ज्ञान और अधिभूत-ज्ञान[२] की थोड़ी सी मात्रा उनके पास आ रही थी। उनके पुराने विद्वान् दैवी और मानुषी वाक् का भेद कुछ-कुछ समझते थे।

(क) मिश्र के प्राचीन विश्वास के विषय में मर्सर लिखता है—

Egyptians had their 'sacred writing'......'writings of the words of the gods' often kept in a "house of sacred writings."[3]

---

१ हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के योगशास्त्र के दो श्लोक विष्णुपुराण २।१३।४२-४३।। में उद्धृत हैं :—

सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिञ्च विन्दति ।।४२।।
तस्माच्चरेत् वै योगी सतां मार्गमदूषयन्।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ।।४३।।

दो अन्य श्लोक सनत्सुजात शांकरभाष्य २।४१ तथा ४२ पर उद्धृत हैं। ब्रह्म-गीत गाथाएं महाभारत शान्तिपर्व में २७०।१० से आगे उद्धृत हैं।

२ तुलना करें, निरुक्त पर दुर्गवृत्ति १३।९

3 p.12, The Religion of Ancient Egypt, Mercer. S.A.B., 1949

अर्थात् मिश्र के लोग अपने पवित्र लेख रखते थे। 'देवों के शब्दों का लेख' जिसे वे प्रायः 'पवित्र लेखों का घर' में रखते थे।

(ख) मिश्री विद्वान् इस लेख के लिए ndw-ntr (न्द्व-न्त्र[1]—the speech of the gods) शब्द प्रयुक्त करते थे। निस्सन्देह मिश्री भाषा के 'न्द्व' पद में 'द्व' शब्द देव शब्द का संकेत करता है और 'न्त्र' पद वाग्वाची वैदिक शब्द 'मन्द्रा' का बोध कराता है। अर्थात् मिश्री लोग देवों की वाणी को 'देवमन्द्रा' कहते थे। मिश्री 'न्द्व-न्त्र' का जो मूल रूप होगा वह देवमन्द्रा के अधिक समीप होगा।

(ग) यूनान का प्रसिद्ध प्राचीन लेखक होमर (ईसा से ८०० वर्ष पूर्व ?) 'देवों की भाषा और मानवी भाषा' का वर्णन अपने लेख में करता है—The language of gods and of men.[2]

अरस्तू देवों आदि के विषय को पूरा नहीं समझ पाया।[3] तत्पश्चात् देवविद्या योरोप से सर्वथा विलुप्त हो गई।

मिश्र और यूनान के प्राचीन ग्रन्थकारों ने "देवों की वाक्" वा "देवमन्द्रा" शब्द भी प्राचीन आर्यों से लिए हैं। यह कल्पना कि उन्होंने स्वतन्त्र ऐसा लिखा भ्रम मात्र है।

इसी तथ्य को तारापुरवाला ने निम्नलिखित शब्दों में दोहराया है—

The ancient peoples all ascribed their speech to the gods.[4]

जो वाक् की उत्पत्ति का वास्तविक मत वेदों से मिश्र और यूनान आदि ने लिया उसे अणुमात्र न समझ कर हर्डर[5] आदि ने जो कल्पित पक्ष खड़े किए, उनका निदर्शन आगे होगा।

पाश्चात्य मत—अब नवीन कल्पनाओं और यत्किंचित् परीक्षणों का युग योरोप में आरम्भ हुआ। इसे scientific age वा विज्ञान युग का नाम दिया गया। महान् आत्मा के अस्तित्व को माने बिना भौतिक आधार-मात्र द्वारा सब बातें समझ में आएं, यह इस युग की नस-नस में रम रहा था। इस रुचि के अनुसार गत दो शतियों में योरोप के कुछ लोगों ने विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ किया। प्राचीन इतिहास को अणुमात्र न जानते हुए, उन्होंने लिखा—

The chief innovation of the beginning of the nineteenth century was the historical point of view.[6]

जब पाश्चात्य लोगों के पास संस्कृत पहुंची तो उन में से कई एक ने मुक्त-कण्ठ से कहा कि संस्कृत योरोपीय भाषाओं की जननी है। उस से संसार के पुरातन इतिहास पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ेगा। फ्राईड्रिश श्लेगल ने इन्हीं भावों का ओजस्वी शब्दों में उल्लेख किया—

---

1 p. 87, The Story of Language, Mario Pai

2 pp. 299-303, Asianic Elements in Greek Civilization, Ramsay

3 pp. 983 B, 997 B, 1000A, Book A-3, Vol. VIII, Metaphysics, The Works of Aristotle, Eng. tr., Oxford, 1948

4 p.10, Elements of the Science of Language, 1951

५ तुलना करें Herder's Schriften, Vol IX, p. 207, 1807; मैक्समूलर कृत हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५ पर उद्धृत।

6 p.32, Language: its nature, development and origin, Otto Jesperson, 1950

"F. Schlegel......, wrote that he expected nothing less from India than ample information on the history of the primitive world, shrouded hitherto in utter darkness.[1]

अर्थात्—फ्राईड्रिश श्लैगल ने लिखा कि वह भारत से एक महती आशा रखता है। भारत द्वारा, अब तक पूर्ण अन्धकार-आवृत संसार के पुरातन इतिहास का ज्ञान मिलेगा।

फ्रान्स बाप (१७९१-१८७६) ने लिखा है :—

"I do not believe that the Greek, Latin and other European languages are to be considered as derived from the Sanskrit in the state in which we find it in Indian books; I feel rather inclined to consider them altogether as subsequent variations of one original tongue, which, however, the Sanskrit has preserved more perfect than its kindred dialects."[2]

अर्थात्—जिस रूप में वर्तमान भारतीय ग्रन्थों में संस्कृत उपलब्ध है, उस से ग्रीक, लैटिन अथवा अन्य योरोपीय भाषाएं निकलीं, इसमें मेरा विश्वास नहीं। मैं यह विचार रखता हूं कि ये सब एक मूल-भाषा की रूपान्तर हैं, जिसे संस्कृत ने अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा है।

यह बात ईसाई पादरियों और ईसाई संस्कृताध्यापकों को रुचिकर न हुई। उन्होंने बाप सदृश विद्वान् पर भी आक्षेप किया कि वह संस्कृत को योरोपीय भाषाओं की माता सिद्ध कर रहा है। भयभीत बाप को लिखना पड़ा—

I cannot, however, express myself with sufficient strength in guarding against the misapprehension of supposing that I wish to accord to the Sanscrit universally the distinction of having preserved its original character. I have, on the contrary, often noticed in the earlier portions of this work and also in my system of conjugations and in the Annals of Oriental Literature for the year 1820, that the Sanscrit has, in many points, experienced alterations where one or other of the European sister idioms has more truly transmitted to us the original form.[3]

अर्थात्—मेरे पास पर्याप्त शक्ति नहीं कि मैं उस धारणा की भ्रान्ति के विपरीत सावधान करूं कि मैं व्यापक रूप से संस्कृत को मूल-भाषा के मूल-रूप को सुरक्षित रखने वाला समझता हूं। मैंने सन् १८२० में भी लिखा था कि अनेक स्थानों पर संस्कृत में बहुत परिवर्तन हो गया है और उन्हीं स्थानों पर दूसरी योरोपीय भाषाओं ने सत्यता से मूल-रूप को हम तक अधिक सुरक्षित पहुंचाया है। इति।

बाप ने स्वीकार किया कि योरोपीय भाषाओं के उच्चारण में ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' का भारतीय संस्कृत में लिपि की अपूर्णता से 'अ' मात्र रहा। अन्त में ग्रिम के प्रभाव से उसने संस्कृत के 'अ'

1 p. x, Appendix I, A Second Selection of Hymns from the Rigveda, Zimmerman, 1939

2 p. 48, पर उद्धृत, Language : its nature, development and origin, Otto Jesperson 1950

3 p. 709, Vol. II, Comparative Grammar of Greek, etc., 1845

'इ' 'उ' को मूलस्वर माना और गाथिक, ग्रीक आदि के ह्रस्व 'ए' और 'ओ' को उनका ध्वनि विकार। वाप लिखता है—संस्कृत 'अ' ग्रीक में अर्ध अ, ए, ओ, हो गया।[1]

श्री बाबूराम सक्सेना को यह सत्य अखरा और उन्होंने लिखा कि यह दुर्भाग्य की बात थी।[2]

भाषा-अध्ययन के क्षेत्र में डैनमार्क निवासी रास्क (सन् १७८७-१८३२) आगे आया। उसने अनेक तर्कहीन बातें प्रारम्भ कीं। उसके अनुसार द्राविड़ भाषाएं संस्कृत से सम्बन्ध नहीं रखतीं। अरविन्द घोष ने लिखा है कि द्राविड़ भाषाएं भी संस्कृत से ही निकली हैं। महाभारत अनुशासन पर्व ६१।२२ तथा १४६।१७ में द्राविड़ पुराने क्षत्रिय कहे गए हैं। भारतीय इतिहास के अति पुरातन होने का भय योरोपीय लेखकों को आरम्भ से लग रहा था। मार्ग निकलता न देखकर उन्होंने लिखना आरम्भ किया कि भारत में इतिहास लिखा ही नहीं गया। आर्य लोग भारत में बाहर से आए। उनका भारत आगमन ईसा से २५०० वर्ष पूर्व से अधिक पूर्व का नहीं है। डार्विन के प्रसिद्ध विकास मत ने उन्हें सहायता दी।

इन कल्पनाओं का आधार सर्वथा अपूर्ण और निराधार 'भाषा-विज्ञान' पर रखा गया। विज्ञान का गन्ध मात्र न रखने वाले तर्क-हीन मतों को विज्ञान का नाम दिया गया, और इस प्रकार सिद्ध करने का यत्न किया गया कि एक मूल योरोपीय (इण्डो-योरोपीय) भाषा थी। संस्कृत उसकी दूसरी पीढ़ी में उत्पन्न हुई। सन् १९१५ से हित्ती भाषा का अध्ययन अधिक हुआ। इसके इतिहास को भी कल्पित रंग में रंगा गया। तब संस्कृत को भारोपीय भाषा-वर्ग की तीसरी पीढ़ी में कर दिया गया।

एतन्मत परीक्षा—वेद की शाखाओं का इतिहास लिखने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि योरोप के अहंमन्य अध्यापक-ब्रुवों के इस 'भाषा विज्ञान' की कुछ परीक्षा की जाए। इस कथित 'भाषा-विज्ञान' के अतिव्याप्ति और अव्याप्ति-दोषपूर्ण कल्पित नियमों की समालोचना करने से पूर्व 'दैवी-वाक् और मानुषी वाक् का भेद तथा संस्कृत ही सृष्टि के आरम्भ में सतद्वीपा वसुमती की व्यावहारिकी भाषा थी' इन विषयों को जान लेना अत्यावश्यक है।

यद्यपि इस इतिहास के ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग[3] तथा भारतवर्ष का बृहद इतिहास[4] में इस पृथ्वी पर लोकभाषा और वेद-वाक् की समकालिकता के कतिपय तर्क दिए थे, तथापि उत्तरवर्ती रीनो और बरो आदि योरोपीय तथा बटकृष्ण घोष आदि उनके अनुयायियों ने उनका स्पर्शमात्र नहीं किया और अपनी रट लगाते रहे। उनके अधूरे ज्ञान की यही अभिव्यक्ति है।

अब हम इस विषय पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डालने वाली सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

दैवी-वाक्

संसार की पुरातन जातियों ने उपरिलिखित दैवी-वाक् का जो सिद्धान्त ग्रहण किया वह शुद्ध वैदिक सिद्धान्त है। इसे समझने के लिए दैवी-वाक् और देवों के स्वरूप को, जिसके विषय में योरोप ने अनेक भ्रान्तियां फैलाई हैं, यत्किंचित् समझना अत्यावश्यक है।

---

1 p. XIII, Preface, वही

२ पृ० १५०, सामान्य भाषाविज्ञान, संस्करण चतुर्थ, २०१०

३ पृष्ठ ९८-१०१, भगवद्दत्त तथा सत्यश्रवा, देहली, १९७४

४ पृष्ठ ४२-५५ तथा ७२-७६, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, भगवद्दत्त, दिल्ली, २०१८

भाषा की उत्पत्ति का आर्षवाद

१. भर्तृहरि और वाक् सिद्धान्त—महान् वैयाकरण और व्याकरण-आगम के उद्धारक भर्तृहरि (लगभग प्रथम शती विक्रम) ने अपने बहुमूल्य ग्रन्थ वाक्यपदीय के आगम काण्ड का आरम्भ निम्नलिखित श्लोक से किया है—

अनादि-निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।

अर्थात्—अनादि और निधन-रहित, अविनाशी शब्दतत्व रूप जो ब्रह्म है, वह अर्थ के भाव से विवर्त को प्राप्त होता है, उससे जगत् की प्रकिया निकली । शतपथ ब्राह्मण में विस्तृत वर्णन है—

विश्वकर्म ऋषिरिति । वाग्वै विश्वकर्मर्षिर्वाचा हीदं सर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मर्षिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापति सृष्टया त्वयेत्येतद्वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः इति वाचमुपरिष्टात्प्रापादयत नानोपदधाति ये नानाकामा वाचि तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकां तद्वाचं करोत्यथ यन्नानासादयेद्वाचः ह विच्छिन्द्यात्सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः ।। ८।१।२।९।।

इस का भाव यह है कि शब्द-ब्रह्म अनादि है । ऐतरेय ब्राह्मण में भी यही भाव अभिव्यक्त है—न वै वाक् क्षीयते ।[1] अर्थात्—वाक् नष्ट नहीं होती ।

आगम काण्ड की समाप्ति पर सूक्ष्म-दार्शनिक भर्तृहरि उपसंहार के रूप में लिखता है—

दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयम् अशक्तैरभिधातृभिः ।
अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः ।।१५५।।[2]

अर्थात्—यह दैवी वाक् (बहुरूपों में) बिखरी, अशक्त बोलने वालों के कारण (अर्थात् बोलने वालों की सामर्थ्य-हीनता से बहुविध अपभ्रंशों में बिखरी) । (वाक् को) अनित्य मानने वालों का इस वाद में बुद्धि का विपर्यास है ।

आदि सृष्टि से लेकर कृत युग के अन्त तक संसार की वाक् शुद्ध थी । तत्पश्चात् बोलने वालों की अशक्ति के कारण प्राकृतों का प्रादुर्भाव हुआ ।

२. व्याडि और दैवी वाक्—भर्तृहरि से पूर्व व्याडि ने दैवी वाक् के विषय में क्या लिखा था, यह अज्ञात है । था व्याडि भी शब्दब्रह्मवादी । कृष्णचरित में महाराज समुद्रगुप्त ने लिखा है—

रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः ।।१६।।

अर्थात्—आचार्य व्याडि शब्दब्रह्मैकवाद का प्रतिपादक था ।

३. शौनक और सौरी वाक्—व्याडि के समकालिक शौनक मुनि (विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व) ने अपने बृहद्देवता ४।११२-११४ में सौरी वाक् का विलक्षण प्रकार से वर्णन किया है—

सौदासस्य महायज्ञे शक्तिना गाथिसूनवे । निगृहीतं बलाच्चेतः सोऽवसीदद् विचेतनः ।।
तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम् । सूर्यक्षयाद् इहाहृत्य ददुस्ते जमदग्नयः ।।
कुशिकानां ततः सा वाग् अमतिं तामपाहनत् ।

---

१ ५।१६
२ तुलना करें—शब्दस्य परिणामोऽयम् इत्याम्नायविदो विदुः ।
छन्दोभ्य एव प्रथमम् एतद् विश्वं व्यवर्तत ।।१।१२१।। वाक्यपदीय ।

अर्थात् —सोदारा के महायज्ञ में (वसिष्ठ पुत्र) शक्ति द्वारा गाथि-पुत्र (विश्वामित्र) के चित्त के बलपूर्वक निगृहीत होने पर, वह गाथिपुत्र संज्ञा-हीन होकर गिरा। उस (विसंज्ञ) के लिए ब्राह्मी अथवा सौरी नाम की ससर्परी[1] वाक् को, सूर्य-ग्रह से पृथ्वी पर लाकर उन जमदग्नियों ने उस के लिए दिया। उस वाक् ने कुशिकों की उस अमति (संज्ञा-हीनता) को नष्ट कर दिया।

ब्राह्मी अथवा सौरी नामिका ससर्परी वाक् सूर्यगृह से पृथ्वी पर कैसे लाई गई, यह नष्ट चेतना को किस प्रकार हटाती है, जमदग्नियों ने किस प्रकार प्रेम के कारण विश्वामित्रों को चेतना युक्त कर दिया, इन गम्भीर विषयों के स्पष्टीकरण का यह स्थान नहीं है। ये श्लोक यहां इसलिए उद्धृत किए गये हैं कि जिस वाक् को अन्यत्र देवी अथवा दैवी कहा गया, उसे ही यहां ब्राह्मी अथवा सौरी कहा है।

सौरी का अर्थ—सौरी का अर्थ है, सूर्य अर्थात् सुरों में से एक अर्थात् देवों की। देवों की वाक् होने से इसे दिव्य-वाक् भी कहते हैं।

४. आपस्तम्ब और दैवी वाक्—आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का वचन है—

अथ यजमानो व्रतमुपैति। वाचं यच्छत्यनृतात् सत्यमुपैमि। मानुषाद् दैव्यमुपैमि। दैवीं वाचं यच्छामि ।५।२।८।१।।

इस पर धूर्तस्वामी का भाष्य है—दै (दे) वाभिधानाद् दैविकी-दैवी वाक्। अर्थात्—मानुष वाक् है और दैवी वाक्।

५. व्यास और दिव्या वाक्—महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २३१ में कृष्ण द्वैपायन व्यास (विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व) ने निम्नलिखित श्लोक कहा है :—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

अर्थात्—आदि और निधन रहित नित्य वाक् स्वयंभू ब्रह्मा-प्रजापति ने उत्सृष्ट की। आदि में वेदमयी दिव्य वाक् थी। उस वाक् से संसार की सब प्रवृत्तियां हुईं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय का पूर्वोद्धृत प्रथम श्लोक, इसी श्लोक की छाया पर रचा है।

भाषा-शास्त्र का महान् तथ्य—इस श्लोक में ऐसे वैज्ञानिक तथ्य का संकेत है, जो संसार में अन्यत्र नहीं मिलता। उत्सृष्टा का अर्थ है त्यागी, मुक्त की, बाहर निकाली। यह उत्सृष्टा-वाक् दिव्य अर्थात् देवों की वाक् थी। किस प्रकार के देवों की वाक्, यह आगे स्पष्ट किया जायेगा। इस वाक् को विराट् रूप में स्थित श्री भगवान् ब्रह्मा अथवा प्रजापति-पुरुष ने उत्सृष्ट किया। उसे ही मानुषों के आदि पुरुष ब्रह्मदेव ने पृथिवी पर पुनः प्रकट किया।

६. यास्क और दैवी वाक्—शौनक के पूर्ववर्ती और भारत युद्ध के आस-पास अपने निरुक्त को लिखने वाले उदारधी मुनि यास्क ने लिखा है—**तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्**। अर्थात्—उन (शब्दों) से मनुष्य के समान देवताओं का भी अभिधान अथवा कथन होता है। शब्दों के द्वारा ही इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि आकाशस्थ देवताओं ने कथन किया है।

---

१ लोकों की गति बहुविधा है। पक्षि-सदृश गति करने वाले लोक वयांसि और सर्प-सदृश गति वाले सर्प कहाते हैं, जिनकी वाक् ससर्परी है।

७. ब्राह्मण ग्रन्थ और दैवी वाक्—काठक और मैत्रायणी संहिता (विक्रम से ३२०० वर्ष पूर्व) अन्तर्गत ब्राह्मण पाठों में लिखा है—

देवा वै नानैव यज्ञान् अपश्यन् । इमम् अहम् इमं त्वम् इति ।...अथैतं प्रजापतिः आहरत् । तस्मिन् देवा अपित्वम् ऐच्छन्त । तेभ्यः छन्दांसि उज्जितीः प्रायच्छद् ।...यावन्तो हि देवा सोममपिबन् ते वाजमगच्छन् । तस्मात् सर्व एव सोमं पिपासति । वाग्वै वाजस्य प्रसवः । सा वाग् दृष्टा चतुर्धा व्यभवत् । एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणी, पशुषु तुरीयम् ।

या दिवि सा बृहती सा स्तनयित्नौ । या अन्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये ।
या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे । या पशुषु तस्या यद् अतिरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः ।

तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति दैवीं च मानुषीं च । करोति वाचा वीर्यं य एवं वेद । काठक संहिता १४।५।।[1]

अर्थात्—(आकाशस्थ) देवों ने नाना यज्ञ देखे । इस (यज्ञ) को मैं (करूंगा) इस को तुम । ....फिर इसको प्रजापति ने किया । उसमें देवों ने भाग चाहा । (प्रजापति ने) उन (देवों) के लिए छन्द रूपी विजय को दिया । ....जितने देवों ने सोम (द्युलोकस्थ) आपों का सार पिया, वे वाज=शक्ति अथवा बल को प्राप्त हुए । इसलिए सब सोम को पीने की इच्छा करते हैं । वाणी ही शक्ति का उत्पत्ति-स्थान है । वह वाणी दर्शन में आयी, चार प्रकार से विस्तृत हुई । इन लोकों में तीन-चौथाईयां । पशुओं में एक चौथाई । इसलिए ब्राह्मण दोनों वाणियों को बोलता है, दैवी को और मानुषी को ।

इस लम्बे उद्धरण का यही प्रयोजन है कि इस ब्राह्मण-वचन में भी दैवी वाक् का उल्लेख उपलब्ध होता है । काठक संहिता के पाठ से लगभग मिलता जुलता पाठ मैत्रायणी संहिता १।११।५ में भी दृष्टिगत होता है । इन दोनों पाठों से बहुत कुछ मिलता, पर किसी अन्य ब्राह्मण का सर्वथा स्वतन्त्र पाठ निरुक्त १३।८ में है । यथा—तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति । या च देवानां या च मनुष्याणाम् ।। अर्थात्—इसलिए ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाक् को बोलता है, जो देवों की और जो मनुष्यों की ।

स्पष्ट है कि ब्राह्मण-प्रवक्ता ऋषि, मनुष्यों की वाणी के अतिरिक्त, देवों की वाक् का भी ज्ञान रखते थे । मनुष्यों की वाक् थी लौकिक संस्कृत, और देवों की वाक् थी वेदवाणी ।

८. वैष्णवी वाक्—अधियज्ञ के विचार में एक अन्य तथ्य भी ध्यान देने योग्य है । यज्ञ के समय यजमान और याज्ञिकों के मौन रहने का विधान है—स वै वाचंयम एव स्यात् ।[2] इस रहस्य का आधार स्पष्ट है । यज्ञ मन्त्रों द्वारा सम्पन्न होता है । मन्त्र दैवी-वाक् हैं, उनके द्वारा कर्म की सम्पन्नता के काल में मानुषी वाक् का प्रयोग कर्म का ध्वंसकारी हो जाता है । दो विभिन्न वाक् अन्तरिक्ष में विरोध-जनक होते हैं । अतः यदि यज्ञ में मानुषी वाक् बोले, तो. प्रायश्चित्त-निमित्त दैवी वाक् का जप करे । देवों में विष्णु (=सूत्रात्मा वायु)[3] अन्तिम है । तदुच्चरित ऋक् अथवा यजुरूपी वाक् के बोलने से प्रसंग विशेष में प्रायश्चित्त सम्पन्न होता है । शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

---

१ शतपथ ब्राह्मण ४।१।३।१६।। में भी ऐसा ही भाव है ।

२ १।७।४।१९।। श० ब्रा०

३ तुलना करें मन्त्र संहिता ।१।११।९।। से—तत्रस्थो भगवान् विष्णुः सूत्रात्मेति प्रकीर्तितः ।

स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् । वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत् ॥[1] स्पष्ट है कि आरम्भ से ऋक् और यजुः मानुषी वाक् से भिन्न हैं ।

६. दैवी वाक् और मन्त्र-समाम्नाय—विषय के स्पष्टीकरण के लिए ऋग्वेद के कुछ मन्त्र अथवा मन्त्रांश आगे उद्धृत हैं—

(क) उप यो नमो नमसि स्तभायन् इयर्ति वाचं जनयन् यजध्यै ॥ ४।२१।५॥

अर्थात्—जो (अन्तरिक्षस्थ इन्द्र,लोकों को) उप-स्तभायन्=स्थिर करता हुआ, अन्न को हवि में प्रेरित करता है, वाणी को उत्पन्न करता हुआ, यज्ञार्थ ।

(ख) ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत । ७।१०३।८॥

अर्थात्—ब्राह्मण सोम पीने वालों ने वाणी को दिया ।

(ग) यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥ ८।१००।१०॥

यह मन्त्र निरुक्त ११।२८ में माध्यमिका वाक् के व्याख्यान में उद्धृत है ।

अर्थात्—जब वाणी, बोलती हुई अस्पष्ट—अविज्ञात (पदों) को, राष्ट्री=ईश्वरी मध्यमस्थानी देवों की, बैठी चित्ताकर्षक बोली वाली । चारों (अनुदिशाओं) के अन्न-जल को (इस वाणी ने) दोहन किया । कहां इस (वाणी का) अति सुन्दर रूप (अब) गया ।

स्मरण रखना चाहिए कि इस मंत्र में वाणी को मध्यमस्थानी देवों की राष्ट्री अथवा उन पर राज्य करने वाली कहा है—

(घ) ऋग्वेद के वाक् सूक्त में वाणी स्वयं कहती है—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ १०।१२५।३ ॥

अर्थात्—मैं राष्ट्री, एकत्र करने वाली वसुओं की, ज्ञानवती, प्रथमा[2] यज्ञिय पदार्थों में। ऐसी मुझे देवों ने बनाया बहुत स्थानों में, अनेक स्थानों में प्रवेश करने वाली को ।

इस मन्त्र में पुनः स्पष्ट उल्लेख है कि वाक् राष्ट्री है । इसे देवों ने रखा या बनाया है ।

अथर्ववेद में निम्नलिखित मन्त्र है—

इयं पित्र्ये राष्ट्र्येत्यग्रे । ४।१।२॥

यह मन्त्र ऐतरेय ब्राह्मण में (अध्याय ४, खण्ड २) में प्रतीक-मात्र से पढ़ा गया है। अतः निश्चित ही वह कभी ऋग्वेदीय ऐतरेय संहिता में सुरक्षित था । इस मन्त्र की व्याख्या में ऐतरेय ब्राह्मण में "वाग्वै राष्ट्री" कहा है ।

अगला मन्त्र अति स्पष्ट रूप से दैवी वाक् का वर्णन करता है—

---

१ १।७।४।२०॥
२ भर्तृहरि—यतः सर्वाः प्रवृत्तयः । वाक्यपदीय ।१।१॥

(ङ) देवीं वाचजमनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना[1] धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ ८।१००।११ ॥

अर्थात् – देवी वाक् को उत्पन्न किया देवों ने। उसको सब प्रकार के पशु = मनुष्य आदि बोलते हैं। वह चित्ताकर्षक बोली वाली, हमारे लिये अन्न और रस को दुहती हुई धेनु-रूपी वाक्, अच्छे प्रकार स्तुता, हमें प्राप्त हो। माध्यमिका वाक् अन्न और रस के दुहने का क्या काम करती है, यह विज्ञान का गंभीर विषय है।

यदि वह देवी वाक् आकाशीय मध्यस्थान में उत्पन्न न होती तो संसार मात्र में कोई ध्वनि उत्पन्न न हो सकती। इस माध्यमिका वाक् का रूपान्तर व्यक्त और अव्यक्त वाक् है। जिस प्रकार महान् मन तथा दिव्यचक्षु का मानव मन और प्राणीमात्र के नेत्र से सम्बन्ध है, उसी प्रकार देवी वाक् का सम्पूर्ण वाक् से सम्बन्ध है। जिस प्रकार पहले अग्नि उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात् सूर्य आदि बने, इसी प्रकार पहले शब्दगुण धारण करने वाला आकाश उत्पन्न हुआ और तदनन्तर माध्यमिका वाक् बनी। तत्पश्चात् मानुषी वाक् बनी।

(ग) से (ङ) तक उद्धृत मन्त्रों का केवल इतना प्रयोग है कि इन मंत्रों में वाक् को देवों की ईश्वरीय, देव-निर्मिता तथा देवी कहा है।

आकाशस्थ ऋषि वाक्-कर्ता

(च) वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत देवां ईलाना ऋषिवत् स्वस्तये। १०।६६।१४॥

अर्थात्—(आकाशस्थ) वसिष्ठों ने पितरों के समान वाणी को किया, देवों की स्तुति करते हुओं ने, ऋषि के समान कल्याण के लिए।[2] भर्तृहरि, शौनक, व्यास, यास्क और कठ आदि मुनि देवी वाक् के अस्तित्व को स्वीकार करते थे। यह भी स्पष्ट है कि मन्त्रों में भी देवी वाक् का उल्लेख पाया जाता है।

निरुक्तकार यास्क यह भी लिखता है कि मानुष वाक् से सर्वथा भिन्न देवों की वाक् होती है। यही नहीं निरुक्त में उद्धृत ब्राह्मण पाठ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आकाशस्थ देवों की वाक् भी है।

इन सब प्रमाणों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हैं—

१. सारा जगत् दैवी वाक् का विवर्त है।
२. संसार मात्र की अपभ्रंश भाषाएं दैवी वाक् की व्यतिकीर्णता से उत्पन्न हुईं।
३. दैवी अथवा सौरी वाक् को ब्राह्मी वाक् भी कहते हैं।
४. दिव्या वाक् को आदि में स्वयंभू ब्रह्म ने उत्सृष्टा।
५. वाणी उस समय विस्तृत हुई, जब आकाशस्थ देव नाना यज्ञ करने लगे।

---

१ इस मन्त्रस्थ पद की छाया पर मनु ने 'दुदोह' (१।१४) पद का प्रयोग किया और वाणी की धेनु से तुलना की।

२ (ख) और (च) की तुलना करें—यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। (ऋ० १०।७१।२) यह मन्त्र पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उद्धृत है।

६. आकाशस्थ यज्ञार्थं इन्द्र वाणी को उत्पन्न करता है।

७. आकाशस्थ ब्राह्मण और वसिष्ठ वाणी को उत्पन्न करते हैं।

८. आकाशस्थ ऋषि और पितर वाणी को उत्पन्न करते हैं।

ये विषय इतने गम्भीर और विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले हैं कि इन में से प्रत्येक पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। सर्व प्रथम वाणी के उत्पादक देव कौन थे, इसका वर्णन आगे किया जाता है।

वाणी के उत्पादक देव

सृष्टि-उत्पत्ति के सूक्ष्म ज्ञान के बिना यह विषय स्पष्ट नहीं होता अतः इसका संक्षिप्त विवरण निम्न है।

सृष्टि क्रम सांख्य शास्त्रों में—आर्य शास्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति का अति सुन्दर और वैज्ञानिक वर्णन सुरक्षित है। योरोपीय लोगों ने इस विषय पर जितने भी ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन आंशिक रूपेण ठीक है, पर अधिकांश में निराधार और कल्पित है।

यह विषय प्रधानता से सांख्य शास्त्र का है, पर उपलब्ध सांख्य दर्शन और सांख्य-सप्तति से इस विषय का पूरा ज्ञान नहीं होता। विशद ज्ञान होता है मनुस्मृति, महाभारत, पुराणों के सर्ग-प्रतिसर्ग उल्लेख तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से। इन ग्रन्थों में प्राचीन सांख्य की सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। ज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति (Progress) का अभिमान करने वालों के लिए यह विशेष रूप से पठितव्य है।

सृष्टि क्रम—प्रकृति का गुण साम्य ईश्वर-प्रेरणा से रजोगुण के प्रधान होने पर भंग हुआ। गुणों में वैषम्य आया (वायु ५।९), तब महान् उत्पन्न हुआ। यह महान् ईश्वर-प्रेरणा से प्रेरित सृष्टि करता है। भूतचिन्तक अथवा स्वभाववादी इस महान् से पूर्व की दशा को नहीं जानते। पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता जो सृष्टि का कारण स्वभाव (Nature) में ही ढूंढते हैं, वे भूतों तक यत् किञ्चित् सोच पाए हैं। इन से पूर्व की अवस्थाएं उनके लिए अभी स्वप्न मात्र हैं। महान् से अहंकार उपजता है।

अंहकार = मन—अंहकार व्यापक मन है। यह सारा विकृत को प्राप्त नहीं होता। केवल इसका एक अंश विकृति को ग्रहण करता है। मन्त्र पदों में संकेत इस व्यापक मन से होता है। इसी मन से दैवी वाक् सन्बन्ध रखती है। यथा—

मनसा वाचमक्रत। ऋ० १०।७१।२॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। अथर्व० १।१।२॥

तन्मात्रा और महाभूत—अहंकार के पश्चात् क्रमशः भूतों की तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। यह भूतों का अति सूक्ष्म रूप है। यहां तक की सृष्टि अविशेष सृष्टि कहलाती है। इसके पश्चात् महाभूत अथवा स्थूल-भूत उत्पन्न होते हैं।

विशेष—स्थूल भूतों को विशेष कहते हैं। विशेष इन्द्रियग्राह्य हो जाते हैं। इन विशेषों का अद्भुत प्रदर्शन करने के कारण ही कणाद मुनि के शास्त्र को वैशेषिक शास्त्र कहते हैं। वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान इस ज्ञान की तुलना में अधूरा है।

आपः सृष्टि—इस सृष्टि में आपः प्रधान और व्यापक हो गयीं। शतपत ब्राह्मण ६।१।३।१। से प्रजापति द्वारा आपों से सृष्टि-उत्पत्ति का कथन है। मनुस्मृति १।८ में भी यहीं से उत्पत्ति क्रम प्रारम्भ होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के सृष्टि उत्पत्ति विषयक सब प्रकरणों में आपः सदा स्त्री स्थानी हैं। योषा वा आपः।[१] इसलिए दैवी वाक् और उसकी अनुकरणकर्त्री संस्कृत भाषा में आपः शब्द नियत स्त्रीलिंग में ही व्यवहृत होता है।

आपः का स्वरूप—आपः पद से यहां जलों का अभिप्राय नहीं। आप; तन्मात्राओं और महाभूत जल के मध्य की अवस्था का नाम है।

मैकडानल की भ्रान्ति—मन्त्रगत विद्या को अणुमात्र न समझता हुआ, आक्सफोर्ड का परलोकगत अध्यापक आर्थर एन्थनि मैकडानल—सलिलस्य मध्यात्[२] का अर्थ करता है—from the midst of the sea. सलिल का यह अर्थ नहीं बनता। पुनः—अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्[३] में वह सलिल का अर्थ Water[४] करता है। यह भी सर्वथा अयुक्त है। सृष्टि उत्पत्ति के प्रकरणों में सलिल पारिभाषिक शब्द है।

हमने शतपथ ब्राह्मण के आगे उद्धृत वचन में सलिल का अर्थ एकार्णवी भूतावस्था वाला किया है। मन्त्रों में इसे ही अर्णव समुद्र कहा है। यह महाभारत और वायु पुराण (१०।१७८) की व्याख्या के अनुसार है। मैकडानल ने आपः का अर्थ Aerial Water किया है। वस्तुत. अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान में सलिल और आपः के लिए कोई शब्द नहीं है। योरोपीय साइंस इस ज्ञान तक नहीं पहुंचा।

आपः से प्रजापति पर्यन्त—बृहदारण्यक में अत्यन्त सुन्दर और संक्षिप्त रूप से इस क्रम का उल्लेख है—

आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त। सत्यं ब्रह्म। ब्रह्म प्रजापतिम्, प्रजापतिर्देवान् ।५।५।१।।

अर्थात्—आपः ही पहले थे। उन आपों ने सत्य (=बीज ?) को उत्पन्न किया, सत्य ने ब्रह्म (=अण्ड), को अण्ड ने प्रजापति (=पुरुष) को। प्रजापति ने देवों को। देवों की उत्पत्ति का यह क्रम समझे बिना वेद मन्त्रों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सकता।

अण्ड की उत्पत्ति—वायु पुराण के चतुर्थ अध्याय में लिखा है—

पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च। महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति ते ।।७४।।
एककालं समुत्पन्नं जलबुद्बुदवच्च तत्। विशेषेभ्योऽण्डमभवद् बृहत्तदुदकं च यत् ।।७ ।।

अर्थात्—पुरुष के अधिष्ठान के कारण और अव्यक्त प्रकृति की कृपा से महत् से विशेष पर्यन्त पदार्थ अण्ड को उत्पन्न करते हैं। जल के बुलबुले के समान अण्ड सहसा उत्पन्न हुआ (इस में समय नहीं लगा)।

वेद में गर्भ=अण्ड की उत्पत्ति—ऋग्वेद के मन्त्र में कहा है—

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।।१०।८२।६।।

---

१ १।१।१।१८।। श० ब्रा०
२ ७।४९।१।। ऋ०
३ १०।१२९।३।। ऋ०
4 p. 21, Vedic Reader

अर्थात् - उस गर्भ (अथवा अण्ड) को पहले धारण करते थे आपः, जहां विश्वे देवाः एकत्रित थे। अज अर्थात् सत्व, रज और तम की साम्यावस्था की नाभी (=मध्य) में। वह एक था जिसमें सम्पूर्ण भुवन ठहरे थे।

अजस्य नाभौ—यह पद विशेष विचार योग्य है। ऋग्वेद की एक दूसरी ऋचा भी इस अर्थ को प्रकट करती है—

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।१०।१२१।७॥

अर्थात्—आपः निश्चय से जो महान (थे), विश्व में व्यापक थे। (अण्ड अथवा) गर्भ को धारण करते हुए, (और) उत्पन्न करते हुए अग्नि को। वेद मन्त्रों में वर्णित इस आश्चर्यजनक वैज्ञानिक सत्य का वायु पुराण के चतुर्थ अध्याय में वर्णन है—

अन्तस्तस्मिन् त्विमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत् ॥८२॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ सग्रहौ सह वायुना।
लोकालोकं च यत् किञ्चिच्चाण्डे तस्मिन् समर्पितम् ॥८३॥
अद्भिर्दशगुणाभिस्तु बाह्यतोऽण्डं समावृतम् ॥८४॥

अर्थात्—अन्दर उसके ये लोक, अन्दर सम्पूर्ण जगत्। चन्द्र, आदित्य, नक्षत्र, ग्रह, साथ वायु के (उसमें थे)। प्रकाश युक्त और अन्धकारयुक्त जो कुछ था, उस अण्ड में था। आपों से जो दश गुणा थे, बाहर से वह अण्ड आवृत था। पूर्व उद्धृत वेद मन्त्रों का यह सुन्दर भाष्य है।

हिरण्यगर्भ=महदण्ड—इस क्रमिक परिणाम के पश्चात् अथवा महाभूतों के सृजन के अनन्तर, तथा आपों के प्रधान होने पर, उन आपों में हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्व-प्रदर्शित विषय का कुछ विस्तार करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त। कथं नु प्रजायेमहि इति। ता अश्राम्यन्। तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सम्बभूव। तदिदं हिरण्यमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः।११।१।६।१॥

अर्थात्—आपः निश्चय ही आरम्भ में सलिलावस्था[1] (एकार्णवीभूतावस्था) में ही थे। उनमें (स्वयम्भू ब्रह्म द्वारा) कामना हुई। कैसे हम प्रजारूप में फैलें। उन्होंने श्रम किया। उन्होंने तप तपा। उन तप तपते हुओं में हिरण्याण्ड उत्पन्न हुआ। (वह) हिरण्याण्ड जब तक (एक देव) वर्ष का काल, तब तक चक्र में तैरता रहा। तब संवत्सर (के बीत जाने) पर पुरुष प्रकट हुआ।[2] वह प्रजापति था।

हिरण्याण्ड की उत्पत्ति का वर्णन कितना वैज्ञानिक है। वह अण्ड अग्नि के प्रभाव के कारण हैमवर्ण और सहस्रांशु समप्रभ हो गया।[3] इस हिरण्यगर्भ को स्वयम्भू ब्रह्म ने अपना महान् विराट शरीर बनाया। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस हेमाभ महान् अण्ड को बहुधा पुरुष अथवा प्रजापति भी कहा है।

---

१ जहां सब लीन था।

२ पुरुष सूक्त इस पुरुष का वर्णन करता है।

३ १।९॥ मनुस्मृति।

आपों से आवृत—यह अण्ड आपों में उत्पन्न हुआ, अतः आपों से घिरा हुआ था। ये आपः नारायण के निवास थे। हिरण्यगर्भ स्थिर नहीं था, पर आपों में तैरने अथवा डोलने के अतिरिक्त, किस गति में था, इसका प्रमाण अभी ढूंढा नहीं जा सका।

पृथिवी, ग्रह और नक्षत्रों की आदि गति का मूल कारण—हिरण्यगर्भ स्थिर नहीं था, पर आपों में चक्र रूप में तैरता था। यह चक्र में तैरना केवल महान् आत्मा की प्रेरणा से हुआ, अथवा इस का कारण भौतिक नियम हैं। यह मूल गति है जो हिरण्याण्ड=प्रजापति की प्रजाओं अर्थात् पृथिवी आदि और सम्पूर्ण ग्रह-नक्षत्रों में चलती गयी।

प्रजापति का प्रासर्पण—ताण्ड्य ब्राह्मण में लिखा है—

प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। नाहरासीन्न रात्रिरासीत्। सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रासर्पत।

अर्थात्—प्रजापति=पुरुष एक ही था, न दिन था, न रात्रि थी। वह अन्धे (करने वाले) अन्धेरे में आगे-आगे सरकता था।

सर्प-लोक—जितने लोक लोकान्तरों में यह प्रसर्पण गति थी, वे सर्प कहाते हैं।

आधिदैवत पक्ष—**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**[1] मन्त्र का अर्थ भी इस हिरण्यगर्भ से सम्बन्ध रखता है।

आपों का फेन—आपों के तपने पर फेन उत्पन्न हुआ था। यथा—**ताऽअतप्यन्त ताः फेनमसृजन्त।**[2] इसके आगे कहा है कि इन फेनों से मृत अंश पैदा हुए।

महदण्ड फटा—यह अण्ड **आत्मनो ध्यानात्**[3] अर्थात् स्वयंभू ब्रह्म के ध्यान से, तथा वायु के वेग युक्त होने से दो टुकड़े हुआ। स्वयम्भू ने ध्यान से वायु में बल उत्पन्न किया। वायु पुराण अध्याय २४ में लिखा है—

अन्ते वर्षसहस्रस्य वायुना तद् द्विधा कृतम् ॥७४॥

वायु का प्रभञ्जन नाम अति प्रसिद्ध है। पुराण के पूर्वलिखित पाठ में कहा है कि उस अण्ड में वायु भी था। स्वयम्भू ने अपने ध्यान द्वारा वायु को प्रेरित किया। वायु के प्रकोप से यह घटना सम्पन्न हुई।

योरोप के वैज्ञानिकों के ग्रन्थों में इस घटना-तत्व का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख नहीं मिला।

देवोत्पत्ति—प्रजापति पुरुष से दिव्य गुण युक्त देवों की उत्पत्ति हुई, यह बृहदारण्यक के पूर्व प्रमाण से स्पष्ट है।[4] ये देव अनेक प्रकार के प्राण आदि हैं। इनका वैज्ञानिक स्वरूप सांसारिक अर्थ से सर्वथा भिन्न है। ऋषि और पितर आदि भी इनके साथ-साथ आकाश में उत्पन्न हुए। इसका अधिक विस्तार शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के आरम्भ में किया गया है।

देव इन्द्र कौन—शतपथ ब्राह्मण के इस प्रकरण में इन्द्र का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। वह पांच प्राणों में मध्य का प्राण है। ये प्राण क्या हैं, इस रहस्य का ज्ञान वैदिक विज्ञान के स्पष्ट होने

---

१ १०।१२१।१॥ ऋ०
२ ६।१।३।२॥ श०ब्रा०
३ १।१२॥ मनुस्मृति।
४ पृ० १२

पर अधिक समझ आएगा। दूसरे देव भी इस प्रकार की भौतिक शक्तियां हैं। वे एक महान् भूतात्मा के रूप हैं। उसी महान् भूत का निःश्वास वेद आदि हैं।

लोक-निर्माण—महदण्ड के फटने पर तमोमय, गुरु, अधोभागरूपी शकल से अन्धकारयुक्त पृथिवी आदि लोक तथा सत्त्वमय लघु, प्रकाशयुक्त, उपरि भाग से प्रकाशमय लोक बने। सत्त्व भाग लघु होने से सदा ऊपर बना रहता है।[1]

भूमि की प्राथमिकता—मनुस्मृति के अनुसार हिरण्याण्ड के दो शकलों से दिव और भूमि का निर्माण हुआ। यथा—

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥१।१३॥

तदनुसार भूमि तो पहले बनी और दिव के सूर्यग्रह आदि अनेक अंग सविता से पीछे अस्तित्व में आए। ग्रह आदि के अस्तित्व में आने के पश्चात्, सूर्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थिर हुआ। इस लिए भूमि के विषय में शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—**इयम् (भूमिः) वा एषां लोकानां प्रथममसृज्यत।६।५।३।१॥**

अर्थात्—यह भूमि इन लोकों में प्रथम उत्पन्न हुई। दैवी सृष्टि में भूः व्याहृति की उत्पत्ति के समय ही भूमि बनी थी—स भूरिति व्याहरत। स भूमिमसृजत।[2]

इसी भाव को जैमिनीय ब्राह्मण ने भी स्पष्ट किया है—**प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत्। स इमाम् असृजत्।१।१०१॥**

बाईबल में इस सत्य की प्रतिध्वनि—कभी वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का ज्ञान भूमण्डल पर प्रसारित था। उत्तरवर्ती मतों में जो थोड़ा सा ज्ञान है, वह उसी मूल ज्ञान का रूपान्तर है। आरम्भ में हिरण्यगर्भ के दो भाग हुए। अधोभाग से भूमि बनी और उपरि भाग से द्युलोक। इस वैदिक भाव को यहूदी बाईबल ने निम्नलिखित शब्दों में सुरक्षित रखा है—

In the beginning God created the heaven and the earth.

इसी प्रकार महाव्याहृतियों के द्वारा सप्त-लोक उत्पन्न हुए। उन्हीं के साथ ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र और तारागण भी पृथक् हुए। तब प्रजापति प्रजा उत्पन्न करके निवृत होकर सो गया।[3]

दैवी यज्ञ—सृष्टि बन रही थी। आकाश में दैवी यज्ञ हो रहे थे। ये यज्ञ विचित्र थे। इन्हीं का प्रतिरूप पृथिवी पर किये जाने वाले मानुषी-यज्ञ हैं। इन यज्ञों में मन्त्र उच्चारित हो रहे थे। ये मन्त्र दैवी वाक् थे। मन्त्रों और ब्राह्मणों में लिखा है—

(क) **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। ऋ० १।१६४।५०॥**

---

१ तुलना करें, सांख्यसप्तति, कारिका १३। २ २।२।४।२॥ तै० ब्रा०।

३ तै० ब्रा० १।२।६।१॥ तुलना करें बाइबिल से— And on the seventh day God ended his work which he had made; and he rested. तथा देखें वैदिक वाङ्मय का इतिहास—ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ—पं० भगवद्दत्त तथा सत्यश्रवा कृत; तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—दूसरा भाग, पं० भगवद्दत्त कृत।

(ख) प्रजापतिर्वा एक आसीत् । सोऽकामयत । यज्ञो भूत्वा प्रजाः सृजेय इति ।[1] अर्थात्—प्रजापति (=विराट्रूप स्वयम्भू ब्रह्म) एक था। उसने कामना की, यज्ञरूप होकर प्रजाएं उत्पन्न करूं ।

(ग) असौ आदित्यः इन्द्रः । रश्मयः क्रीडयः।१।१०।१६।। मै० सं०

(घ) असौ आदित्यः स्रुवो द्यौर्जुहूः । अन्तरिक्षम् उपभृत् । पृथिवी ध्रुवा ।४।१।१२।। मै०सं०

(ङ) असौ वै चन्द्रः पशुस्तं देवाः पौर्णमास्यामालभन्ते ।६।२।२।१७।। श० ब्रा०

(च) इयं वा अग्निहोत्रस्य वेदिः । १।८।७।। मै० सं०

(छ) इन्द्रं जनयामेति । तेषां पृथिवी होता आसीत् । द्यौः अध्वर्युः । त्वष्टा अग्नीत् । मित्र उपवक्ता । १।८।७।। का० सं०

(ज) पुरुषो वै यज्ञ...तस्य इयमेव जुहूः...।१।२।३।। श०ब्रा०

(झ) स वा एष संवत्सर एव यत् सौत्रामणीः...१२।८।२।३६।। श० ब्रा०

(ञ) तदु होवाच वारुणिः, द्यौर्वा अग्निहोत्री । तस्या आदित्य एव वत्सः ।१।६०।। जै० ब्रा०

अर्थात् इन यज्ञों में इन्द्र आदि देव, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ आदि लोक, ग्रह तथा नक्षत्र पितर और ऋषि सब भाग ले रहे थे। यह वेद की अपरिमिता महिमा है, जिसमें विज्ञान का समुद्र भरा है। वर्तमान साइंस इस विद्या के समीप भी नहीं पहुंच पाया।

बलि-रहित यज्ञ—ब्राह्मण ग्रन्थों में कभी अग्नि,[2] कभी पृथ्वी, कभी चन्द्र और कभी ग्रह आदि को पशु कहा है। आकाशस्थ यज्ञों में ये पशु वेदियों के समीप रहते थे। इनका वध नहीं हुआ। यज्ञ करने वाले देव अपने साथी देवों की बलि कैसे देते। इसलिए कृतयुग में पृथ्वी पर जो यज्ञ मनुष्यों द्वारा हुए, उनमें कहीं बलि नहीं दी गई। महाभारत, चरक-संहिता और वायुपुराण में ऐसा लिखा है। उत्तर काल में पिष्ट—पशु का विधान हुआ। यज्ञों में पशु वध सर्वथा नवीन कल्पना है।

यज्ञों में मन्त्र पाठ—इन यज्ञों में ऋषि और देवता दिव्य वाणी में मन्त्र पाठ करते थे। पंच-भूतों, देवों और आकाशी ऋषियों में लोक निर्माण समय की विचित्र गतियों से जो ध्वनियां उठतीं और जो दैवी-गान होते थे, वे ही ये वेद-मन्त्र हैं। इनका आदि प्रेरक भगवान् परमपुरुष है, जिसकी सत्ता से अग्नि तपता है, वायु बहता है, सूर्य प्रकाश देता है। वह परब्रह्म इस सारी कला का प्रेरक है। इसलिए मन्त्र मनुष्य-निर्मित नहीं हैं। ये अपौरुषेय हैं। देवों और ऋषियों द्वारा ही आकाश में पहले सामगान हुए। पार्थिव ऋषियों को इन्हीं ध्वनियों का तदनु ज्ञान हुआ। ये ध्वनियां उनमें ईश्वर कृपा से प्रविष्ट हुईं। मन्त्र कहता है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् । १०।७१।३।। ऋ०

अर्थात्—यज्ञ के द्वारा वाक् की समर्थता को प्राप्त हुए। उस वाक् को उन्होंने (देवों के) पश्चात्

---

१ १।६।३।३। मै० सं०

२ अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त । तेनायजन्त । निरुक्त १२।४१। में उद्धृत ब्राह्मण पाठ । तुलना करें—अग्निः पशुरासीत्, तेनायजन्त । वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त । सूर्यः पशुरासीत्, तेनायजन्त । १३।२।७।१३, १४, १५।। श० ब्रा०

प्राप्त किया, ऋषियों में प्रविष्ट हुई को। स्पष्ट है कि पार्थिव ऋषियों में इस प्रविष्ट हुई वाणी को पश्चात् प्राप्त किया गया। पहले यह आकाशी ऋषियों में थी। ये आकाशी ऋषि मन्त्रों में पूर्व ऋषि कहे गए हैं। इनकी तुलना में पार्थिव ऋषि नूतन ऋषि थे। दैवी यज्ञ में जो मन्त्र पहले उच्चरित हुए, वे पुरातन और पूर्व मन्त्र थे। पश्चात् गायी गई स्तुतियां नयी थीं।

मन्त्रों अथवा वाक् की उत्पत्ति का यह अधिदैवत पक्ष अन्यत्र भी पाया जाता है। ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे, यजुस्तस्माद् अजायत।१०।९०।९॥

अर्थात्—उस (दैवी) यज्ञ से जो सर्वहुत था, ऋचाएं साम उत्पन्न हुए, यजुः उससे उत्पन्न हुआ।

प्रविष्ट वाणी बाहर निकली– पृथ्वी पर यह ज्ञान, आदि–पार्थिव ऋषियों में, ईश्वर कृपा से प्रविष्ट हुआ। तब ज्ञान के प्रेम में निमग्न उन ऋषियों के हृदय–गुहा से यह व्यक्त दैवी–वाक् में बाहर निकला। यथा—**प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।१०।७१।१॥ ऋ०**

छन्द उत्पत्ति—ब्राह्मण ग्रन्थों में यह तत्व भी बड़ा स्पष्ट है। इस महती विद्या से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण वैदिक छन्द सबसे पूर्ण आकाश में उत्पन्न हुए थे। संभव है भविष्य में आर्य विद्वान् इस तत्व को परीक्षण द्वारा सिद्ध कर सकें। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आगम के विद्वान् भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय के आगम-काण्ड में किसी लुप्त ऋक्-शाखा का एक मन्त्र पड़ा है—

इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची।
नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा चाकशीति॥[1]

अर्थात्—इन्द्र से, प्रथम छन्द निकला। अन्यत्र लिखा है, वृत्र-वध के समय इन्द्र महानाम्नी ऋचाओं की तरंगें उत्पन्न कर रहा था।[2] मरुत् उसके सहायक थे।

श्रौषट्–वौषट् हिम्—याज्ञिक कर्मों से जहां कहीं, श्रौषट् वौषट् तथा हिंकार आदि ध्वनियां बोली जाती हैं, वे आकाशी ध्वनियों का अनुकरण-मात्र हैं। बृहदारण्यक में वाग् रूपी धेनु के चार स्तन कहें हैं– स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। यथा—**वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः। स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। ५।८।१॥ बृ० उ०**

आनुपूर्वी नित्य—ऋषियों ने मूल मंत्रों में आनुपूर्वी आज तक सुरक्षित रखी। आज तक अग्नि के स्थान में वह्नि शब्द कभी प्रयुक्त नहीं हुआ। हां, शाखाओं में कुछ परिवर्तन हुए, पर मूल का ज्ञान सदा ध्यान में रहा। इसी प्रकार संहिता पाठ में अग्निमीले के स्थान में ईलेऽग्निम् कभी नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है, जो ध्वनि देवों ने आकाश में पैदा की, वही ध्वनि आज भी यज्ञ में पूर्ण घटित अवस्थाओं के साथ मनुष्य मन को जोड़ सकती है। अतः आनुपूर्वी सदा स्थिर रखी गयी। यह एक कारण है जिससे ज्ञात होता है कि वेद वाणी मनुष्य रचित नहीं है। यह दैवी वाक् है और नित्य है। यदि चुम्बक की

---

१ आगे 'ऋग्वेद की ऋक् संख्या' अध्याय देखें।

२ २३।२॥ कौ० ब्रा०

आकर्षण शक्ति और विद्युत की तरंगों में नियम नित्य हैं, तो प्रति सृष्टि-उत्पत्ति में भौतिक शक्तियों का उद्गार होने से ये ही वेद-मन्त्र उत्पन्न होंगे। सृष्टि-क्रम सदा यही रहेगा, और मन्त्र आदि भी।

वेद में मानुष इतिहास का अभाव—वेद की वाणी आकाशी,[1] वेद के देव आकाशी, मंत्रगत ऋषि आकाशी, छन्द आकाशी, वेद में सृष्टि उत्पत्ति का असाधारण ज्ञान, विज्ञान का अभिमान करने वाले योरोप में जिन्हें आज भी ज्ञान नहीं, यदि ऐसे वेद को मनुष्य रचित कहा जाए और इस आकाशादि वाणी में पार्थिव मनुष्यों और ऋषियों का इतिहास ढूंढा जाए, तो यह ज्ञान की अवहेलना है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह महान् सत्य प्रकाशित किया था कि वेद में इतिहास नहीं। निस्सन्देह वेदार्थ करने वाले को पहले वेद की प्रक्रिया समझनी चाहिए। ध्यान रहे कि वेद का अध्यात्म-परक अर्थ वेद के पूर्वोक्त अधिदैवत अर्थ के समझे बिना कदापि समझ नहीं आ सकता। जो भाष्यकार अधिदैवत अर्थ को यथार्थ नहीं समझ पाए, उन्होंने वेदार्थ नष्ट किया है। योरोपीय लेखकों को तो शब्दार्थ भी समझ नहीं आया। अतः ब्राह्मण और निरुक्त में कहे अधिदैवत और अधियज्ञ-परक अर्थ अवश्य जानने चाहिएं।

मानवी भाषा की उत्पत्ति

दैवी वाक् का पक्ष अति संक्षिप्त रूप में कह दिया। प्रसंगतः दैवी-विद्या भी थोड़ी सी लिख दी। यह स्पष्ट हो गया कि दैवी-वाक् मनुष्य-वाक् नहीं है। मनुष्य-वाक् संस्कृत है। आदि में वेद-शब्दों के आश्रय पर यह भाषा बनी। इसलिये स्वायंभुव मनु ने कहा—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥[2]

अर्थात्—आदि में ब्रह्मा ने वेद शब्दों से सब नाम आदि रखे।

प्रभातचन्द्र का प्रलाप—वेद-वाक् और लोक-वाक् के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ, डार्विन के ज्ञानशून्य विकासमत के अनुयायी, भाषा-विषयक योरोपीय मिथ्या ज्ञान के उच्छिष्ट-भोजी, कलकत्ता के प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती जी ने मनु के पूर्व लिखित मत के खण्डन में लिखा—

It does not require a Herder or a Grimm to point out the adsurdity and inconsistency of an unscientific view like this. To bring in the idea of God for explaining the origin of language......[3]

अर्थात्—मनु का मत कितना भद्दा और विज्ञानशून्य है, इसको बताने के लिए जर्मन लेखक हर्डर (सन् १७७२) अथवा ग्रिम की आवश्यकता नहीं है। भाषा की उत्पत्ति के स्पष्टीकरण में ईश्वर को घसीटना युक्ति संगत नहीं।

---

१ मुसलमान यही अनुकरण कर अपनी धार्मिक पुस्तक कुरान को 'आस्मानी किताब' कहते हैं।

२ १।२१॥

3 p. 21, The Linguistic Speculations of the Hindus, Calcutta University, 1933. ग्रन्थकार आर्य सिद्धान्तों का स्पर्श भी नहीं कर पाया है।

प्रभातचन्द्र जी भारतीय हैं। परन्तु वह आर्य सिद्धान्तों का स्पर्श-मात्र भी नहीं कर पाये हैं। जब वे ही भाषा विषयक भारतीय मत नहीं समझ सके, तो संस्कृत ज्ञान शून्य हर्डर क्या समझ सकता था।[1] हां, एक बात सत्य है कि प्रभातचन्द्र जी ने बिना समझे अपना ग्रन्थ लिखा और पन्ने काले किये। हमने हर्डर और ग्रिम के तर्क भी पढ़े हैं। प्रतीत होता है, हर्डर को इब्रानी भाषा का अति स्वल्प ही ज्ञान था। यही हर्डर शकुन्तला नाटक को वेद की अपेक्षा अधिक useful (उपयोगी) समझता है।[2] ऐसे निरक्षर लोग ही योरोप में ज्ञानी समझे जाते हैं। ये लोग विज्ञान से कोसों दूर हैं। इन्होंने वस्तुतः विज्ञान की अवहेलना की है।

प्रजापति, पुरुष, यज्ञ, आकाशीय ऋषियों और देवों की उत्पत्ति लिख दी। आकाशीय यज्ञों की ओर भी संक्षिप्त संकेत कर दिया। ब्राह्मण ग्रन्थों के गम्भीर अभ्यास से यह विषय अनायास स्पष्ट हो सकता है। पाश्चात्य लेखकों ने ब्राह्मण ग्रन्थों की भरपेट निन्दा की है। उसका उल्लेख ब्राह्मण तथा आरण्यक भाग में है। हमारी विद्वानों से इतनी प्रार्थना है कि वे ब्राह्मण ग्रन्थों तथा यास्क की सहायता से 'वाक्' की उत्पत्ति को समझने का प्रयास करें।

आर्ष परम्परागत वाक् पक्ष को समझने के लिए सत्य इतिहास पर आश्रित मानव की आदि भाषा के विभिन्न नामों का उल्लेख अत्यावश्यक है। अतः इस विषय का उत्थापन आगे है।

आदि भाषा के नाम

मानव की आदि भाषा के लिए प्राचीन भारतीय वाङ्मय में निम्न शब्दों का व्यवहार हुआ है—

१. वाक् यह शब्द वेद में प्रायः मन्त्रों के लिए प्रयुक्त हुआ है, परन्तु लौकिक साहित्य में यह पद मानवी-भाषा के लिए व्यवहृत हुआ है। यथा—

(क) रामायण (भारत-युद्ध से २००० वर्ष पूर्व) में प्रयोग है—वाग्विदां वरम्।[3] अर्थात्—वाणी के जानने वालों में श्रेष्ठ।

यहां 'वाक्' शब्द स्पष्ट ही व्यावहारिक संस्कृत भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ है। भूमण्डल भ्रमण करने वाला देवर्षि नारद वाणी का असाधारण ज्ञाता था। उसके ग्रन्थ नारद शिक्षा तथा संगीत मकरन्द आदि आज भी उपलब्ध हैं। ये ग्रन्थ लौकिक संस्कृत में हैं और वर्त्तमान ब्राह्मण ग्रन्थों से प्राचीन हैं।

---

१ यह वही हर्डर है जिस के विषय में जैस्पर्सन लिखता है—
One of Herder's strongest argument is that if language (Hebrew) had been framed by God and by Him instilled into the mind of man; we should expect it to be much more logical, much more imbued with pure reason than it is as an actual matter of fact. p. 27, Language, Its Nature, Development and Origin, Otto Jespersen, London, 1950

2 p. 5, History of Ancient Sanskrit Literature, मैक्समूलर कृत में उद्धृत।

३ १।१।१॥

(ख) तैत्तिरीय संहिता (भारत युद्ध से १०० वर्ष पूर्व) में लिखा है—वाग् वै पराच्यव्याकृतावदत्।[१] अर्थात्—वाणी निश्चय ही पुराकाल की अव्याकृता (=प्रकृति, प्रत्यय आदि व्याकरण की पारिभाषिक कल्पनाओं से रहित) (अपने अभिप्राय को) कहती थी।

'पराची, वाक्, अव्याकृता' ये शब्द वाणी की उस अवस्था का निर्देश करते हैं, जब मूल वाक् से न अपभ्रंश हुए थे और न ही अभी साधु शब्दों के व्याकरण आदि रचे गए थे। यहां उसी अवस्था का निर्देश है, जिसका हमने अपनी प्रतिज्ञा के आरम्भ में संकेत किया है। जो अज्ञानी लोग आर्यों का भारत आगमन ईसा से २५०० वर्ष पूर्व का मानते हैं, और कहते हैं कि आर्य लोग कल्पित भारोपियन भाषा का बहुत उत्तररूप लेकर भारत में प्रविष्ट हुए, वे पूर्व प्रदर्शित सचाई का अनुभव नहीं कर सके।

(ग) गौतम धर्मसूत्र (३१०० विक्रम पूर्व) के श्राद्ध प्रकरण में निम्नलिखित पाठ है—

श्रोत्रियान् वाग्रूपवयः शीलसम्पन्नान्।[२] इसकी व्याख्या करता हुआ मस्करी[३] लिखता है—वाक्सम्पन्नान् संस्कृतभाषिणः। अर्थात्—वाक्सम्पन्न का अर्थ है संस्कृत भाषण में समर्थ।

(घ) पतञ्जलि मुनि (विक्रम से १४०० वर्ष पूर्व) कृत व्याकरण महाभाष्य में एक प्राचीन वचन उद्धृत है—वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।[४] अर्थात् वाणी के योग को जानने वाला अपशब्दों (के प्रयोग) से दूषित होता है। अतः विद्वान् सदा साधु शब्दों का प्रयोग करें।

(ङ) वाग्मी—वाग्मी शब्द का अर्थ है—उत्कृष्ट भाषा बोलने वाला। यहां भी 'वाक्' का अर्थ व्यावहारिक भाषा है। यदि ऐसा न होता तो यह प्रयोग न बनता।

२. मानुषी वाक्—मानवी भाषा के लिए सामान्य नाम 'वाक्' है, परन्तु जब इसका निर्देश दैवी-वाक् की तुलना में अथवा वानरी आदि म्लेच्छ भाषाओं के प्रतिपक्ष में किया जाता है, तब 'वाक्' के साथ 'मानुषी' विशेषण अवश्य प्रयुक्त होता है। यथा—

(क) तस्माद् ब्राह्मण उभेवाचौ वदति दैवीं च मानुषीं च।[५] अर्थात्—इस कारण ब्राह्मण दोनों (प्रकार की) वाणियों को बोलता है (यज्ञ में स्वर सहित वेद मन्त्रों के उच्चारण द्वारा) दैवी वाक् और (यज्ञ के अन्यत्र लौकिक व्यवहार में) मानुषी वाक् को।

---

१ ६।४।७॥ २ १५।६॥

३ मस्करी प्राचीन भाष्यकार है। पाण्डुरंग वामन काणे ने उसके काल विषय में बड़ी भूल की है। कृत्यकल्पतरु का कर्ता लक्ष्मीधर (विक्रम संवत् ११६०) उसे उद्धृत करता है।

४ पृ० २, संस्कृत, भाग प्रथम, कीलहार्न।

५ १४।५॥ काठक संहिता। तुलना करें—

(क) तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्। यह निरुक्त १३।९ में उद्धृत किसी प्राचीन ब्राह्मण का पाठ है।

(ख) तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति यश्च वेद यश्च न। मै० सं० १।११।५॥

(ग) तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्। निरुक्त १।२॥

पूर्वोक्त वचनों में ब्राह्मण ही दो प्रकार की वाक् का बोलने वाला कहा गया है। वस्तुतः ब्राह्मण ही आदि सृष्टि से सस्वर यथार्थ वेद-वाक् को कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखने वाला है।

इस प्रमाण से निश्चित होता है कि वर्तमान ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत पूर्व भी ब्राह्मण मानुषी अथवा लोकभाषा बोलते थे और वह दैवी-वाक् से भिन्न थी।

(ख) आपस्तम्ब[1] श्रौत सूत्र (भारत युद्ध समकालिक) का वचन है—अथ यजमाना व्रतमुपैति। **वाचं यच्छत्यनृतात् सत्यमुपैमि। मानुषाद् दैव्यमुपैमि। दैवीं वाचं यच्छामि।**[2]

इस पर धूर्तस्वामी का भाष्य है—(दे)वाभिधानाद् दैविकी-दैवी वाक्। यहां भी मानुषी और दैवी वाक् का भेद स्पष्ट है।

आर्य लोग वेद वाक् की अपूर्वता का इतना मान करते थे कि उन्होंने मनुष्य वाक् को अमृत-वाक् अथवा मूल प्रकृति (= वेद वाक्) से परिणाम को प्राप्त हुई वाक् कहा है।

(ग) माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण (भारत युद्ध समकालिक) में लिखा है—

तदु हैकेऽन्वाहुः—होता यो विश्ववेदस इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयात्। मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद यज्ञस्य यन्मानुषम्। नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवमेवानुब्रूयात् होतारं विश्ववेदसमिति।[3]

अर्थात्—तो निश्चय कुछ लोग (यज्ञ समय) पढ़ते हैं—होता यो विश्ववेदसः ऐसा। वैसा न बोले। मानुष (पाठ) निश्चय वे यज्ञ में करते हैं। व्यृद्ध=हीनता ही (है) वह यज्ञ की जो मानुष (पाठ है), नहीं व्यृद्ध यज्ञ में करूं, इस लिए जैसा ऋचा ने कहा, वैसा ही पढ़ें—होतारं विश्ववेदसम् इति।

इससे स्पष्ट है कि दैवी वाक् मनुष्य-सम्बन्ध से रहित है अर्थात् मन्त्र मनुष्य रचित नहीं हैं।

(घ) रामायण, सुन्दर काण्ड, में लिखा है-वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।[4] अर्थात् वाणी को बोलूंगा मानुषी को यहां और संस्कृता को। रामायण के इस वचन में भी स्पष्ट है कि मानुषी भाषा का ही दूसरा नाम संस्कृत है। इस का संस्कृत नाम कैसे हुआ, इस की विवेचना आगे की जाएगी।

३. भाषा—आदि भाषा के लिए 'भाषा' नाम का सुस्पष्ट प्रयोग है—

(क) पाणिनि (विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व)[5] अष्टाध्यायी में लिखता है—विभाषा भाषायाम्।[6] अर्थात्—भाषा में षट् संज्ञक, त्रि और चतुर् शब्द के आगे झलादि विभक्ति विकल्प से उदात्त होती है।

(ख) यास्क (भारत युद्ध से ५० वर्ष पूर्व) निरुक्त में लिखता है—नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम् विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च।[7] अर्थात्-'नूनम्' यह विचिकित्सा=संशय अर्थ वाला भाषा में (प्रयुक्त होता है)। दोनों प्रकार का अन्वध्याय=वेद में, विचिकित्सा अर्थ वाला और पदपूरक।

---

१ महाभारत, अनुशासन पर्व १०६।१२।। में आपस्तम्ब के दिवंगत होने का उल्लेख है।

२ ५।२।८।१।।　　३ १।४।१।३५।।

४ ३०।१७।।

५ पृ. १७८-२४२, प्रथम भाग, तीसरा संस्करण, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, युधिष्ठिर मीमांसक।

६ ६।१।१७५।.　　७ १।५।।

उत्तर-काल में अपभ्रंश-आत्मिक प्राकृत के उत्पन्न होने पर उसे प्रकृति=संस्कृत से, अपभ्रष्ट होकर बनने के कारण प्राकृत भाषा कहा गया है।

यद्यपि ब्रह्मा ने मानव को लिपि प्रदान की, और वह ब्राह्मी कहायी, तथापि आदि में स्मृति अत्युत्कृष्ट होने से लेख का प्रचार हेय समझा जाता था। मनु, प्रजापति और सप्तर्षियों के सम्पूर्ण उपदेश बोले गए। यथा—स्वायम्भुवो मनुरब्रवीत्। प्रजापतिरब्रवीत्। वे इसी लोक भाषा में थे। आटो जैस्पर्सन आदि पाश्चात्य इस तथ्य का एक अंश समझ पाए हैं। यथा—

all language is primarily spoken and only secondarily written down, that the real life of language is in the mouth and ear and not in the pen and eye, was overlooked. ...[1]

अर्थात्—सब भाषा मूल में बोली जाती है।

कृतयुग में जिसे युक्त प्रकार से उपदेश युग भी कहा जा सकता है, सब संसार में संस्कृत ही बोली जाती थी, इसलिए इसे 'भाषा', कहना स्वाभाविक था। उस काल में सब विद्वान् थे, अतः वह भाषा अनपढ़ ग्रामीण लोगों की नहीं थी। उत्तर काल में उसका अपभ्रंश और संकोच हुआ।

पहले डायलेक्ट=बोलियां थीं और उत्तरकाल में साहित्यिक भाषाएं बनीं, इस तर्कहीन अनुमान का खण्डन आगे होगा।

४. लोक भाषा—भूमण्डल के सातों द्वीपों की भाषा संस्कृत थी॥ यथा—

(क) भाषा शास्त्र का अद्वितीय विद्वान्, पतञ्जलि मुनि लिखता है—सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः ...।[२] अर्थात्— (पाणिनि ने जिस भाषा के शब्दों का अनुशासन किया) वह सात द्वीपयुक्त पृथिवी पर बोली जाती थी ...।

(ख) पतञ्जलि और पाणिनि के पूर्ववर्ती भरत मुनि ने भी नाट्य शास्त्र में आर्य भाषा का निर्देश करते हुए इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम्।
संस्कार-पाठ्य-संयुक्ता सप्तद्वीपप्रतिष्ठिता॥१७।२८,२९॥

अर्थात्—अतिभाषा तो देवों की और आर्य-भाषा राजपुरुषों की। प्रकृति-प्रत्यय के पूर्ण संस्कार से युक्त सातों द्वीपों में प्रचलित।

यह पाणिनि द्वारा अनुशिष्ट भाषा केवल भरत खण्ड की नहीं थी, प्रत्युत सप्तद्वीपा वसुमती पर बोली जाती थी। पूर्व आचार्यों द्वारा परम्परा-प्राप्त इस अति प्राचीन कालिक तथ्य का निर्देश भरत तथा पतञ्जलि ने उक्त वचनों में किया है। संसार की समस्त भाषाएं इसी संस्कृत से विकृत होकर बनी है। इस तथ्य का उपपादन आगे होगा।[३]

---

1 p. 23, Language, Its nature, Development and Origin, Otto Jespersen.
२ पृ. ६, संस्कृत, भाग प्रथम, कीलहार्न।
३ देखें, अध्याय तीसरा।

(ग) भारत युद्ध के २०० वर्ष पश्चाद् भावी, पाणिनि से किंचित् पूर्ववर्ती बृहद्देवता का रचियता शौनक मुनि लिखता है—यद्यत् स्याच्छान्दसं वाक्यं, तत्तत्कुर्यात्तुलौकिकम् ।[1] अर्थात्—(मन्त्र की व्याख्या करते हुए) जो जो हो छान्दस वाक्य, उसे उसे बनावे लौकिक । बृहद्देवता शौनक मुनि की कृति है । उसी शौनक की, जिसने छन्द का प्रवचन किया और जिसने शिक्षा, प्रातिशाख्य आदि लिखे । पाणिनि ने इसी शिक्षा रचना और छन्द-प्रवचन के भेद को व्यक्त करने के लिए शौनकादिभ्यश्छन्दसि सूत्र लिखा ।[2] इस सूत्र में 'छन्दसि', पद जोड़ा है । निस्सन्देह छन्द के प्रवचनकर्ता अपने से पूर्वकाल में लोक भाषा का अस्तित्व मानते थे ।

(घ) आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है—विकथां चान्यां कृत्वैवं लौकिक्या वाचा व्यावर्तते ब्रह्म ।[3] अर्थात्—प्रसंग से विपरीत अन्य कथा करने से लौकिक व्यावहारिक वाणी से ब्रह्म व्यावृत्त हो जाता है । अर्थात् वेद का फल नष्ट हो जाता है ।

५. व्यावहारिकी—सुरक्षित परम्परानुसार आदि भाषा के लिए व्यावहारिकी शब्द का उचित प्रयोग हुआ है । यथा—

(क) यास्क मुनि निरुक्त १३।९।। में वेद के 'चत्वारि वाक्', पद के विषय में अपने से पूर्ववर्ती नैरुक्त आचार्यों का मत लिखता है—ऋचो यजूंषि सामानि, चतुर्थी व्यावहारिकी । अर्थात्—(तीन प्रकार की वाक्) ऋक्, यजुः और साम हैं और चौथी व्यावहारिकी (=लोक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली) ।

(ख) यास्क के कथन को पुष्ट करता हुआ पतञ्जलि महाभाष्य में किसी प्राचीन आचार्य के मत का उल्लेख करता है—शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।[4] अर्थात्—(विद्वान्) शब्दों का यथावत्=उचित रूप में (प्रयोग करता है), व्यवहार काल में ।

(ग) पुनः वही लिखता है—चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति......व्यवहारकालेनेति ।[5] अर्थात्— चार प्रकार से विद्या का उपयोग होता है, आगम-काल, स्वाध्याय-काल, प्रवचन-काल और व्यवहार-काल से ।

(घ) महाराज शूद्रक रचित (विक्रम ४०० वर्ष पूर्व)[6] पद्मप्राभृतक भाण में प्रसंगवश पाणिनि की परम्परा[7] में आने वाले एक वैयाकरण का उल्लेख सन्निविष्ट है । जब वैयाकरण कठिन भाषा बोलने लगा तो उससे प्रार्थना की जाती है कि—साधु व्यावहारिकया वाचा वद ।[8] अर्थात्—(साधारण) व्यवहार में प्रयुक्त सरल संस्कृत बोलो । उस काल में व्यावहारिकी में शिष्ट प्रयुक्त कठिन प्रयोग अवश्य न्यून हो गए होंगे ।

---

१ २।१०१।।
२ ४।३।१०६।।
३ १।१३।६।८।।
४ पृ.२, संस्कृत, भाग प्रथम, कीलहार्न ।
५ पृ. ५,६, वही ।
६ कीथ प्रभृति पाश्चात्य लेखक शूद्रक कृत मृच्छकटिक प्रकरण का काल ईसा की छठी शताब्दी मानते हैं ।
७ जो लोग पाणिनि को ईसा पूर्व तीसरी, चौथी अथवा पांचवी शती में रखते हैं, उन्हें पहले महाराज शूद्रक का निश्चित काल जानना चाहिए ।
८ पृष्ठ ९, चातुर्भाणी ।

६. जाति भाषा—भरत नाट्यशास्त्र में रूपक में व्यवहृत भाषाओं का चतुर्विध-वर्गीकरण करते हुए जाति भाषा का लक्षण किया है—

द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता । म्लेच्छदेशप्रयुक्ता च भारतं वर्षमाश्रिता ।।
जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम् । प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम् ।।१७।२९-३२।।

अर्थात्—दो प्रकार की जाति भाषा प्रयोग में बोली जाती है, म्लेच्छ देश में प्रयुक्त और भारतवर्ष में आश्रित । भारतवर्ष में चारों वर्णों की पाठ्य भाषा के दो रूप हैं, एक संस्कृत और दूसरा प्राकृत । यहां जाति भाषा का संस्कृत पाठ्य ही पूर्वनिर्दिष्ट व्यावहारिकी के अन्तर्गत है । व्यवहार की यह भाषा शुद्ध थी, ग्रामीण नहीं थी । अतएव पाणिनि ने इस व्यावहारिकी भाषा के शब्दों के लिए नियम बनाए । ये ही शब्द पुरातन व्याकरणों में भी अन्वाख्यात थे और पुरातन काल में प्रचलित थे । यदि यह प्राचीन वैयाकरणों से अन्वाख्यात व्यावहारिकी भाषा मूर्खों की 'डायलेक्ट' 'बोली' मात्र होती तो उसके नियम बनाना अनावश्यक था ।

पूर्व पक्ष—डा० सुनीति कुमार का मत है—"वैसे तो संस्कृत देश के किसी भी भाग में घर की भाषा नहीं थी, हां, हम यों मान सकते हैं कि केवल ईसा पूर्व की कुछ शताब्दियों में पंजाब तथा मध्यदेश की बोलियों पर इस का प्रारम्भिक रूप आधारित था । फिर भी, संस्कृत एक अत्यन्त सजीव प्राणयुक्त भाषा थी, क्योंकि थोड़े बहुत फेर बदल के साथ इस का व्यवहार विद्वज्जनों एवं धर्माचार्यों द्वारा ही नहीं होता था, बल्कि प्रवासी साधारण जन भी, जो निरक्षर ग्रामीण मात्र नहीं थे, इसका समुचित उपयोग करते थे ।"[१]

इस उद्धरण की सूक्ष्म विवेचना करने पर सुनीति कुमार जी के चार कल्पित पक्ष सामने आते हैं—

(१) संस्कृत कभी परिवार की भाषा न थी ।

यास्क, शौनक और पाणिनि की तुलना में सुनीतिकुमार जी भारतीय इतिहास का सहस्रांश भी ज्ञान नहीं रखते । जब यास्क, शौनक और पाणिनि संस्कृत को लोकभाषा कहते हैं तब सुनीतिकुमार जी का कल्पित उपर्युक्त कथन कैसे प्रामाणिक कहा जा सकता है ।

(२) ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व की पंजाब और मध्यदेश की बोलियों पर संस्कृत का रूप आधारित था ।

यह ऐसी गप्प है जो प्रमत्तालय में ही लिखी जा सकती है । भारत के अनवच्छिन्न इतिहास के अनुसार ईसा से दस सहस्र वर्ष पूर्व संसार की भाषा संस्कृत थी । उसे यूनान, अरब और यहूदियों के पूर्वज बोलते थे । इस के प्रमाण आगे देंगे । उस संस्कृत से बोलियों का विकार हुआ ।

(३) विद्वज्जन और धर्माचार्य संस्कृत का प्रयोग करते थे ।

न केवल विद्वज्जन अपितु साधारण लोग भी संस्कृत बोलते थे । साधारण लोगों की बोलचाल में आने वाले शतशः शब्दों का पाणिनि ने अपने व्याकरण में अन्वाख्यान किया है । यथा—

---

१. पृ. १७४, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, राजकमल प्रकाशन, १९५४ ।

(क) शाक बेचने वालों (कूंजड़ों) के व्यवहार में आने वाले मूलकपणः शाकपणः[1] आदि शब्द। अष्टाध्यायी ३।३।६६॥

(ख) वस्त्र रंगने वाले (रंजकों) के व्यवहार के काषायम्, लाक्षिकम् आदि शब्द। अष्टाध्यायी ४।२।१-२॥

(ग) कृषकों में व्यवह्रियमाण व्रैहिकम्, तैलिकम्, प्रैयङ्गवीनम् आदि विभिन्न प्रकार के धान्यों के उत्पादन योग्य क्षेत्रों (खेतों) के नाम। अष्टाध्यायी ५।२।१-४॥

(घ) पाचक (पुराकाल के शूद्रवर्णस्थ) लोगों के व्यवहार में आने वाले दाधिकम्, औदश्वितकम् लवणः सूपः आदि विभिन्न प्रकार के संस्कृत अन्नों के नाम। अष्टाध्यायी ४।२।१६-२० तथा ४।४।२२-२६॥

(ङ) शूद्रों के अभिवादन प्रत्यभिवादन के नियम। अष्टाध्यायी ८।२।८३॥

(च) चौर आदि के भर्त्सन विषयक नियम। अष्टाध्यायी ८।२।९५॥

इत्यादि अनेक प्रकार के ऐसे शब्दों के विषय में पाणिनि ने नियम बनाए हैं जो साधारण लोगों के नित्य प्रति के व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले हैं। अतः स्पष्ट है कि पाणिनि द्वारा अन्वाख्यात संस्कृत पुराकाल में जन साधारण की व्यावहारिक भाषा थी।

(४) प्रवासी जन भी संस्कृत का प्रयोग करते थे।

यहां सुनीतिकुमार जी ने 'वदतो व्याघात' दोष किया है। जिस भाषा को प्रवासी जन परस्पर अभिप्राय-सूचन का माध्यम बनावें, उस भाषा को अति विस्तृत और साधारण बोलचाल की भाषा मानना ही होगा।

यदि संस्कृत कभी मनुष्यमात्र की भाषा न होती, तो संसार की प्रमुख भाषाओं में संस्कृत शब्दों के विकार उपलब्ध न होते। भाषा मत के विचारक जर्मन लोगों ने इस बात से डर कर भाषाओं का जो लंगडा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, उस की परीक्षा आगे होगी।

७. संस्कृत—यह नाम भी अति प्राचीन है। यथा—

(क) भरत नाट्य-शास्त्र में संस्कृत शब्द भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ है। यथा—द्विविधं हि स्मृतं पाठ्यं संस्कृतं प्राकृतं तथा। १४।५॥ एवं तु संस्कृतं पाठ्यं मया प्रोक्तं समासतः ॥१७।१॥

(ख) भरत की उत्तरवर्तिनी रामायण-संहिता के सुन्दर काण्ड में लिखा है—वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। ।३०।१७॥

(ग) अष्टाङ्ग संग्रह (चौथी शती विक्रम से पूर्व) के भूत विज्ञान प्रकरण में लिखा है—तत्रापि विकृतस्वरं भाषयन्तमुत्त्रासयन्तं ब्रह्मवादिनं संस्कृतभाषिणं बहुशस्तोयं याचन्तं यज्ञसेनेन।[2]

वाग्भट्ट की प्रतिज्ञा है कि उस का अष्टाङ्ग संग्रह पूर्व-प्रणीत आर्षतन्त्रों का संक्षेप मात्र है। अतः

---

१ सव्यवहाराय मूलकादीनां यः परिमितो मुष्टिर्वध्यते,
तस्यैवमभिधानम्। काशिका ३।३।६६॥ मुष्टि अर्थात् मुठ्ठी।

२ अध्याय ७, उत्तर स्थान।

यदि यह वचन उसने किसी प्राचीन आर्षतन्त्र से लिया है, तो भाषा के लिए संस्कृत शब्द का पुराने काल में प्रयोग अन्यत्र भी दिखाई दे जाएगा।

(घ) वररुचि (विक्रम साहसांक का सभ्य, प्रथम शती) प्राकृत प्रकाश में लिखता है—शेष संस्कृतात् ।९।१८॥

पूर्वपक्ष—डा० मंगलदेव का मत है, "संस्कृत भाषा के लिए 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग प्राचीन समय में नहीं होता था। पाणिनीय व्याकरण तथा निरुक्त में...लौकिक संस्कृत के लिये 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है।"[1]

उत्तर पक्ष—तो क्या भरत का नाट्य शास्त्र और वाल्मीकि रामायण आदि ग्रन्थ अर्वाचीन हैं? कीथ प्रभृति और मनमोहन घोष आदि ऐसा मानते हैं। जब विक्रम साहसांक के कई सौ वर्ष पूर्व का मातृगुप्त भरत नाट्य शास्त्र पर व्याख्या लिखता है, तो भरत मुनि के (महाभारत शान्तिपर्व में स्मृत) ग्रन्थ को नए काल का मानना सर्वथा अज्ञान प्रकट करना है। स्पष्ट है कि डा० मंगलदेव जी ने प्राचीन इतिहास का अध्ययन नहीं किया, अतः ऐसा लिखा है।

इसी प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी संस्कृत के 'वाक्' 'भाषा' और 'व्यावहारिकी' आदि नामों के इतिहास को बिना समझे केवल संस्कृत नाम के आधार पर जो अनुमान किया है कि "परिमार्जित संस्कृत भी (जिसे आजकल हम केवल संस्कृत कहते हैं) पुरानी बोल-चाल की संस्कृत से निकली है,"[2] सर्वथा हेय है।

संस्कृत नाम का कारण—त्रेता युग के प्रारम्भ में देश, काल, परिस्थिति, उच्चारण शक्ति की विकलता और अशक्तिजानुकरण आदि के कारण भाषा के प्राकृत रूप की सृष्टि हो चुकी थी। यह रूप विपर्यस्त=विकृत था और प्रकृति प्रत्यय का संस्कार उस से पर्याप्त लुप्त हो गया था,[3] अतः संस्कृत युक्त भाषा का नाम स्वभावतः संस्कृत और प्रकृति अर्थात् संस्कृत अथवा धातुमात्र से विनिःसृत होने के कारण विकृत भाषा का स्वाभाविक नाम प्राकृत हुआ।

इस सत्य का निर्देश भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में निम्न शब्दों में किया है—

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥१७।२॥

अर्थात्=इस (संस्कृत) को ही विकृत अवस्था को प्राप्त हुई को (और) संस्कार (प्रकृति प्रत्यय विभाग) तथा गुण (प्रकृति प्रत्यय रूपी भाषा में होने वाले विकार) से रहित को जानना चाहिये। प्राकृत (रूपक के अभिनय में) पढ़ने योग्य नाना अवस्थान्तरों वाली (अर्थात् शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि) को (भी जानना चाहिये)।

यास्क द्वारा संस्कार और गुण शब्द का स्पष्टीकरण—यास्क मुनि ने भी संस्कार और गुण शब्द का निरुक्त में इसी पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है—

---

१ पृ० ८७, भाषा विज्ञान।

२ भूमिका, पृ० ५, हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९११।

३ तुलना करें—'तदप्यसंस्कारयुतं ग्राम्यवाक्योक्तिमत्स्थितम्'। विष्णु पुराण, अंश २, अ० १३ श्लो० ४०। तथा देखें तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, ११।१-३॥

(क) तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्.........॥१।१२॥

(ख) अथानन्वितेऽर्थे प्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान्त्सञ्चस्कार शाकटायनः ॥१।१३॥

(ग) न संस्कारमाद्रियेत । विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति । २।१॥

अर्थात्—(क) जहां स्वर (उदात्त आदि) संस्कार (प्रकृति प्रत्यय विभाग) अर्थ के अनुकूल हों, प्रदेश (प्रकृति प्रत्यय) में होने योग्य गुण (विकार) से अन्वित (युक्त) हों।

(ख) अनन्वित अर्थ और प्रदेश (प्रकृति प्रत्यय) में होने के अयोग्य विकार होने पर भी पदों से अन्य पदावयवों का संस्कार किया शाकटायन ने।

(ग) संस्कार (व्याकरण शास्त्रोक्त प्रकृति प्रत्यय विभाग) का आदर=अनुसरण न करे। संशयवाली निश्चय ही वृत्तियां (व्याकरण शास्त्र का कार्य) होती हैं।

अब यदि यास्क के इन उद्धरणों का सूक्ष्म विवेचन किया जाए तो ज्ञात होता है कि यास्क भाषा के शब्दों को संस्कार युक्त मानता है। जिस भाषा के शब्द संस्कार युक्त थे, उसे उन दिनों संस्कृत भाषा कहा गया, इस में कोई सन्देह नहीं।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि लौकिक संस्कृत अति प्राचीन काल से व्यावहारिकी भाषा के रूप में प्रयुक्त हो रही थी। ब्रह्मा जी और स्वायम्भुव मनु आदि का उपदेश भी इसी भाषा में था।

सुनीति कुमार का पूर्व पक्ष—सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है—"पाणिनि स्वयं पश्चिमोत्तर पंजाब का निवासी था और संभवतः ५वीं शती ईसा पूर्व प्रतिष्ठित हुआ था। परन्तु लौकिक संस्कृत भाषा का आरम्भ पाणिनि के काल से दो-एक शताब्दी प्राचीनतर गिना जाता है।[1]

उत्तर पक्ष—उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐतरेय ब्राह्मण प्राचीनतम है। जब उसमें लोक भाषा की अनेक गाथाएं इति पद से उद्धृत मिलती हैं तो यह कहना कि लौकिक संस्कृत पाणिनि से दो एक शताब्दी पहले प्रवृत्त हुई, सर्वथा भूल है। पाणिनि, व्यास और अतएव वर्तमान ब्राह्मण से पूर्वकालिक काशकृत्स्न लोक भाषा का व्याकरण रच चुका था। डाक्टर क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने इसी डर के मारे बिना प्रमाण काशकृत्स्न को पाणिनि का उत्तरवर्ती लिख दिया है।[2] इस काशकृत्स्न से पूर्व भारद्वाज अपना व्याकरण रच चुका था। शालिहोत्र, पालकाप्य, पञ्चशिख और बृहस्पति आदि के ग्रन्थ पाणिनि से सहस्रों वर्ष पूर्व रचे जा चुके थे। उस लोक-भाषा को पाणिनि से दो सौ वर्ष पूर्व प्रवृत्त हुआ मानना आखों पर पट्टी बांधना है। अब वह युग गया कि शालिहोत्र और स्वायम्भुव मनु आदि को "मिथिकल" कह कर कोई काम चल जाएगा?

संस्कृत भाषा के पर्याय नामों का उल्लेख हो गया। लोक-भाषा की प्राचीनता सिद्ध हो गई। लोक भाषा वेद वाक् के साथ ही साथ चल पड़ी, इस के ऐतिहासिक प्रमाण दिये गये। पाश्चात्यों की प्रमाण-रहित गप्पों का संकेत कर दिया गया। अब भाषा-ज्ञान-मानियों की एक और प्रतिज्ञा की परीक्षा की जाएगी।

टिप्पणी—जब ईरान में अवेस्ता की भाषा के साथ-साथ पुरानी फारसी प्रयुक्त होती थी, तो वेद-प्रवचन के साथ पाणिनि से पूर्वकाल की लोक भाषा संस्कृत का अस्तित्व क्यों न माना जाए।

★

१ पृष्ट १७३, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, राजकमल प्रकाशन, देहली, १९५४।

2 pp. 2,77, Technical Terms of Sanskrit Grammar.

द्वितीय अध्याय

योरोपीय भाषा-मत परीक्षा

योरोप के अनेक ईसाई और यहूदी पक्षपातियों ने संसार को मिथ्यात्व की ओर ले जाने का एक और परिश्रम किया। योरोप के भाषा-मत जो न शास्त्रपदवी को प्राप्त हुए और न विज्ञान के आदर्श तक पहुंच पाए, वृथा ही विज्ञान घोषित किए जाने लगे। यदि दम मिथ्यावादी किसी मिथ्या बात को कह कर उसे सत्य बना सकते होते तो योरोपीय लेखकों की चाल चल जाती, परन्तु थी वह सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास के विरुद्ध। हमने योरोपीय युवक वैयाकरणों के भाषा विषयक मत की परीक्षा की। उससे सिद्ध हुआ कि योरोप-प्रदर्षित भाषा-मत विज्ञान के समीप भी नहीं पहुंच पाए। उन में वदतो व्याघात दोष बहुत अधिक हैं। इन दोषों को बताने वाली उस परीक्षा का निष्कर्ष आगे दिया जाता है।

भाषा-विज्ञान अथवा भाषा-मत

पूर्व पक्ष—वर्तमान जर्मन लेखकों का साभिमान कथन है, कि—

१. वे ही "भाषा-विज्ञान" के जन्मदाता हैं। यथा—

(a) Germany is far more than any other country, the birth place and home of language.[1]

अर्थात्—किसी अन्य देश की अपेक्षा जर्मनी सब से अधिक भाषा का घर और जन्म-स्थान है।

(b) Germans of today are the undisputed leaders in all fields of philology and linguistic science.[2]

अर्थात्—आज के जर्मन, "भाषा-विज्ञान" के सब क्षेत्रों में, निर्विवाद नेता हैं।

२. उन के पूर्वज ग्रिम और बाप आदि विद्वानों ने सर्व-प्रथम अनेक भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण लिखे।

३. उन के सतत परिश्रम से यह विषय विज्ञान की पदवी को प्राप्त हो गया और मतमात्र नहीं रहा।

उत्तर पक्ष—हम इन स्थापनाओं को स्वीकार नहीं करते। कारण—

---

1 Lecture 1, W. D. Whitney, Language and the Study of Language, 1867 .
2 p.8, M. Winternitz, History of Sanskirt Literature, 1927.

१. पाश्चात्य देशों में अपभ्रंश भाषा विवेचन का कार्य यद्यपि डेनमार्क आदि देशों में भी हुआ तथापि जर्मनी में बहुत अधिक हुआ, यह हम स्वीकार करते हैं। यह विवेचन यूनान के पाईथोगोरस, अफ्लातून, डेमोक्रीट्स और अरस्तू से थोड़ा अधिक था, इस के स्वीकार करने में भी हमें संकोच नहीं। परन्तु यह विवेचन भर्तृहरि, पतञ्जलि, पाणिनि, व्याडि, कृष्ण द्वैपायन व्यास, यास्क, आपिशलि, काशकृत्स्न, औदुम्बरायण और भरतमुनि के विवेचन से अधिक व्यापक और स्थिर है, यह हम कदापि नहीं मान सकते। भाषा-विज्ञान की जो चरम सीमा भारत में पहुंच चुकी थी, जर्मनी ने अभी तक उसका शतांश भी नहीं जाना।

२. यह सत्य है कि फ्रांस बाप आदि ने कतिपय योरोपीय अपभ्रंश भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण ग्रन्थ लिखे, परन्तु संस्कृत और वेद के यथेष्ट व्याकरण वे नहीं लिख सके। जिस वाकर्नागल के संस्कृत व्याकरण ज्ञान की प्रशंसा पाश्चात्य लोग पदे पदे करते हैं, वह संस्कृत भाषा के स्वरूप को भी भले प्रकार न समझ सका। इस कारण उसने अनेक भयंकर भूलें की हैं। यथा—

(क) वाकर्नागल लिखता है—'भाषा के आधार पर तैत्तिरीय, पञ्चविंश और जैमिनीय ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण से पूर्वकाल के हैं।'[१]

जिस ऐतरेय ब्राह्मण का कर्ता महिदास जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् के प्रवचनकाल में अतीत का व्यक्ति हो चुका था,[२] उसकी भाषा को यथार्थ रूप में न समझ कर वाकर्नागल ने सर्वथा प्रमाण-शून्य और इतिहास विरुद्ध कथन किया है। अधिक से अधिक वाकर्नागल यह लिख सकता था कि तित्तिरि और जैमिनी आदि ब्राह्मण प्रवचन-कर्ता यद्यपि महिदास ऐतरेय से उत्तरकाल के हैं, तथापि उन्होंने अति प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों से भाषा के ऐसे प्रयोग ले लिए हैं, जिन्हें महिदास ऐतरेय ने नहीं लिया।

(ख) वाकर्नागल का कथन है—"चारणों और भाटों की भाषा ही जो न पुरोहित थे और न विद्वान्, महाभारत की भाषा है। यह अधिक जन प्रिय और अनियमित थी।"[३]

व्यास और उनके शिष्य लोमहर्षण, उग्रश्रवा तथा वैशम्पायन आदि पण्डित अथवा विद्वान् नहीं थे, अथवा महाभारत को किन्हीं ग्रामीण भाटों ने गाया, यह कथन भारतीय इतिहास से अपरिचय-प्रदर्शन मात्र है। ऐसा लिखने वाले व्यक्ति को अभी सस्कृत का क, ख, पुनः पढ़ना चाहिये।

पुराण और इतिहासों के लिखने वाले कवि विद्वान् और ब्रह्मवादी थे।

३. यद्यपि जर्मन लोगों का परिश्रम स्तुत्य है तथापि उनके प्रतिपादन, "मत" की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सके। विज्ञान की पदवी से वे कोसों दूर हैं। कारण, विज्ञान के नियम स्थिर, निश्चयात्मक, अपवाद शून्य और देश काल के बंधन से रहित होते हैं। वायु, विद्युत, और वर्षा आदि के नियम देश काल के बंधन से रहित होकर, सर्वत्र समान रूप से लागू होते हैं। परन्तु तथाकथित "भाषा-विज्ञान" के नियमों की अवस्था इस के सर्वथा विपरीत है। यथा—

योरोप के भाषा-विषयक अनुसंधान ने ध्वनि-परिवर्तन संबंधी जो नियम निर्धारित किये हैं,

---

१ पृष्ठ ३०, भाग १, ओल्ड इण्डीश ग्रामेटिक, वाकर्नागल।

२ छा० उप० ३।१६।७।।

३ पृष्ठ ४५, भाग १, ओल्ड इण्डीश ग्रामेटिक

वे अधूरे, एकदेशी और अपवाद-बहुल हैं।[1] अतः भाषा शास्त्र का जानने वाला कोई सूक्ष्म-दर्शी विद्वान् भाषा तथा ध्वनि-विषयक योरोपीय पक्षों को मत ही कहेगा, विज्ञान नहीं।

(क) जो ध्वनि परिवर्तन नियम योरोप की सब भाषाओं पर ही एक समान लागू नहीं हो सके और केवल योरोप के कुछ देशों की भाषाओं पर ही स्वल्प से लागू होते हैं तथा भारतीय भाषाओं पर अधिकांश लागू नहीं होते, उन्हें धक्का जोरी (बलात् अथवा साहस) से सामान्य रूप देकर सारी भाषाओं पर लागू करना वृथा है। यह विज्ञान का काम नहीं है।

(ख) ध्वनि परिवर्तन नियमों के अतिरिक्त दूसरे अनेक नियम तो ध्वनि नियमों से भी अत्यधिक दोष पूर्ण हैं।

(ग) पाश्चात्य तथाकथित "भाषा-विज्ञान" द्वारा स्वीकृत भाषा तथा भाषा समूहों का वर्गीकरण महान् दोष युक्त तथा पक्षपात-पूर्ण है।

(घ) भाषा के संकोच अथवा विकार को विकास-उन्नति का नाम देना मतान्ध लोगों का स्वभाव है। विज्ञान का इस से कोई सम्बन्ध नहीं। देखिए, बाप तथा मतवादी कीथ लिखते हैं—

(a) The language in its stages of being and march of development.[2]

(b) Zend : for this remarkable language, which in many respects reached beyond, and is an improvement on, the Sanskrit.[3]

(c) From the language of the Ṛigveda, we can trace a steady development to classical Sanskrit.[4]

(b) The Sanskrit of the grammarians is essentially a legitimate development from the vedic speech.[5]

अर्थात्—भाषा के अस्तित्व के पड़ाव हैं और वह प्रगति की ओर यात्रा कर रही है।

अवेस्ता की भाषा संस्कृत की अपेक्षा अधिक उन्नत अथवा परिमार्जित है।

ऋग्वेद की भाषा से कालिदास आदि की संस्कृत तक की उन्नति हम स्पष्ट जान सकते हैं।

वैयाकरणों की संस्कृत, निश्चय ही वेद-वाक् से अधिक प्रौढ़ है।

योरोपीय लोगों का अनुगामी पारसी-वंशोत्पन्न तारापुरवाला लिखता है—

Like everything else in the universe, languages are also the product of a fairly complex, though perfectly ordered evolution, from simple types they have

---

१ विज्ञान का लक्षण करते हुए बाबूराम सक्सेना जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि—जब उस (वाद) की अपवाद-रहित सत्ता स्थिर हो जाती है तब उसको विज्ञान कहते हैं। इति। ऐसा लिखकर उन्होंने अपने ग्रन्थ में वर्णित अनेक अपवाद-बहुल नियमों को अपवाद—बहुल नहीं समझा, यह आश्चर्य है। प्रतीत होता है उन्होंने स्वतन्त्र विचार नहीं किया।

2 p. v, Comparative Grammar, Frantz Bopp, London, 1845.

3 p. ix, वही।

4 p. 4. History of Sanskrit Literature, A. B. Keith.　　5 p. 8, वही।

become more and more complex in exact proportion as the race evolved from its primitive simplicity into the complexity of civilised life.[1]

अर्थात् - संसार की प्रत्येक अन्य वस्तु के समान भाषाएं भी पर्याप्त जटिल तथापि सर्वथा क्रमिक विकास की उपज हैं। सरल रूपों से वे अधिकाधिक जटिल हुई हैं। उसी प्रकार, जिस प्रकार जाति अपनी प्रारम्भिक सरल अवस्था से सभ्यता की ओर जटिल होती गई है।

यदि उपर्युक्त पाश्चात्य मत स्वीकार किया जाए, तो अंग्रेजी के 'सुपरिण्टेण्डेण्ट' शब्द से 'प्रयत्नलाघव' द्वारा निष्पन्न भुटण्ड (पंजाब में पूर्वीय चपरासियों द्वारा उच्चरित) रूप अधिक विकसित होना चाहिये। परन्तु इस भुटण्ड रूप को कौन शिष्ट-अंग्रेज स्वीकार करेगा और विश्व में भुटण्ड बोलना प्रारम्भ करेगा।

(ङ) डायलेक्ट्स (बोलियों) से भाषा वर्तमान अवस्था में भी सर्वत्र नहीं बनती। जो इसके विपरीत सदा डायलेक्ट्स से भाषा की उत्पत्ति को सर्वतन्त्र सिद्धान्त मानता है, वह विज्ञान नहीं। वर्तमान काल में भी कई भाषाओं में बोलियों की ओर जाने वाला ह्रास प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। अतः सदा डायलेक्ट्स से भाषा की उत्पत्ति मानना सर्वथा निराधार है।

४. विज्ञान में तथ्य (Facts) वर्णित करके नियम बनाए जाते हैं। योरोपीय भाषा मतों में अनुमान अधिक और तथ्य अपवाद-बहुल हैं। इन दोनों कारणों से ये मत विज्ञान की पदवी को प्राप्त नहीं हो सकते।

अतः मैक्समूलर प्रभृति ने भाषा मत के लिए "भाषा-विज्ञान" शब्द का जो व्यवहार किया[2] है वह आज भी उतना ही असिद्ध है, जितना पहले था। इसी प्रकार मैक्समूलर प्रभृति के चरण चिन्हों पर चलने वाले मंगलदेव जी और बाबूराम जी ने भी बिना गम्भीर विवेचना किए योरोपीय भाषा मतों के लिए भाषा-विज्ञान संज्ञा स्वीकार की है।[3] यह उनकी अदूरदर्शिता की परिचायक है।

पाश्चात्य वर्ण-ध्वनि परिवर्तन नियम—सन् १८८२ में जेकब ग्रिम के जर्मन-भाषा व्याकरण का दूसरा संस्करण छपा। उस में उन्होंने जर्मन वर्ण ध्वनि-परिवर्तन का एक नियम बनाया, जिसे मैक्समूलर आदि ग्रिम-नियम कहते हैं। ग्रिम के अनुसार एक मूल भारोपीय (इण्डोयोरोपीय) भाषा थी,[4] जिसका प वर्ण गाथिक, जर्मन, अंग्रेजी और डच में फ (F) वा व (V) वर्ण हुआ और ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत में प ही बना रहा।

---

1 p. 11, Elements of Language, Taraporewala.

2 The science of language is a science of very modern date, London, 1885, p. 3, Introduction, Lectures on the Science of Language.

३ श्री मंगल देव जी ने, अपने ग्रन्थ का नाम ही "भाषा-विज्ञान" रखा है। इसके अन्दर असिद्ध कल्पनाओं की भरमार है, फिर उस का नाम 'विज्ञान' कैसे ? श्री बाबूराम जी ने भी अपने ग्रन्थ का नाम इसी अन्ध-परम्परा के अनुसार "सामान्य भाषा-विज्ञान" रखा है।

४ योरोपीय भाषाओं की कोई एक माता थी, ऐसा विचार लाइबनिज (१७९० ईसा सन्) के काल से परिपक्व हो रहा था। पीछे से संस्कृत योरोप में जा पहुंची। अनेक योरोपीय अध्यापक संस्कृत को ही एक पदवी देने के लिए उद्यत हो गए। ईसाई और यहूदी पादरियों को यह बात अखरी। उन्होंने इस कल्पित इण्डोयोरोपीयन (भारोपीय) भाषा का अस्तित्व येन-केन-प्रकारेण स्वीकार कर लिया, और संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जर्मन और अंग्रेजी आदि भाषाओं को उस कल्पित भारोपीय भाषा का रूपान्तर कहा।

ग्रिम नियम की त्रुटि—ग्रिम का यह नियम त्रुटिपूर्ण है। कारण यह एक देशीय है। यथा—

(क) ग्रिम नियम के अनुसार संस्कृत शब्दों में श्रूयमाण 'प' श्रुति लैटिन में भी प ही रहनी चाहिए, परन्तु इसके सर्वथा विपरीत, वह कहीं कहीं फ (F) ध्वनि में परिर्वतित देखी जाती है। यथा—संस्कृत का पलाशक शब्द लैटिन में (Butea Froidosa) हो गया है।

(ख) इसी प्रकार संस्कृत पदों के आदि और मध्य में होने वाली प ध्वनि अंग्रेजी में फ ध्वनि में परिवर्तित होनी चाहिए, परन्तु अंग्रेजी में वह अनेक स्थानों पर फ रूप में परिर्वतित न होकर प रूप में उपलब्ध होती है। यथा—

	संस्कृत	अंग्रेजी		पंजाबी	अन्य योरोपीय भाषा
१	पराग	pollen	(पोलन)		
२	परिक्री	purchase	(पर्चेज़)		
३	परितातृ	protector	(प्रोटैक्टर)		
४	पीत	pale	(पेल)	पीला	
५	पीड़ा	pain	(पेन)		
६	कल्पन	clipping			
७	कल्पक				Lith. Karpikas
८	स्पश	spy	(स्पाई)		Lat. Spex
९	प्लीहन	spleen	(स्प्लीन)		

इन उदाहरणों से ग्रिम नियम की अव्यापकता स्पष्ट है।

भारतीय अपभ्रंशों में 'प' के रूपान्तर—यदि भारतीय प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में ध्वनि परिवर्तन का व्यवहार देखा जाए, तो पता लगता है कि संस्कृत पदों में विद्यमान 'प' वर्ण संस्कृत से विकार को प्राप्त हुई प्राकृत आदि भाषाओं में कुछ स्थानों पर, विशेष कर पदादि में 'फ' और अन्यत्र 'च' हो जाता है, तथा कहीं कहीं 'प' ही रहता है। यह तथ्य भारत युद्ध से बहुत पूर्व भरत मुनि ने जान लिया था। पर शोक है कि पक्षपाती योरोपीय लेखकों ने कभी इस सत्य का नाम तक नहीं लिया।

ग्रिम यत्किंचित् अंश में भरत मुनि के चरण चिन्हों पर—ग्रिम से सहस्रों वर्ष पूर्व भरत मुनि ने (भारत युद्ध से ४५०० वर्ष पूर्व) नाट्य शास्त्र के सत्रहवें अध्याय में संस्कृत से विकार को प्राप्त हुई प्राकृत भाषा के रूपों में उल्लेख करते हुए निम्नलिखित कारिकांश कहे हैं—

आपानं आवणं भवति पकारेण वत्व (नत्व) युक्तेन।
परुषं फरुसं विद्यात् पकारवर्णोऽपि फत्वमुपयाति ॥१७।१५-१६॥

अर्थात्—संस्कृत के आपान शब्द का प्राकृत में आवाण रूप हो जाता है। परुस का फरुस बनता है और कहीं कहीं 'प' अपने रूप में भी रह जाता है। अन्तिम तथ्य अपि शब्द से स्पष्ट है।

'प' को 'फ'—भरत मुनि प्रदर्शित रूपान्तरों के कतिपय उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

१	परशु	फरसा	पंजाबी
२	परिखा	फडिहा	रावणवहो १२।७५॥
३	परिख	फडिह	,, ५।५४॥

४	परुष[1]	फरुस	नाट्यशास्त्र १७।२६।। धम्मपद, रावणवहो
५	परुषासि	फरुसासि	लीलावई ११८८
६	परूषक	फालसा	सुश्रुत पर डल्हण टीका
७	पर्शुका	फासुका	धम्मपद (पाली)
८	पलित	फलित	धम्मपद
९	पाश	फांसी, फास्नु	नेपाली

भविसियत्त कहा के बड़ोदा संस्करण का सहकारी सम्पादक पाण्डुरंग दामोदर गुणे (सन् १९२३), फंस का मूल स्पर्श बताता है।[2] यह भ्रान्ति रावणवहो (इण्डेक्स पृष्ठ १३७) के सम्पादक सीगफ्राईड गोल्डश्मिट के अन्धाधुन्ध अनुकरण का फल है। गुणे का भाषा ज्ञान अपने गुरुओं से विभिन्न कैसे हो सकता था।

१०	पांसन	फंसण	भविसियत्त कहा, पृष्ठ १४९
११	पृषत	फुसी-फुसरो	नेपाली
१२	प्रुषित	,, ,,	,,
१३	स्पर्श	फरिस	रावणवहो
१४	पाट[3]	फाड़ (हिन्दी)	पाड़ (पंजाबी)
१५	पाटन[4]	फाड़ना ,,	

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'प' के आगे जब प्रायः 'र' और 'ल' की श्रुति होती है, तब 'प' को 'फ' हो जाता है।

'प' को 'व'

१	त्रिपथगा	तिवहगा	रावणवहो सूची पृष्ठ १६३
२	विटप	विडव	,, ,, ,, १८५
३	व्यपदेश	ववएस	,, ,, ,, १८५
४	व्यापार	वावार	,, ,, ,, १८५
५	पादप	पाअव	,, ,, ,, १७१
६	भिन्दिपाल	भिण्डिवाल	वररुचि प्राकृत सूत्र ३।४६
७	कपिल	कविल	सन्मतितर्क कारिका

'प' का 'व' रूपान्तर प्राकृत आदि में अभी तक हमें पदादि में नहीं मिला।

आश्चर्य है कि संस्कृत 'पितृ' शब्द के लिए जर्मन Vater शब्द में ध्वनि यद्यपि 'फ' की है, पर लिपि में V (व) ही है।

ऊपर उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट है कि ग्रिम की अपेक्षा उससे सहस्रों वर्ष पूर्व लिखा गया भरत मुनि का नियम अधिक व्यापक तथा यथार्थ है। भरत का नियम प्राकृत-भाषा विषयक है। यह नियम सब अपभ्रंशों पर समान रूप से चरितार्थ न हो सकेगा।

---

१ परुष-परिघ-परिखासु फः। वररुचि, प्राकृत सूत्र २।३६।। २ पृष्ठ १४९।

३ पाटयति का घञन्त रूप। ४ विपाटनात्, निरुक्त ६।२६।।

(ग) इसी प्रकार ग्रिम ने लिखा है कि भारोपीय-भाषा के 'क' वर्ण को गाथिक, जर्मन और अंग्रेजी भाषा में 'ह' वा 'ह्व' होता है। ग्रीक, लेटिन और संस्कृत में 'क' ही रहता है। तथा भारोपीय भाषा का 'त' वर्ण गाथिक जर्मन, अंग्रेजी में 'थ' हो जाता है, परन्तु ग्रीक, लेटिन और संस्कृत में 'त' ही रहता है।

ग्रिम का यह नियम भी ठीक नहीं। अंग्रेजी आदि भाषाओं के बहुत से पदों में 'क' का संस्कृतवत् क ही रहा है, 'ह' वा 'ह्व' नहीं हुआ। यथा—

	संस्कृत	अंग्रेजी
१	क्रूर	Cruel = क्रूएल
२	कपाल	= कप
३	क्रमेल	Camel = कैमल

मोनियर विलियम्स अपने संस्कृत अंग्रेजी कोष में 'क्रमेल' शब्द पर लिखता है—Borrowed from Greek. अर्थात्—संस्कृत का 'क्रमेल' शब्द ग्रीक भाषा से उधार लिया गया है।

अपने कल्पित भाषा नियमों को सच्चा सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य लेखक इसी प्रकार की कल्पना करते हैं।

	संस्कृत	अंग्रेजी
४	कर्तन	Cutting = कटिंग
५	क्रुक्त	Crooked

इन उदाहरणों में 'क' का 'क' ही बना रहा, 'प' वा ह्व नहीं हुआ।

इसी प्रकार 'त' को भी अंग्रेजी आदि में सर्वत्र 'थ' नहीं होता। यथा—

१	तटाक=तडाग	Tank=टैंक
२	तरु	Tree=ट्री

स्मरण रहे कि संस्कृत के व्यापक प्रभाव से भयभीत होकर योरोपीय लेखकों ने शनैः शनैः इस बात का यत्न आरम्भ कर दिया था कि योरोपीय भाषाओं के अनेक शब्दों की सहायता संस्कृत से न मानी जाए। अतः योरोपीय भाषाओं के जो नए कोष बने, उनमें बहुत थोड़े शब्दों की संस्कृत शब्दों से तुलना की गयी।

वस्तुतः अपभ्रंश भाषाओं के वर्ण परिवर्तन नियम कभी भी व्यापक नहीं होंगे।

ग्रिम-नियमों के अपवाद—ग्रिम की तीन प्रधान भूलें हमने दिखा दीं। अधिक परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि ग्रिम-नियम अपवाद बहुल हैं।[१] कालान्तर में ग्रासमैन ने इनका कुछ संशोधन किया। इससे अपवाद कुछ न्यून हुए, पर अधिक न्यून नहीं। पश्चात् डेनिश विद्वान् कार्ल अडोल्फ वर्नर (१८४६ से १८९६ ईसा) ने सन् १८७५ में एतद्विषयक एक और संशोधन मुद्रित कर विशेष ख्याति

१ पृष्ठ २६५, २६६, भाषा विज्ञान, डा० मंगल देव, सन् १९५१।

प्राप्त की।[1] पर अपवादों को वे भी न्यून नहीं कर पाए। तदनन्तर तालव्य नियम का आविष्कार घोषित किया गया। इसकी डिण्डिभी बहुत पीटी गई। योरोप के भाषाविदों को इस पर बड़ा गर्व है। इस एक नियम की निम्न परीक्षा करने से ध्वनि परिवर्तन के सारे इतिहास पर और योरोपीय अन्वेषकों की योग्यता पर विशेष प्रकाश पड़ेगा।

तालव्य-नियम की विवेचना

तालव्य-नियम का मूलाधार (प्रथम भाग)—पूर्व मत—प्रारम्भ में योरोप के कुछ लेखकों का विचार था कि संस्कृत के जिन शब्दों में 'अ' स्वर का प्रयोग है और उसी 'अ' के स्थान में ग्रीक, और लैटिन में जहां 'ए', 'ओ' का रूप मिलता है, वहां निश्चय ही ग्रीक और लैटिन में संस्कृत 'अ' का ही विकृत रूप 'ए', 'ओ' हैं।

उत्तर कालीन मत—तत्पश्चात् नव-आविष्कृत तालव्य नियम के अनुसार योरोप के भाषाविदों ने यह मत चलाया कि संस्कृत से पूर्व एक भारोपीय भाषा थी। उस में वर्तमान अ, ए और ओ ध्वनियों का संस्कृत में केवल 'अ' रूप रह गया और 'ए, ओ', ध्वनियों का लोप अथवा अ-ध्वनि में निमज्जन हो गया। इस के विपरीत ग्रीक और लैटिन ने मूल भाषा की ए और ओ ध्वनियों को भी सुरक्षित रक्खा।[2]

इन मतों में से पुरातन विचार ही वस्तुतः सत्य था। इसके अनेक प्रमाण हैं कि ग्रीक लोग संस्कृत की 'अ' ध्वनि को बहुधा 'ए' और 'ओ' के रूप में बोलते थे। अतः योरोपीय भाषाविदों की नवीन कल्पना प्रमाण-शून्य है। निम्नलिखित उदाहरण इस नवीन कल्पना का खण्डन करते हैं—

	संस्कृत नाम	प्राकृत	ग्रीक रूप
१	मधु[3]		मेथु (Methu)[4]
२	मथुरा	महुरा	मेथोरा (Methora)[5]
३	शतद्रु		हेजिड्रस (Hesidrus,[6] Zadadros)

---

१ जैस्पर्सन लिखता है—It was Verner who first made men properly observe the sweeping role which accent plays in all linguistic changes, as he himself put it a few years later: 'We are at last on the way to recognise that accent does not, like the accentuation marks, hover over words in a careless apathy but as their living and life-imparting soul lives in and with the word and exerts an influence on the structure of the word and thereby of the whole language, such as we seem hitherto to have only had the faintest conception of.' p. 16, Linguistica, 1933.

2 p. 63, Uhlenbeck C.E.

३ यह मत कि ग्रीक भाषा के 'मेथु' शब्द का किसी प्राचीन भारोपीय भाषा से सम्बन्ध है और संस्कृत भाषा के 'मधु' शब्द के उच्चारण में उसी की 'ए' ध्वनि की 'अ' ध्वनि हुई है, तो यह कहना उपहास-जनक होगा, क्योंकि भारतीय मथुरा शब्द का ग्रीक-उच्चारण 'मेथोरा' स्पष्ट ही भारोपीय विचार पर तुषारापात है।

4 p. 87, Uhlenbeek C. C., M. S. Ph. 1948.

5 p. 142, Indika of Megasthenes. 6 p. 130, ibid.

४	दशार्ण[1]	दसोन, धसन	दोसोर्न	(Dosorna,[2] Dosaron,[2] Dosarene)[3]
५	माही[4]		मोफिस	(Mophis)[5]
६	यमुना	जउणा (भवि०कहा) जमना (हिन्दी)	जोमनेस	(Jomanes,[6] Diamuna,[7] Iomanes)[8]

पूर्व-निर्दिष्ट उदाहरणों में प्रथम दो शब्द मधु और मथुरा हैं, उनके म वर्ण के उत्तरवर्ती 'अ' को ग्रीक में 'ए' हो गया है। और शतद्रु शब्द के श को ह और उसमें उत्तरवर्ती 'अ' को 'ए'। इसी प्रकार दशार्ण शब्द के द के उत्तरवर्ती 'अ' और श के उत्तरवर्ती 'अ' को ओकार हो गया है। तथा माही शब्द में म वर्ण के उत्तरवर्ती 'आ' और यमुना के य वर्ण के उत्तरवर्ती 'अ' को 'ओ' हुआ है। ग्रीक 'जोमनेस' प्राकृत जउणा का रूपान्तर नहीं है। ग्रीक रूप में म वर्ण विद्यमान है। अतः वह स्पष्ट संस्कृत शब्द यमुना का रूपान्तर है।

संस्कृत पदों में प्रयुक्त 'अ' ध्वनि के 'ए' और 'ओ' रूपान्तर केवल ग्रीक भाषा में नहीं होते, अपितु उच्चारण-दोष के कारण संस्कृत से साक्षात् विकृत भारतीय अपभ्रशों में भी हैं। यथा—

	संस्कृत	प्राकृत आदि	
अ को ए—१	अत्र	एत्थे	पंजाबी
२	अत्रान्तरे	एत्थंतरि	(भविसियत्त कहा, पृ० ३९)
३	अरे	ए	
४	कदली	केला	
५	त्वत्तः	तेत्थों	(पंजाबी)
६	मत्तः	मेत्थों	,,
७	यथा	जेम	(भविसियत्त कहा, पृष्ठ ६)
अ को ओ—१	असौ		ओ, ओह
२	अवपतन	ओवअण	(रावणवहो)

---

१ योरोपियन लेखकों के अनुसार यदि कल्पित भारोपीय भाषा का अस्तित्व संसार के सिर पर मढ़ा ही जाए तो संस्कृत भाषा के 'दशार्ण' शब्द से पहले किसी और भाषा में 'दोसोरोन' रूप मानना पड़ेगा। यह उपहास की पराकाष्ठा होगी।

2 pp. 70, 71, 80, 104, 171-173, Ptolemy.

3 p. 47, Periplus of Erithrean Sea.

४ टालेमी के ग्रन्थ का सम्पादक सुरेन्द्रनाथ मजूमदार शास्त्री अपने टिप्पण पृष्ठ ३४३ पर लिखता है— "इस शब्द के ग्रीक रूप से अनुमान है कि पुरातन नाम "माभी" था। टालेमी से ३३०० वर्ष पहले जैमिनि ब्राह्मण में 'माही' रूप ही है। इसमें दूसरी अड़चन भी है कि "माभी" शब्द की कल्पना कर लेने पर भी "मा" के "आ" का ग्रीक में "ओ" कैसे हो गया।

5 p. 38, 343, Ptolenny.

6 p. 130, Megasthenes.

7 p. 358, Notes, Ptolemy.

8 p. 145, Megasthenes.

३	अवकाश	ओआस	(रावणवहो)
४	अवश्याय	ओस	
५	महत्	Mohat[1]	

उनका कथन है कि 'अव' में अ के उत्तरवर्ती व के योग से प्राकृत में 'ओ' हुआ है। वस्तुतः यह ठीक नहीं। यहां 'अ' को ही 'ओ' हुआ है और उत्तरवर्ती 'ओ' सदृश 'व' ध्वनि का लोप। क्योंकि अनेक स्थानों में 'अ' के उत्तर 'व' न होने पर भी 'अ' को 'ओ' और जहां अ से पूर्व 'व' ध्वनि होती है वहां 'अ' को 'ओ' हो जाने पर भी 'व' ध्वनि का लोप नहीं होता और वह कहीं-कहीं 'ब' में परिवर्तित हो जाती है। यथा—

६	वट	बोड़	(पंजाबी)
७	यष्टि	सोटी	
८	खनन	खोदना	
९	खर	खोता	(पंजाबी)

कौन नहीं जानता कि बंगाली लोग आज भी अकार का उच्चारण बहुधा ओकार सदृश करते हैं।

ध्वनि शास्त्र का असाधारण ज्ञाता आपिशलि

वस्तुतः एक 'अ' ध्वनि ही देश काल और परिस्थिति के कारण उत्पन्न हुई उच्चारण विकलता से इ, उ, ए और ओ आदि ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती है। इस तथ्य के कारण का निर्देश आज से लगभग पांच सहस्र वर्ष से पूर्ववर्ती आपिशलि ने अपने शिक्षा ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से किया है। वह अकार के विभिन्न उच्चारण-स्थानों का निर्देश करता हुआ लिखता है—**सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके।** अर्थात्—मुखान्तर्गत उच्चारण के सब स्थान अवर्ण के स्थान होते हैं। ऐसा कई एक आचार्यों का मत है। इससे स्पष्ट है कि जब उच्चारण विकलता के कारण 'अ' का उच्चारण तालु, ओष्ठ दन्ततालु अथवा दन्तोष्ठ से होगा तब वह निस्सन्देह क्रमशः इ, उ, ए और ओ ध्वनि के समान ही उच्चरित होगा। इसके लिए निम्न उदाहरण विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) संस्कृत में '**अग्निः**' शब्द है। लैटिन में '**इग्निस्**', पुरानी लिथूएनियन में '**उङ्निस्**' और स्लेवोनिक में '**ओग्नि**'।

(ख) इसी प्रकार संस्कृत में '**रथः**', शब्द है, लिथूएनियन में '**रतस्**' और लैटिन में '**रोथ**' है।

(ग) अंग्रेजी के दो शब्द हैं एक octapody (ओक्टापोडी) = अष्टापदी और दूसरा Quadruped क्वाड्रूपेड—चतुष्पदी। इन शब्दों में पद के पवर्ण के उत्तरवर्ती 'अ' को एक स्थान में 'ओ' हुआ है और दूसरे स्थान में 'ए'।

(घ) संस्कृत पद शब्द के लिए लैटिन में '**पेदिस्**' और ग्रीक में '**पोद**' है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत की अ ध्वनि ही उच्चारण विकलता के कारण इ, उ, ए और ओ आदि विभिन्न ध्वनियों का रूप धारण कर रही है। जो योरोपियन अपने 'ध्वनिशास्त्र' के ज्ञाता होने की बड़ी-बड़ी डींग मारते हैं उन्होंने यह नियम क्यों उद्धृत नहीं किया?

---

1 p. 49, History of Hindostan, Thomas Maurice, 1820.

बाप का मत—संस्कृत की अ ध्वनि के विषय में बाप का भी यही मत था। सन् १८४५ में लण्डन में मुद्रित तुलनात्मक व्याकरण के पृष्ठ १३ पर लिखा है—The simple maxim laid down elsewhere by me, and deducible only from the Sanscrit, that the Gothic O is the long of A.[1] अर्थात्—सरल सूत्र जिनका मैंने अन्यत्र उल्लेख किया है और जिसका अनुमान संस्कृत से ही हो सकता है कि गाथिक भाषा का 'ओ' संस्कृत 'अ' का ही लम्बा रूप है।

इससे अधिक आवश्यक बात बाप ने आगे लिखी है—The Indian system of vowels, pure and Consonantal and other altering influences, is of extraordinary importance for the elucidation of the German Grammar : on it principally rests my own theory of vowel changes which differs materially from that of Grimm.[2]

अर्थात्—शुद्ध और व्यंजन मिश्रित और दूसरे परिवर्तन-कारी प्रभाव वाला स्वरों का भारतीय प्रकार जर्मन व्याकरण ही व्याख्या के लिए असाधारण महत्व का है। इसी पर स्वर परिवर्तन का मेरा मत प्रधानता से आश्रित है। मेरा मत ग्रिम से अधिक भिन्न है।

ग्रीक उच्चारण में संस्कृत के मूल स्वरों के सन्धि स्वर—संस्कृत के मूल अ इ उ स्वरों के ग्रीक उच्चारण में सन्धि स्वर बनाए जाने की रुचि बहुधा देखी जाती है। यथा—

		भारतीय	ग्रीक
१	a को oi	कन्तल Kantala	=Kantaloi
२	a को ai	अम्बष्ठ Ambashṭha	=Ambastai[3]
३	u को ou	पुलिन्द Pulinda	=Poulindai[4]
४	a को oe	उदुम्बर	=Odomboeroe
५	i को ei	अहिच्छत्र	=Adeisathra

इस विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि और ग्रीक तथा लैटिन की 'ओ' ध्वनि की उत्पत्ति के लिए किसी मूल भारोपीय भाषा की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। वस्तुतः संस्कृत की मूल 'अ' ध्वनि ने ही ग्रीक और लैटिन आदि में उच्चारण-विकलता के कारण प्रायः 'ए' और 'ओ' रूपों को धारण किया है।

बाप को इस सत्य का ज्ञान—बाप लिखता है—In Greek the Sanscrit a becomes a, e or o, without presenting any certain rules for choice between these three vowels.[5]

अर्थात्—संस्कृत अ ग्रीक में अ, ए, ओ हो गया है। इस विषय में निश्चित नियम नहीं है।

प्राचीन संस्कृत के अर्ध (ह्रस्व) ए, ओ—हम इस प्रसंग में एक तथ्य और प्रकट कर देना चाहते हैं कि अति प्राचीन संस्कृत में अर्ध (ह्रस्व) 'ए-ओ' विद्यमान थे। ध्वनि-शास्त्र का अप्रतिम आचार्य आपिशलि अपने शिक्षा सूत्र में लिखता है—छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति। अर्थात्—छन्दोगों (सामवेदियों) में राणायनीय चरणान्तर्गत सात्यमुग्र शाखा वाले 'ए, ओ' को ह्रस्व पढ़ते हैं।

---

1 p. xiii.
2 p. xiii, Note.
3 pp. 160-161, Ptolemy.
4 pp. 156-157, Ptolemy.
5 p. xiii, Notes.

शौरसेनी और अर्धमागधी के अर्ध ए, ओ—शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृत में भी अर्ध ए, ओ का प्रयोग होता है। संभव है ऐसे शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत के उन प्राचीन प्रयोगों और प्रदेशों से हो जिनके अति प्राचीन उच्चारण में अर्ध ए, ओ थे। इसलिए यह भी संभव है कि ग्रीक, लैटिन, जर्मन और अंग्रेजी आदि के वे शब्द जिनमें अर्ध ए, ओ ध्वनियां विद्यमान हैं, उनमें से कतिपय शब्दों के मूल संस्कृत शब्दों में 'ए, ओ' का प्रयोग रहा हो।

मैक्सवालेसर और ए, ओ नियम की व्यर्थता—अध्यापक कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्राक्कथन में सूचना दी है कि मैक्सवालेसर ने भी इस विषय पर एक लेख लिखा है। तदनुसार संस्कृत का मूल 'अ' ही कई भाषाओं में 'ए, ओ' का रूप धारण कर लेता है। अतः किसी मूल भारोपीय भाषा को मानकर उसमें संस्कृत अ के स्थान में 'अ', 'ए, और 'ओ' का अस्तित्व मानना अनावश्यक है। अध्यापक कीथ ने लिखा है कि मैक्सवालेसर का लेख गम्भीर विचार-योग्य है। हम उस लेख को नहीं पढ़ पाए, पर हमारे परिणाम इसी सिद्धान्त पर पहुंचे हैं। कीथ लिखता है—Very interesting and worthy of serious consideration in the field of comparative philology are the arguments recently adduced by Professor Max Wallcser to refute the at present aceepted theory regarding the merger in Sanskrit of the three vowels (a, e, o) into a, and to show that Sanskrit preserved as late as the seventh century A. D. the labio velar consonants.[1]

तालव्य-नियम का उत्तर-भाग—डा० मंगलदेव ने इस अंश का निम्नलिखित शब्दों में संक्षेप किया है—"भारत-यूरोपीय मूल भाषा के कण्ठ-स्थानीय स्पर्श (मूल कण्ठस्थानीय तथा साधारण), जिनके आगे कोई तालव्य स्वर (ॅ आदि) आता था, भारत इरानी भाषा-वर्ग में तालव्य व्यञ्जन के रूप में पतिवर्तित हो गये, और जहां ऐसा नहीं था वहां साधारण कण्ठ-स्थानीय स्पर्श ही रहे हैं।"[२]

तालव्य नियम के आधार का खण्डन पूर्व हो गया।[३] भारोपीय मूल भाषा के अस्तित्व को जो नहीं मानता और उसके अस्तित्व में दिये गये लूले लंगड़े उदाहरणों का जो कठोर खण्डन करता है, उसके प्रतिपक्ष में भारोपीय मूल भाषा को मानकर ध्वनि आदि के किसी नियम का बनाना सर्वथा अपर्याप्त है। अतः इस आधार पर ठहरा हुआ तालव्य-नियम स्वतः खण्डित हो जाता है और मूल भारोपीय भाषा की कल्पना भी नष्ट हो जाती है। निश्चय ही ग्रीक, लेटिन, गाथिक और अंग्रेजी आदि म्लेच्छ भाषाएं संस्कृत के ही उत्तर कालीन रूपान्तर हैं। अब वे प्रमाण जो तालव्य नियम के उत्तर भाग की परीक्षा से सम्बन्ध रखते हैं, उपस्थित किए जाते हैं।

'अ' ध्वनि का संस्कृत के सर्वस्वीकृत अपभ्रंशों में ए, ओ आदि के रूपों में परिवर्तन—जैसा पूर्व सिद्ध कर चुके हैं, तदनुसार इस बात के मानने में अणुमात्र सन्देह नहीं कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि ही भारतीय भाषाओं तथा ग्रीक और लेटिन आदि में बहुधा 'ए' और 'ओ' का रूप धारण करती है। अतः संस्कृत के 'पञ्च' शब्द का ग्रीक में 'पेन्ते' और लेटिन में 'क्विक्वे' रूप बना है। ग्रीक शब्द में 'प' के उत्तरवर्ती 'अ' को 'ए' और 'च' को 'त' तथा अगले 'अ' को 'ए' हो गया। इसी प्रकार अंग्रेजी में 'पञ्चक' का 'पेन्तद' (Pentad) अपभ्रंश बना है।

---

1 p. xxiv, xxv, Preface, H. S.L., Keith. AB.

२ पृ० २७२, भाषा विज्ञान, सन् १९५१। ३ पृ० ३५।

'च' का 'क' में रूपान्तर—संकृत की 'च' ध्वमि योरोपीय, भाषाओं में बहुधा 'क' ध्वनिवत् उच्चरित होती है। यथा—

१	चतुर	लैटिन में—Quatuor (क्वातुओर)
२	चतुर्दश	,, ,, Quatuor decimas (क्वातुओर डेसिमस)
		अंग्रेजी में—Quarto deciman (क्वार्टो डेसिमन्)
३	चतुष्पाद्	अंग्रेजी में—Quadruped (क्वाडरूपेड)
४	चषक (शराब का प्याला)	Quaff (क्वाफ)
		गैलिक में—Quach, Quaich; आईरिश में Cuach
५	चमर	लैटिन में—Cauda (पूंछ अर्थ में) अंग्रेजी में Qucu इसका उच्चारण प्रायः 'कू' होता है।

स्मरण रहे कि योरोप में लैटिन का उच्चारण बहुत भ्रष्ट होता रहा है। जैस्पर्सन लिखता है—Latin was chiefly taught as a written language (witness the totally different manner in which Latin was pronounced in the different countries, the consequence being that as early as the sixteenth century, French and English scholars were unable to understand each other's spoken Latin).[1]

परिवर्तन का प्रधान कारण लिपि-दोष—संस्कृत भाषा के अनेक पदों में उच्चरित 'च' वर्ण का योरोपीय भाषाओं में जो 'क' रूप में परिवर्तन हुआ है, इसका प्रधान कारण योरोपीय लिपि की अपूर्णता है।

ch के कारण रूपान्तर—संस्कृत का च रोमन लिपि में ch के रूप में लिखा जाता है। योरोप की प्राचीन भाषाओं में ch का उच्चारण 'च' 'क' और 'ख' तीन प्रकार का रहा है। यथा—

१	chain (चेन) शब्द में 'च'।	अंग्रेजी
२	(क) Chaldea (कालडिया) शब्द में 'क'।	
	(ख) chrono (क्रोनो) शब्द में 'क'।	अंग्रेजी
३	(क) nicht (निख्ट) शब्द में 'ख'।	जर्मन
	(ख) tochter (टोख्टर) शब्द में ख।	,,

'क' का 'च' रूप में परिवर्तन—जैसे संस्कृत पदस्थ 'च' अपभ्रंश भाषाओं में 'क' रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार संस्कृत पद में विद्यमान 'क' वर्ण भी क्वचित् 'च' रूप में परिवर्तित देखा जाता है। यथा—

१ संस्कृत 'किलातक' का हिन्दी में 'चिचड़ा'।

२ ,, कट ,, ,, में 'चटाई'।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'च' ध्वनि का 'क' ध्वनि में और 'क' ध्वनि का 'च' ध्वनि में परिवर्तन होता रहा है।

---

1 p. 23, Language : Its Nature, Development and Origin.

'प' ध्वनि का 'क' में रूपान्तर—संस्कृत की 'प' ध्वनि भी योरोपीय भाषाओं में क्वचित् 'क' ध्वनिवत् उच्चरित होती है। यथा—संस्कृत 'प्रश्न' शब्द का अंग्रेजी में Question (क्वेश्चन) और लैटिन में quoetion हो जाता है।

'क्वचित्' शब्द का प्रयोग हमने इसलिए किया है कि 'प' ध्वनि का 'क' ध्वनि में भ्रंश और विशेषकर पदादि में बहुत अल्प दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतया पदादि में विद्यमान संस्कृत की 'प' ध्वनि लैटिन में भी 'प' ही रहती है। यथा—पति=पोटिस्, पथिन्=पोंट-एम, पद्=पेस, पेद-इस।

उपर्युक्त ध्वनि परिवर्तनों के उदाहरणों से स्पष्ट है कि सस्कृत की 'प' और 'च' दोनों ध्वनियों का योरोपीय भाषाओं में qu के रूप में परिवर्तन होने का स्वभाव देखा जाता है। अतः संस्कृत 'पञ्च' शब्द ही लैटिन में 'क्वीक्वे' के रूप में परिवर्तित हुआ,[1] इसमें सन्देह नहीं।

आपिशलि भी कवर्ग, चवर्ग और पवर्ग के परस्पर ध्वनि परिवर्तन नियम को जानता था।

जब संस्कृत की 'अ' ध्वनि भारतीय तथा योरोपीय उच्चारण में 'ए' रूप में परिवर्तित हो जाती है (जैसा पूर्व लिख चुके हैं) और 'च' ध्वनि 'क्व' रूप में, तब पञ्च, पेन्ते और क्विक्के शब्दों के लिए किसी मूल भारोपीय 'पेंके' शब्द की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। संस्कृत पञ्च शब्द से ही ग्रीक 'पेन्ते' और लैटिन 'क्विक्वे' रूप बने हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि ग्रीक, जर्मन, अग्रेजी आदि योरोपीय अपभ्रंश भाषाओं और हिन्दी, पञ्जाबी आदि भारतीय अपभ्रंश भाषाओं में जो ध्वनि परिवर्तन देखा जाता है उसे किसी सर्वाङ्ग पूर्ण नियम में बांधा नहीं जा सकता।

अनेक भारोपीय भाषाविद् और ध्वनि-नियमों की अपूर्णता—योरोपीय भाषाएं म्लेच्छ भाषाएं हैं। भाषाओं के इतिहास में उनका वही स्थान है जो अपभ्रंश भाषाओं का भारतीय विकृत भाषाओं में। भारतीय विद्वानों ने विभिन्न प्राकृतों के लिए कुछ नियम बना दिए, परन्तु अपभ्रंशों का नियम में बांधना असंभव समझा। कारण, इन भाषाओं के विकार नियमों में पूर्णतया बांधे नहीं जा सकते। एक एक शब्द के दस-दस और इससे भी अधिक रूपान्तर हुए हैं। इन रूपान्तरों में नियम कुछ दूर तक थोड़ा सा साथ देते हैं, परन्तु व्यापकता से नहीं।

इसके विपरीत कल्पित भारोपीय भाषा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए योरोप के 'नवयुवक वैयाकरणों' ने ध्वनि आदि नियमों के व्यापक होने का जो गीत गाया, उसे उन्हीं के भाई सार्वत्रिक नहीं मानते। अतः उन के एतद्विषयक मत नीचे दिए जाते हैं—

१ बिना सोचे समझे योरोप के चरण-चिन्हों पर चलने वाला शास्त्री मंगलदेव लिखता है—

(क) दो सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में जो परस्पर भेद होते हैं, प्रायः उनको निश्चित नियमों में बांधा जा सकता है। भाषा विज्ञान, पृष्ठ ९।

(ख) वर्णों के विकार बहुत अंशों तक कुछ निश्चित नियमों का अनुसरण करते हैं। वही, पृष्ठ १३९, २६५।

---

१ कल्पित मूल भारोपीय भाषा में 'पञ्च' के मूल 'पेङ्क्वे' शब्द की कल्पना करते हुए पाश्चात्य विद्वानों ने भी लैटिन के 'क्विक्वे' शब्द में 'प' का qu रूप में परिवर्तन स्वीकार किया है।

(क) मंगलदेव जी का यह लेख वदतो व्याघात दोष पूर्ण है। एक ओर उन्हें उन अध्यापकों का भय था जिन से उन्होंने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त की थी। इसलिए वे 'निश्चित नियमों में बांधा जा सकता है' ऐसा लिखते हैं और दूसरी ओर उन निश्चित नियमों के बहुधा–दृष्ट शतशः अपवाद उन्हें ऐसा स्पष्ट लिखने से रोकते थे। अतः उन्होंने 'प्रायः' शब्द भी लिख दिया। 'प्रायः' और 'निश्चित नियमों' इन परस्पर विरुद्ध पदों का एक ही वाक्य में प्रयोग कैसे हो सकता है।

(ख) मंगलदेव जी का यह लेख भी वैसा ही दोष-पूर्ण है। जो वर्ण-विकार 'कुछ नियमित नियमों' का भी पूर्ण रूप से अनुकरण नहीं करते, उन अपूर्ण नियमों पर कल्पित किए मत भला विज्ञान की कोटि में कैसे आ सकते हैं ?

२. ध्वनि–नियमों की अपूर्णता के विषय में जैस्पर्सन लिखता है—

(क) "but I want to point out the fact that nowhere have I found any reason to accept the theory that sound changes always take place according to rigorous or 'blind' laws admitting no exceptions." Jesperesn, p. 295.

अर्थात्—मैं इस तथ्य का संकेत कर देना चाहता हूं कि मैंने कहीं भी ऐसा कारण नहीं पाया कि इस मत को स्वीकार करूं कि ध्वनि–परिवर्तन सदा कड़े नियमों के अनुकूल होता है और उस में अपवाद नहीं होते।

(ख) जैस्पर्सन पुनः लिखता है—

"For some years a fierce discussion took place on the principles of linguistic science, in which young-grammarians tried to prove deductively the truth of their favourite thesis that "Sound laws admit of no exceptions" (first, it seems, enounced by Leskien)." Jespersen, p. 93.

अर्थात्—कुछ वर्षों तक एक भयानक विवाद हुआ। भाषा विज्ञान के मूल–नियमों के विषय में, जिस में 'युवक वैयाकरणों' ने अपने सर्व-प्रिय निबन्ध को सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ध्वनि-नियमों का कोई अपवाद नहीं होता।

(ग) मेर्यो पाई भी लिखता है—

"On the other hand, the "no exception" clause in the sound-law runs squarely into fully observable facts that contradict it." Mario Pei, p. 108.

अर्थात्—दूसरी ओर ध्वनि-नियमों का 'निरपवाद' मत पूर्ण सुस्पष्ट और दृष्टि गत ध्वनि नियमों से पूरा टक्कर खाता है।

(घ) मेर्यो पाई पुनः लिखता है—

Grimm's laws of sound-correspondences and the etymological connections between English and German are occasionally of use in the study of the German language, but they are just as often misleading." Mario Pei, p.313.

अर्थात्—अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं के ग्रिम प्रदर्शित ध्वनि साम्यताओं के नियम और धातु-विषयक सम्बन्ध जर्मन भाषा के पढ़ने में प्रायः उपयुक्त हैं, पर उतने ही वे उलट मार्ग-प्रदर्शक हैं।

(ङ) वर्नर का विचार है—

......he (Verner) never accepted the doctrine in its most pointed form as expressed in the formula "Ausnahmslosig keit der lautgesetze" ('sound-laws not subject to exceptions). Linguistica, p. 17.

अर्थात्—वर्नर ने यह सिद्धान्त कि ध्वनि-नियमों का कोई अपवाद नहीं, इसके अतीव तीक्ष्ण रूप में कभी स्वीकार नहीं किया।

(च) भरत मुनि का निर्णय—प्राकृत के विभ्रष्ट अथवा तत्सम सम्पूर्ण विकार निरपवाद नियमों पर नहीं हुए, ऐसा महामुनि भरत का मत है। यथा—

ये वर्णाः संयोगस्वरवर्णान्यत्वमूनतां चापि ॥
यान्त्यपदादौ प्रायो विभ्रष्टांस्तान् विदुर्विप्राः ॥१७।५-६॥

अर्थात्—जो वर्ण संयोग में स्वर अथवा वर्ण के परिवर्तन न्यूनता को प्राप्त होते हैं, पद के मध्य वा अन्त में प्रायः। उनको विप्र विभ्रष्ट जानते हैं। इस वचन में भरतमुनि ने 'प्रायः' शब्द के ध्वनि-परिवर्तन के नियमों को स्पष्ट ही सापवाद माना है।

तालव्य नियम-सम्बन्धी उपसंहार—इस प्रकार हमने सोदाहरण स्पष्ट कर दिया कि ग्रिम आदि के ध्वनि-परिवर्तन नियम तथा तालव्य नियम बहुत दोष-पूर्ण हैं। उनके जानने में ग्रासमैन का कुछ कुछ और वर्नर के बुद्धि-वैभव का अधिक प्रदर्शन मिलता है। परन्तु ग्रिम और ग्रासमैन दोनों के बताए कतिपय नियमों पर भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र के सत्रहवें अध्याय की छाया निर्विवाद है। ग्रिम और ग्रासमैन से सहस्रों वर्ष पूर्व भरत मुनि बड़ी सावधानता से ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियम लिख चुका था। भरत मुनि की एक विशेषता है कि वह उन नियमों को सर्वत्र लागू नहीं करता। यद्यपि वे नियम अपभ्रंश भाषाओं में भी कुछ कुछ लागू होते दिखाई पड़ते हैं, तथापि वह उन नियमों को प्राकृत-विशेष के भेदों तक ही सीमित रखता है। ग्रिम, ग्रासमैन और वर्नर ने उन नियमों का अधिक विस्तार चाहा और 'नवयुवक वैयाकरणों' ने उन को 'निरपवाद' बनाने का जो उलटा विज्ञान-शून्य मार्ग पकड़ा, उन का अभीष्ट यह था कि योरोपीय भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से न मानकर किसी कल्पित भारोपीय भाषा से मानी जाए।

भारोपीय भाषा की कल्पना निराधार—योरोपीय भाषाविद् अपने को वैज्ञानिक, तार्किक और ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण-कर्ता कहते हैं, पर उनकी किसी मूल भारोपीय भाषा की कल्पना बताती है कि वे इन तीनों गुणों से सर्वथा शून्य हैं। इस विषय में निम्न हेतु द्रष्टव्य हैं—

१. काल्डिया, मिश्र, ईरान और यूनान आदि के मूल लोग भारतीय आर्यों के सम्बन्धी वा वंशज थे, यह इतिहास सिद्ध है। उन सब की भाषाएं संस्कृत का विकार-मात्र हैं। सृष्टि के आरम्भ में भूतल के सातों द्वीपों की भाषा संस्कृत थी, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] उस से पूर्व किसी भाषा का अस्तित्व न था।

२. भारोपीय भाषा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अ, ए और ओ स्वर जो मूल भाषा में कल्पित किए गए और जिसका रूपान्तर संस्कृत में केवल 'अ' में और ग्रीक तथा लैटिन में मूल-वत् माना गया, उस का खण्डन पहले हो चुका।[2]

---

१ पृष्ठ २२, तथा तृतीयाध्याय। २ पृष्ठ ३५-३७।

३. इस कल्पित भारोपीय भाषा को सिद्ध करने के लिए एक उदाहरण प्रायः सर्वत्र दिया जाता है, वह है हंस शब्द।

हंस शब्द विषयक पूर्वपक्ष—कहते हैं हंस पक्षी के लिए अंग्रेजी में 'गूज़' (goose) और जर्मन में 'गंस' (ganz) शब्द व्यवहार में आता है। योरोपीय लेखकों का मत है कि 'ग' और 'ह' ध्वनियों का परस्पर कोई योग नहीं, अतः कोई मूल भाषा माननी चाहिए जहां 'ग' और 'ह' के योग का महाप्राण 'घ' वर्ण विद्यमान हो। ऐसा शब्द 'घंस' है। उसके 'घ' का आधा भाग अंग्रेजी और जर्मन आदि में 'ग' के रूप में चला गया और 'ह' भाग संस्कृत आदि में आ गया।[1]

उत्तर पक्ष—अब इस तर्क की परीक्षा की जाती है—

संस्कृत के किसी पदस्थ 'ह' को अवेस्ता आदि में 'ज' हो जाता है। यथा—संस्कृत का 'अहि' अवेस्था में 'अजि' हो गया है। संस्कृत 'हिजीर' शब्द का फारसी में 'जंजीर' और पंजाबी में 'जंजीर' बन गया है। 'ज' बहुधा 'ज़' में परिणत हो जाता है। और 'ज' का उच्चारण योरोपीय भाषाओं में 'ज' तथा 'ग' दोनों प्रकार से होता है। अतः हंस शब्द रूप-परिवर्तन करता हुआ 'गंस' आदि बना, इस में अणुमात्र सन्देह नहीं। हमें हंस से 'गूज़' आदि तक पहुंचने वाली मध्य-ध्वनियों का अन्वेषण करना चाहिए। सौभाग्य से इस विषय पर प्रकाश डालने वाला अंग्रेजी में एक आश्चर्य-जनक उदाहरण अब भी विद्यमान है। उस को जानने वाले अंग्रेज और जर्मन लेखकों को हमारी बात में कोई न्यूनता प्रतीत न होनी चाहिए। यथा—

१. हिन्दु धर्मशास्त्र विषयक एक पुस्तक वारेन हेस्टिंग के काल में तैयार की गई। उस का नाम था 'गेण्टू' (Hindoo) धर्मशास्त्र, और उस नाम को अंग्रेजी में लिखते थे Gentoo (Hindoo) Law।[2] यहां हिन्दु शब्द की 'ह' ध्वनि अंग्रेजी में G द्वारा व्यक्त की गई। क्या इस के लिए कोई बुद्धिमान् किसी मूल 'घेण्टू' शब्द की कल्पना करेगा ?

२. संस्कृत वाहन अंग्रेजी में वैगन (wagon) और डच भाषा में वगेन हो गया। पर संस्कृत का वह धातु लैटिन में 'वेहरे' रहा और इसी से अंग्रेजी में 'वेहिकल (vehlcle) बना। वस्तुतः अपभ्रंशों में नियम नहीं बन सकते।

भारतीय 'ह' ग्रीक उच्चारण में—हमारे कथन का प्रमाण अन्यत्र भी है। ब्राह्मण शब्द को ग्रीक लेखक Bragmanes भी लिखते थे।[3] दूसरी ओर वे अपने शब्द Hades को Gades लिख देते थे।[4]

इन प्रमाणों की उपस्थिति में कौन विज्ञ पुरुष संस्कृत शब्द हंस को gans आदि शब्दों का मूल नहीं मानेगा। वस्तुतः इन प्रमाणों के सामने योरोप के तर्क जर्जरित हो रहे हैं।

अब संस्कृत की 'ह' ध्वनि के योरोपीय भाषाओं में विभिन्न परिवर्तनों के कुछ उदाहरण देते हैं—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	लिथू०	गॉथिक	जर्मन	अंग्रेजी
हंस	ख्वंस	अंसेर, हंसेर	Zasis		गंसू	गूज़
हनु	vevus	गेना, गेनू, ईनुस		किन्नस	किन्न	Chin
हिरा	arteria	haru				artery

---

१ डा० मंगलदेव, भाषा-विज्ञान, सन् १९५१, पृष्ठ १५०-१५१।

2 P. 438, H. S. L., A. A. Macdonell.

३ पृ० १२३, १२४, मैगस्थनेज।

४ पृ० १२५, १२८ वही।

एक ही 'ह्' ध्वनि योरोपीय भाषाओं के भिन्न भिन्न शब्दों में विभिन्न रूप धारण कर रही है।

४. संस्कृत भाषा के समस्त शब्द अभी तक किसी एक संस्कृत कोश में संगृहीत नहीं हुए। अतः पाश्चात्य लेखकों ने योरोपीय भाषाओं के शब्दों की संस्कृत के उपलब्ध-शब्दों से तुलना करके अनेक उलट परिणाम निकाले हैं। यथा बॉप लिखता है—

No one will dispute the relation of the Bengali to the Sanscrit; but it has completely altered the grammatical system, and thus, in this respect, resembles the Sanscrit infinitely less than the majority of European languages.........we will take as an example the word schwester, "sister" : this German word resembles the Sanscrit svasar[1] far more than the Bengali bohini.........Our expressions vater and mutter correspond far better to the Sanscrit pitar (from patar) and matar than the Bengali bap or baba and ma.

(क) फ्रँज बॉप बंगला के बाप शब्द की संस्कृत के 'पितृ' शब्द से और बंगला के 'बोहिनी' शब्द की संस्कृत के स्वसृ शब्द से तुलना करके ऐसे ही उलटे परिणाम पर पहुंचा है। फ्रँज बॉप को बंगला 'बाप' शब्द के मूल संस्कृत 'बाप' शब्द का पता ही न था। इसी प्रकार बंगला के 'बोहिनी' शब्द का मूल भी संस्कृत का 'भगिनी' शब्द है, न कि स्वसृ शब्द। यदि बॉप के पास संस्कृत का कोई समृद्ध पर्याय-कोश होता तो बॉप ऐसी भूल कदापि न करता।

(ख) इसी प्रकार बॉप ने गॉथिक Stairno-Star की संस्कृत तारा शब्द से तुलना की है।[२] बॉप को पता नहीं था कि वेद में 'स्तृ' प्रकृति का प्रयोग जिस का प्रथमा बहुवचन स्तारः है, मिलता है। उसी से गॉथिक और अंग्रेजी के Stairno तथा Star शब्द विकृत हुए हैं।[३]

५. ध्यान रहे कि फ्रँज बॉप के मतानुसार संस्कृत से दूर गई हुई भी बंगला यदि संस्कृत का रूपान्तर-मात्र है, तो योरोपीय भाषाएं जो बॉप के अनुसार ही बंगला की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट हैं, संस्कृत का रूपान्तर क्यों न मानी जाएं। उसके लिए किसी भारोपीय मूल भाषा की कल्पना की क्या आवश्यकता है?

६. सूक्ष्म विचारक आपिशलि (३१५० विक्रम पूर्व) ने देश प्रभेद से वर्णों के उच्चारण के बहुविध रूपों का उल्लेख किया है। यथा अवर्ण के विषय में—

अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः।
कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया जिह्वया एकेषाम्।
सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके।

---

1 This and not svasri is the true theme, the nominative is svasa, the accusative svasaram. This word, as Pott also conjectures, has lost, after the second s, a, t, which has been retained in several European languages,

२ पृ० ६४, भाग १, कम्पैरेटिव ग्रामर।

३ मै० मू० H. S. L., Vol. II, p. 400-401, वह सर्वथा स्वतन्त्र शब्द तारा के आदि में स् का लोप मानता है।

अर्थात्—अवर्ण, कवर्ग और विसर्जनीय का कण्ठ स्थान है। कवर्ग, अवर्ण, अनुस्वार और जिह्वामूलीय का किन्हीं आचार्यों के मत में जिह्वा स्थान है। कई आचार्यों के मत में अवर्ण का सर्वमुख स्थान है।

इसी प्रकार आगे वकार के विषय में लिखा है—

वकारो दन्त्योष्ठ्यः। सृक्वस्थानमेके।

अर्थात्—वकार का दन्त-ओष्ठ स्थान है। कई आचार्यों के मत में वकार का सृक्व (सृक्वणी) अर्थात् मुख विवर का दायां बायां अवयव स्थान हैं।

७. हमें इस दिशा में एक अभूत पूर्व स्थान से सहायता मिलती है। वह स्थान है वर्नर का नियम। वर्नर ने असाधारण योग्यता से इस बात का प्रतिपादन किया कि वैदिक उदात्त स्वर इण्डो-जरमेनिक मूलभाषा में भी प्रायः उन्हीं अक्षरों पर पड़ता है जिन पर वैदिक—वाक् में था। उह्लनबैक इस विषय में लिखता है—

Verner's law has been an evident proof of the fact, that the Indian stress, as it is handed down to us in some Vedic books and by ancient Indian grammarians, generally fell on the same syllables as in the Indo-germanic mother-language. (p. 109)

अर्थात्—वर्नर नियम इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय ध्वनि बल (उदात्त स्वर) जैसा हमारे पास कुछ वैदिक ग्रन्थों और भारतीय वैयाकरणों द्वारा पहुंचा है, प्रायः उन्हीं अक्षरों पर पड़ता है, जैसा वह मूल मातृ-भाषा में था।

वर्नर नियम के सामने आने पर कई सूक्ष्म-दर्शी ईसाई और यहूदी भाषाविद् अवश्य घबराए, पर उन्होंने किसी को इस बात का ज्ञान ही न होने दिया कि अन्य अनेक प्रमाणों के साथ वर्नर नियम एक नूतन प्रमाण उपस्थित करता है कि योरोपीय भाषाओं की माता वही संस्कृत थी जिसमें अधिकांश उच्चारण-स्वर वेदवत् था। निस्सन्देह योरोपीय भाषाओं के बोलने वाले प्राचीनतम काल में उत्तर भारत और मध्य एशिया के आर्यों से पृथक् हुए थे। वे आदि भाषा के मूल उच्चारण अपने साथ ले गए।

उपसंहार

इस प्रकार हमने इस अध्याय में योरोपीय भाषा मतों के कतिपय अंशों का सोदाहरण सप्रमाण खण्डन करके सिद्ध किया कि पाश्चात्य तथा-कथित 'भाषाविज्ञान' बहुत अधूरा और त्रुटि-पूर्ण है। इस कारण वह वस्तुतः विज्ञान की कोटि से बहुत दूर है। उसे विज्ञान न कह कर मत कहना ही अधिक उपयुक्त है। पाश्चात्य भाषा-मानियों ने इसी तथा-कथित 'भाषा-विज्ञान' की आड़ में मूल भारोपीय भाषा की जो कल्पना की है वह भी सर्वथा निस्सार है। वर्नर के नियम से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि योरोपीय भाषाएं उसी मूल भाषा से विकृत हुई हैं जिस में वेदवत् बलाघात (उदात्त स्वर) विद्यमान था और वह भाषा संस्कृत है। यह उदात्त स्वर ही संस्कृत भाषा के विभिन्न रूपों में विकार का कारण बना।

★

तृतीय अध्याय

संसार की आदि भाषा–संस्कृत

दैवी-वाक् की उत्पत्ति का संकेत कर दिया।[1] दैवी-वाक् से लोक भाषा का सृजन भी कह दिया।[2] योरोप के पक्षपाती भाषा-विज्ञान-मानियों के अनेक कुतर्कों का निराकरण सम्पन्न हुआ। यह निराकरण अनुमानों से नहीं, गम्भीर प्रमाणों से किया गया। यह गणित-विद्या के समान सुनियमित आधार पर प्रतिष्ठित है। तदनु अब संसार की आदि भाषा का विषय प्रस्तुत किया जाता है।

योरोपीय भाषाविदों की समस्या—इस विषय में पाश्चात्य भाषा-ज्ञानियों को भी बहुधा यह सूझता था कि आदि में भाषा एक ही थी। पर अल्प ज्ञान और पक्षपात के कारण वे यथार्थ परिणाम पर पहुंच नहीं पाए। उनके विषय में मेर्यो पाई लिखता है—

It has long been the dream of certain linguists to trace all languages back to a common source. Attempts to do this have so far proved largely fruitless. The variability of languages in the course of time is such that in the absence of definite historical records of what a language was like five thousand, one thousand or even three hundred years ago, classification becomes extremely difficult.[3]

अर्थात्—कई भाषा-ज्ञानियों का चिरकाल से यह स्वप्न रहा कि सब भाषाओं को एक सामान्य-मूल तक पहुंचाएं। अब तक इसे सिद्ध करने के यत्न अधिकांश विफल हुए हैं। काल के क्रम में भाषा का परिवर्तन ऐसा होता है कि निश्चयात्मक ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में, एक भाषा पांच सहस्र अथवा तीन सौ वर्ष पूर्व कैसी थी, उसका वर्गीकरण अत्यन्त कष्ट साध्य होता है। इति।

पूर्वोक्त लेख पर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि यदि पाई जी को निश्चयात्मक तथ्य उपलब्ध नहीं हुए, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि संसार से निश्चयात्मक इतिहास ही उठ गया है।

वर्गीकरण निराधार—भाषाओं का सैमिटिक और हैमिटिक वर्गीकरण निराधार है। बाईबल में वर्णित इतिहास बताता है कि नोह (=मनु) के पुत्र शाम और हाम थे। उन्हीं के वंशों में दो पृथक् भाषाओं का प्रचार मानना इतना मिथ्या है कि इस पर विचार करना बुद्धि का दिवाला निकालना है। यह तो माना जा सकता है कि दस-बारह सहस्र वर्षों के अन्तर में देश काल परिस्थिति के भेद से एक ही

---

१ पूर्व पृष्ठ ५-११।

२ पूर्व पृष्ठ १८।

3 p. 25, Story of Language, Mario Pei.

भाषा अति विभिन्न रूपों में विकृत हो गई। पर यह मानना असम्भव है कि एक ही पिता के एक ही स्थान में पले पुत्र आरम्भ से ही दो पृथक्-पृथक् भाषाएं बोलते थे। अस्तु।

आरम्भ में अनेक योरोपीय भाषा-विद् संस्कृत को ग्रीक आदि की जननी मानते थे। जब योरोप में संस्कृत भाषा का अध्ययन आरम्भ हुआ, तो वहां के अनेक अध्यापकों का मत बना कि ग्रीक आदि भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा है इस मत पर कुछ दिनों में ईसाई-यहूदी पक्षपात ने अपना आक्रमण आरम्भ किया। मतवादी विजयी हुए। तब योरोपीय लोगों ने पूर्व मत के विपरीत एक नया पक्ष खड़ा किया। मैक्समूलर इस इतिहास को अपने शब्दों में साभिमान प्रकट करता है—

No one supposes any longer that Sanskrit was the common source of Greek, Latin and Anglo Saxon. This used to be said, but it has long been shown that Sanskrit is only a collateral branch of the same stem from which spring Greek, Latin and Anglo Saxon; and not only these, but all the Teutonic, all the Celtic, all the Slavonic languages, nay, the languages of Persia and America also.[1]

अर्थात्—अब कोई नहीं मानता कि संस्कृत भाषा ग्रीक, लैटिन और एंग्लो सैक्सन का सामान्य मूल है। कभी यह कहा जाता था, पर अब बहुत दिन से यह दिखाया जा चुका है कि संस्कृत तथा ये सब भाषाएं और टूटन, स्लाव और फारसी आदि भाषाएं भी एक सामान्य मूल से निकली हैं।

मैक्समूलर अन्यत्र भी लिखता है—No sound scholar would ever think of deriving any Greek or Latin word from Sanskrit.[2]

अर्थात्—कोई श्रेष्ठ विद्वान् किसी ग्रीक वा लैटिन शब्द के संस्कृत से उत्पन्न होने का कभी विचार नहीं करेगा।

हमारा पक्ष—हमारा वर्णन निराधार कथाओं पर आश्रित नहीं होगा। वह संसार की प्राचीन जातियों के अति-प्राचीन इतिवृत्तों पर आधारित होगा। भारत ने अपना और संसार का प्राचीन इतिहास बहुत सुरक्षित रखा है। दूसरी जातियों में उसका अंशमात्र कहीं-कहीं मिलता है, तथापि बैबिलोन, मिश्र, ईरान, यहूद और भारत के सब पुराने ग्रन्थकार सहमत हैं कि आदि सृष्टि में देवों का प्राधान्य था।

देव कौन थे—इस गम्भीर विषय में प्रवेश करने से पहले पाठकों को हमारे पूर्व लेख पर पुनः ध्यान देना चाहिए।[३] तदनुसार, एक देव थे द्युलोक से पृथ्वी लोक तक फैले हुए। अग्नि पृथिवी स्थानीय देव है। यह स्पष्ट ही विधाता की भौतिक शक्ति का विस्तार है। इसी प्रकार अन्तरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ देव भी भौतिक शक्तियों के ही नामान्तर हैं। वेद में सर्वत्र इन्हीं देवों का वर्णन है। अतः विधाता और उसकी भौतिक विभूतियों का यथार्थ ज्ञान ही वेद का एक ध्येय है। इन्हें न समझ कर ही यूनान और तत्पश्चात् योरोप में "माइथालोजी" रूपी अज्ञान-मत का आरम्भ हुआ। इस पर ओल्डनबर्ग, हिलिब्रण्ट और मैकडानल प्रभृति ने वृथा कागज काले किए। सूचियों (इण्डैक्सों) द्वारा काम करने वाले विद्यामानी विद्या के गम्भीर तत्त्वों पर नहीं पहुंच सकते।

---

1 pp. 21-22, India, What Can it Teach Us, London, 1905,

2 p. 449, Lectures on the Science of Language, London 1855. हम इस वाक्य के no को every और ever को always में बदल देते हैं।

३ पूर्व पृष्ठ १४।

शरीरधारी देव—जब पृथिवी बन चुकी और वास योग्या हुई तो उस पर ब्रह्मा, सप्त ऋषि, और स्वायम्भुव मनु आदि योगज शरीरधारी देव उत्पन्न हुए। डार्विन के कल्पित विकास मत की इस उत्पत्ति के इतिहास के साथ कोई तुलना नहीं। वस्तुतः इतिहास की उपस्थिति में गप्पों का कोई स्थान नहीं।

प्राचीन सत्य इतिहास का एक मात्र आधार देव इतिहास है।

पूर्वदेव=असुर—इन ब्रह्मा आदि देवों के पश्चात् २१ प्रजापति जन्मे। उन में से कश्यप की सन्तान में माता दिति के पुत्र दैत्य (=Titans)[1] हुए। इन्हें प्राचीन भारतीय इतिहासों में "पूर्वदेव" कहा है।[2] हैरोडोटस के अनुसार मिश्र के पुरोहित इन्हें प्रथम श्रेणी के देव कहते थे।[3] इन दैत्यों वा ज्येष्ठ देवों की सन्तान कुछ काल में ही आदि संसार पर छा गई।[4] इनके विषय में वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध निम्नलिखित छः वचन विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।९ में लिखा है—**देवासुरास्संयत्ता आसन्। स प्रजापतिरिन्द्रं ज्येष्ठं पुत्रमपन्यधत्त। नेदेनमसुरा बलीयांसोऽहन्निति। प्रह्लादो ह वै कायाधवो विरोचनं स्वं पुत्रमपन्यधत्त। नेदेनं देवा अहन्निति।**

अर्थात्—देव और असुर (युद्ध के लिए) सज्ज थे। उस प्रजापति (कश्यप) ने इन्द्र ज्येष्ठ (=श्रेष्ठ) पुत्र को छिपा दिया, नहीं इसे असुर बलवान् मारें (ऐसा विचार कर)। प्रह्लाद कयाधू-सुत ने अपने विरोचन पुत्र को छिपा दिया,[5] नहीं इसे देव मारें (ऐसा विचार कर)। प्रह्लाद की माता का नाम 'कयाधू' था।[6] इसलिए ब्राह्मण में उसे 'कायाधव' (कयाधू का पुत्र) कहा है।

विश्वबन्धु जी की भूल—विश्वबन्धु जी ने ब्राह्मण पदानुक्रम कोश में तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रयुक्त 'कायाधव' शब्द की व्युत्पत्ति ह्रस्व उकारान्त 'कयाघु' शब्द माना है।[7] इतिहास विरुद्ध होने के कारण यह व्युत्पत्ति सर्वथा अशुद्ध है। इसके लिए इतिहास का ज्ञान भी अत्यावश्यक है। अतएव कृष्ण द्वैपायन व्यास ने सत्य लिखा था—**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं संहरिष्यति।** विश्वबन्धु जी ने अल्पश्रुत होने के कारण यह उपहास-जनक भूल की है।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ८।७ में इन्द्र और असुर विरोचन का अपने पिता प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्य वास का उल्लेख है—**इन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्। तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः।** अर्थात्—इन्द्र निश्चय से देवों में से (कश्यप प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्यार्थ) गया, विरोचन असुरों में से।

---

१ दैत्य शब्द का रोमन भाषा में अपभ्रंश अथवा म्लेच्छीकरण।

२ महाभारत सभा पर्व १।१५॥, अमर कृत नाम लिङ्गानुशासन १।१।१२॥

३ भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २१२ तथा आगे।

4 The Titans, often called the Elder Gods, were for untold ages supreme in the universe, p. 24, Mythology, Edith Hamilton, 1953.

५ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।११ से विदित होता है कि कयाधू-पुत्र प्रह्लाद ने विरोचन को पृथ्वी के भीतर गुप्त गृह में छिपाया था।

६ हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधूर्नाम दानवी। भागवत ६।१८।१२॥

७ पृ० ३४६, भाग १, ब्राह्मण-पदानुक्रम कोश, संवत् १९९३।

असुरों और वर्तमान योरोपीय जातियों की प्रेत-क्रिया—छान्दोग्य उपनिषद् के इसी प्रकरण में आगे कहा है कि असुर लोग प्रेत शरीर को अन्न, वसन और अलंकार आदि से बहुत संस्कृत करते हैं।[१] उनकी यह प्रथा भारत-युद्ध-काल में भी थी। उपनिषद् का 'अप्यद्येह' पाठ इसी तत्त्व का संकेत करता है। उपनिषद् की बात को आज ५००० वर्ष से अधिक हो चुके। इस समय भी असुरों की वशंज अनेक योरोपीय जातियां प्रेत के शरीर की सजावट पर अधिक ध्यान देती हैं।

३. जैमिनीय ब्राह्मण १।१२६।। में त्रिशीर्ष गन्धर्व विषयक एक कथा है। उसमें उशना काव्य का असुरों में महत्व का वर्णन है। उसी प्रसंग में कहा है—**य इमा विरोचनस्य प्राह्लादेः कामदुघास्ताभिः**...अर्थात्—जो ये प्रह्लाद-पुत्र विरोचन की कामदुघा (गाएं=पृथ्वी स्थान) हैं, उनसे...।

४. आथर्वण शौनक शाखा ८।१०(४)।१२। में पाठ है—**तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीत्, अयस्पात्रं पात्रम्**।[२] अर्थात्—उस (पृथिवी) का प्रह्लाद (प्रह्लाद) का पुत्र विरोचन वत्स था। लोहे का पात्र (दुहने का) पात्र था।

५. शांखायन आरण्यक ५।१ के वर्णनानुसार अपने मित्र काशीराज प्रतर्दन के उत्तर में इन्द्र ने आत्म चरित कहा—**त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहन्। अररुमुंखान् यतीन सालावृकेभ्यः प्रायच्छन्।**[३] **बह्वीःसन्धा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयान् अनृणमहन्। अन्तरिक्षे पौलोमान्, पृथिव्यां कालखञ्जान्। तस्य मे तत्र लोम च नामीयत।**

अर्थात्—त्रिशीर्षा (विश्वरूप) नामक त्वष्टा के पुत्र को मारा। अररु के आश्रय में चले गये यतियों को सालावृकों (भोजनभट्ट ब्राह्मणों) के लिए दिया। बहुत सी सन्धियों का उल्लंघन करके द्युलोक (कश्मीर के उत्तर पश्चिम प्रदेश) में प्रह्लाद के सम्बन्धियों को अनृण (निःशेष) मारा, अन्तरिक्ष (मध्य एशिया और मध्य योरोप) में पुलोम के वंशजों को, और पृथिवी (भारतवर्ष के पश्चिम) में कालखञ्जों को। इस कार्य में मेरा लोम भी रोगी नहीं हुआ (बाल भी बांका नहीं हुआ)।

६. **प्राह्लादि कपिल**—बौधायन मुनि, अपने धर्मसूत्र में प्राचीन धर्माचार्यों का सूत्र जो किसी ब्राह्मण पर आश्रित है, उद्धृत करता है—**तत्रोदाहरन्ति-प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस। स एतान् भेदांश्चकार देवैस्सह स्पर्धमानः। तान् मनीषी नाद्रियेत।** २।११।३०।। अर्थात्—आश्रमों का भेद प्रह्लाद के पुत्र कपिलासुर का प्रचलित किया हुआ है (आसुर देशों में)।

मैकडानल और कीथ की उत्पतथा—मैकडानल और कीथ ने अपने 'वैदिक इण्डेक्स' नामक ग्रन्थ में वैदिक ग्रन्थों में बहुधा निर्दिष्ट प्रह्लाद और विरोचन का उल्लेख तक नहीं किया। पक्षपाती ईसाई भयभीत था कि कहीं सत्य प्रकाशित न हो जाये।

पूर्वोद्धृत प्रमाणों का महत्व–वैदिक ग्रन्थों के पूर्वोद्धृत संदर्भ असाधारण महत्त्व के हैं। पुराने संसार का, महाराज विक्रम से दस पन्द्रह सहस्र वर्ष पूर्व का, इनमें स्फीत चित्र है। सत्यता का यह बोलता साक्ष्य है। योरोपीय भाषामानियों के अनृतवृक्ष के मूल पर यह कुठाराघात है। इस पुराने इतिहास को त्याग कर कल्पनाओं पर कौन प्रतिभावान् पुरुष विश्वास कर सकता है। इन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों की पुष्टि अब दूसरे इतिहासों से की जाती है।

---

१ तस्मादप्यद्येहा......प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्ति।८।८।।

२ यह पाठ ब्राह्मणान्तर्गत है वा नहीं, इस पर आर्ष सिद्धान्त अन्वेष्टव्य है।

३ तुलना करें ऐ० ब्रा० ७।२८।।, ताण्ड्य ब्रा० १३।४।१७।।, जै० ब्रा० २।१३४।।

इतिहास से वैदिक ग्रन्थों की पुष्टि—अद्यावधि कण्ठस्थ रखे जाने वाले ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जो बात सुरक्षित रही, ठीक वही सत्य अन्य इतिहास ग्रन्थों में भी मिलता है। प्रह्लाद-पुत्र विरोचन के विषय में हरिवंश ६।२९-३१ में लिखा है—

> असुरैः श्रूयते चापि पुनर्दुग्धा वसुन्धरा। आयासं पात्रमादाय मायां शत्रुनिर्बर्हिणीम् ॥
> विरोचनस्तु प्राह्लादिर्वत्सस्तेषामभूत् तदा। ऋत्विग् द्विमूर्धा दैत्यानां मधुर्दोग्धा महाबलः ॥
> तयैते माययाद्यापि सर्वे मायाविनोऽसुराः। वर्तयन्त्यमितप्रज्ञास्तदेषाममितं बलम् ॥

अर्थात् —सुना जाता है कि असुरों ने भी पुनः दुहा पृथिवी को, लोहे का पात्र लेकर (और) शत्रु नाशक माया का आश्रय लेकर। प्रह्लाद-पुत्र विरोचन उनका वत्स (के समान) हुआ उस समय। दैत्यों का ऋत्विक् महाबलवान् द्विमूर्धा मघु दुहने वाला था। उसी माया से आज[1] भी सम्पूर्ण मायायुक्त अमित बुद्धिवाले असुर वर्तते हैं। वही उनका अमित बल है।

अमित-प्रज्ञ असुर—आर्य इतिहास स्पष्ट घोषणा करता है कि असुर अमित-प्रज्ञ थे। निस्सन्देह कालिडया की अनेक विद्याएं बहुत उन्नत अवस्था में थीं। उनके और भारतीय आर्यों के ज्ञान का मूल एक ही था। काल के विभिन्न अंगों का साठ-साठ अंशों में विभाजन दोनों देशों की समता का परिचायक है।[2]

असुरों का वंश वृक्ष—वैदिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों में वर्णित इन असुरों का वृत्त जानने के लिए उनके वंश-विस्तार[3] का जानना अत्यावश्यक है। अतएव वह आगे दिया जाता है—

---
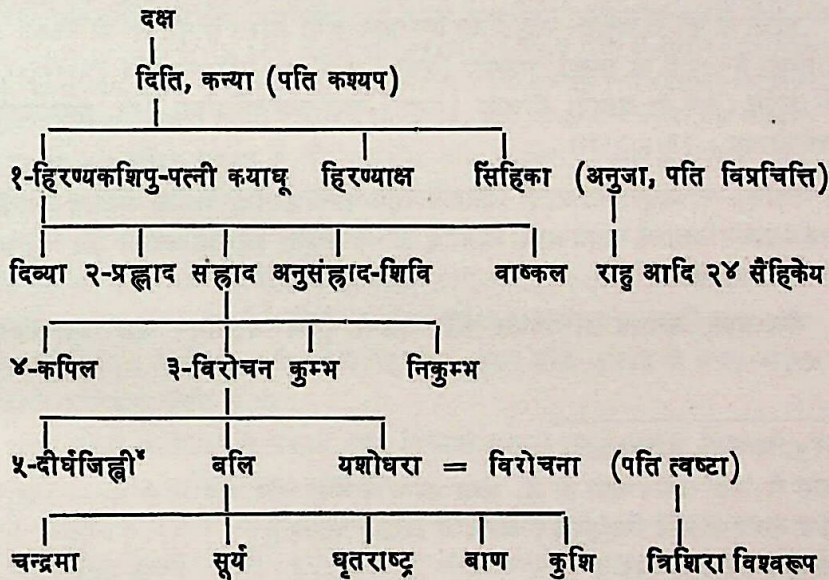
१ इससे स्पष्ट है कि आज भी अर्थात् भारत युद्ध काल तक प्रह्लाद विरोचन आदि का इतिवृत्त प्रसिद्ध था। मत्स्य १०।२१॥ के अनुसार यही द्विमूर्धा मधु संसार में माया का प्रवर्तक था।

२ देखें, पृ० २०९, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग प्रथम।

३ पूरे प्रमाणों के लिए, देखें, पृ० ४४, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, दूसरा भाग।

४ जै० ब्रा० १।१६१। ऐ० ब्रा० ८।५।२२॥

इनमें से संख्या १-५ के अन्तर्गत व्यक्ति पूर्वोद्धृत वैदिक ग्रन्थों में स्मृत हैं। शेष नाम इतिहासों से लिए गये हैं।

असुरों के राज्य-स्थान—असुर देश (Assyria) कभी बड़ा विस्तृत था। हैरोडोटस के काल (विक्रम पूर्व ५०० वर्ष) में बावल देश इस का एक भाग था।[1] पहले सारे असुर देश की राजधानी निनेवह थी।[2] तदनु बावल राजधानी बनी। बली अथवा बल के नगर बावल में ही दैत्य बल का मन्दिर था। असुर-प्रदेश में बड़े-बड़े नगर बहुत थे।[3] बैबिलोन के निचले प्रदेश के लोग काल्डियन कहाते थे।[4]

१ **असुर अथवा दैत्य संस्कृत-भाषी**— असुरों की भाषा के विषय में हैरोडोटस एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है—

Mylitta (मि-लित्त) is the name by which the Assyrians know this goddess, whom the Arabians call Alitta, and the Persians Mitra.[5]

मि-लित्त के लित्त में आद्यन्त विपर्यय हुआ है। तथा रलयोरभेद है। यह ठीक संस्कृत मित्र का अपभ्रंश है। वैदिक ग्रन्थों में 'मित्रावरुणौ' बहुधा समास में इकट्ठे भी होते हैं। अतः निश्चय ही अति प्राचीन असुर-देशवासी वैदिक देवों से परिचित थे।

हैरोडोटस ने मैसोपोटेमिया के अनेक मन्दिरों का वर्णन किया है, जहां विरोचन और बलि की पूजा होती थी।

भारत के पूर्व में असुर—असुरों का एक भाग कभी भारत के पूर्व में भी बसता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—अथ या आसुर्यः प्राच्याः [प्रजाः] त्वद्ये त्वत् परिमण्डलानि १३।८।१।५॥......ताः **श्मशानानि कुर्वते। अथ या आसुर्यः प्राच्याः [प्रजाः] त्वद्ये न्त्वदन्तर्हितानी [ताः श्मशानानि कुर्वते] ते चम्वांत्वद्यस्मिंस्त्वत्**। १३।८।२।१॥

अर्थात्—जो असुरों की प्राची दिशा में रहने वाली प्रजा हैं वे गोल श्मशान बनाती हैं। तथा जो असुरों की प्राची दिशा में रहने वाली प्रजा हैं वे अन्तर्हित श्मशान बनाती हैं। वे चम्वा[6] अर्थात् नीचे गहरा गोल गर्त खोदती हैं।

चीन अर्थात् आसाम का भगदत्त और उसका पूर्वज नरकासुर उन्हीं मूल प्राच्य असुरों की सन्तान में थे।

---

१ पृष्ठ ९०, भाग १, हैरोडोटस।

२ इस नाम में 'वह' प्रत्यय वैसा ही है, जैसा भारतीय नगर और गांव नामों में—भद्रवह; कोकुड़ीवह (वाहीक ग्राम, वर्तमान गिद्दड़वाह) आदि में दिखाई पड़ता है।

३ पृष्ठ ९०, हैरोडोटस, भाग १।

४ पृष्ठ १४६, तथैव, भाग २।

५ पृ० ६६, भाग १, तथैव; पृष्ठ १०२, तथैव, भाग १।

६ हैदराबाद (दक्षिण) राज्य की भाषा में गहरे गोल बड़े कटोरे (तसले) के लिए 'चम्बू' शब्द का व्यवहार होता है। ऋ० ९।६३।२॥ में चमस (यज्ञीय-पात्र) के लिए 'चमू' शब्द का प्रयोग मिलता है।

अल-मासूदी का लेख—इस्लामी परम्परा का ज्ञाता प्रसिद्ध अरबी लेखक अल-मासूदी (संवत् ९८७) लिखता है—

The kings of China, of the Turks, of India, of the Zanj, and all other kings of the earth, looked up to the king of the Climate (Kishwar) of Babel with great rsepect, for he is the first king on earth.... The ancient kings of Babel had the title Shahan Shah.........[1]

अर्थात्—चीन, तुर्की, भारत, जंज और पृथिवी मात्र के राजा बाबिल के राजा को प्रतिष्ठा से देखते हैं। वही पृथ्वी का पहला राजा था।

बाइबल में विरोचन और बलि—बाइबल में विरोचन (=Belos, Beor) और बलि (=Baal-Baalim, Balaam) का बहुधा उल्लेख मिलता है। यथा—

(a) They (Ammorite of Moabite) hired against thee Balaam, the son of Beor of Pethor of Mesopotamia.[2]

(b) And the children of Israel......forgot...their God and served Baalim.[3]
behold, the altar of Baal was cast down.[4]

टामस मौरीस का मत—बाइबिल में उसी बल का उल्लेख है जो भारतीय ग्रन्थों में बलि आदि के नाम से स्मृत है, इस विषय में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा ईसाई धर्म की रक्षा के निमित्त नियुक्त पक्षपाती मौरीस का लेख द्रष्टव्य है।

On the supposition, which is at least exceedingly probable that the Indian Bali is the same person with the Baal of Scripture, and the Belos of profane history, and that a considerable portion of the events, properly belonging to the life of his father Nimrod also called both Cush and Belus are engrafted on his sons.[5]

अर्थात्—अत्यधिक सम्भव है कि भारतीय बलि बाइबल का बल है। जब राथ, मैक्समूलर आदि ने देखा कि प्राचीन भारतीय इतिहास के सत्य सिद्ध होने पर उनका पक्षपात पूर्ण पक्ष खडिण्त हो जायेगा तो उन्होंने इन समानताओं का उल्लेख करना भी छोड़ दिया। इन मतान्ध लोगों के सिर पर भूत सवार था कि वेद का काल अति प्राचीन सिद्ध न होने पाए।

परिणाम—पूर्वोक्त संदर्भों से निश्चित होता है कि इस्लामी और यहूदी ग्रन्थ तथा हेरोडोटस आदि प्राचीन ऐतिहासिक विरोचन आदि को ऐतिहासिक पुरुष और संसार के प्रथम शासक मानते थे। उनकी राजधानी काल्डिया आदि में थी।

असुर अथवा काल्डिया के सम्राट् और निवासी संस्कृत भाषी—इस विषय में ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के निम्नलिखित पाठ सूक्ष्मेक्षिका के योग्य हैं—

१ तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः परा बभूवुः। शतपथ ब्रा० ३।२।१।२३।।

२ तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परा बभूवुः। महाभाष्य पस्पशाह्निक में उद्धृत ब्राह्मण पाठ।

---

1 pp. 366-367, Meadows of Gold and Mines of Gems, Eng. Tr. by Aloys Sprenger, London, 1841.

2 Deuteronomy, 23, 4

3 Judges, 3, 3.

4 Judges 6, 24.

5 History of Hindoostan, Vol. II, p.18

३ असुरेषु वा एष यज्ञ अग्र आसीत्। शत० १२।६।३।७॥

४ तैः पुनरसुरैर्यज्ञे कर्मण्यपभाषितम्.........। महाभाष्य पस्पशाह्निक

इन वचनों से स्पष्ट है कि—

१ असुर आत्तवचा अर्थात् शुद्ध वाक् से परे हटे अथवा ग्रस्त उच्चारण वाले अपभाषण के कारण पराजित हुए।

२ असुर लोग यज्ञ करते थे। यज्ञ में दैवी वाक् बोली जाती है। निश्चय ही उनके पास वैदिक छन्द अर्थात् मंत्र थे। तैत्तिरीय संहिता में स्पष्ट लिखा है—**कनीयांसि वै देवेषु छन्दांस्यासन् ज्यायांस्यसुरेषु।**[1]

३ असुरों ने यज्ञ कर्म में भी यत्र तत्र अपभाषण[2] आरम्भ किया। छान्दोग्य उपनिषद् के पूर्वोद्धृत प्रमाण के अनुसार कश्यप प्रजापति का वंशज विरोचन असुर प्रजापति के पास इन्द्र के साथ स्वाध्याय के लिए गया। वह विरोचन संस्कृत के परम विद्वान् कश्यप के पास संस्कृत में ही विद्या ग्रहण करता था। महान् विद्वान् बृहस्पति का भाई सुधन्वा विरोचन आदि के साथ पण लगा रहा था। वह ब्राह्मण का श्रैष्ठ्य पूछता था। इन्हीं असुरों का एक पुरुष त्रिशिरा विश्व रूप वेद-मन्त्रों का ऋषि हुआ। विरोचन का पौत्र प्रसिद्ध बाणासुर था। बाण नाम के अनुकरण पर ही 'असुर बनीपाल' नाम पड़ा। असुर राजा बहुत उत्तर काल तक अपने नाम के साथ असुर शब्द का प्रयोग करते रहे। यथा—**असुरनसिरपाल।**[3]

भारतीय और बाबल के यज्ञों में साम्यता—अध्यापक डब्लू० एफ० अलब्राईट ने अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी के जर्नल में एक लेख लिखा है। उसके विषय में लिखते हुए मार्क-जन-ड्रेस्डेन अपने मानवगृह्य-सूत्र के अंग्रेजी अनुवाद के प्राक्कथन पृष्ठ ८ पर लिखता है—

For a striking parallel between India and Babylonia, see the article by W. F. Albright and P. E. Dumont, 'A parallel between India and Babylonian sacrificial ritual; in JAOS 54 (1934), 107-127. See also Bohl, Jaarb. EX. Oriente Lux 7 (1940), 412.

आसुर और भारतीय ज्योतिष का सामञ्जस्य—असुरों अथवा काल्डिया-निवासियों के ज्योतिष ज्ञान का आर्यों के ज्योतिष-ज्ञान से सामञ्जस्य होना उन दोनों के कभी अति समीपस्थ होने का एक प्रबल प्रमाण है।

सुमेर और भारतीय शब्दों की असाधारण साम्यता—डाक्टर जी० डब्ल्यू ब्राऊन ने सुमेर और भारतीय शब्दों की असाधारण साम्यता दर्शायी है।[4] तदनन्तर श्री जयनाथपति ने भी इस विषय पर एक असाधारण लेख लिखा।[5]

---

१ ६।६।११॥ तै० सं०।

२ लिङ्ग-वचन-काल-कारकाणाम् अन्यथा प्रयोगोऽपशब्दः। कौटिलीय अर्थशास्त्र, दूसरा अधिकरण, अध्याय १०।

3 p. 343, A Scheme of Egyptian Chronolgy, Duncan Macnaughton.

४ पृ० ३३६, भाग ४५, J.A.O.S.

5 p. 687, Vol. IV, 1928, I.H.Q.

सुमेर (=मीड) भाषा और महामहोपाध्याय वाडेल—मिश्र के कालक्रम का उल्लेख करते हुए डंकन मैकनाटन लिखता है—

It will be readily granted that Prof. Wadell has done much useful work in collecting examples of script from India which bear a close resemblance to Sumerian script, that it is possible, perhaps probable, that he Sumerians and the early Aryans of North India spoke similar languages and were of related stock.[1]

अर्थात्—वाडेल का मत—बहुत सम्भव है कि उत्तर-भारत के आदि आर्य और सुमेर (बाबल) के लोग एक समान भाषायें बोलते थे।

निःसन्देह यह मत ठीक है। सुमेर की भाषा ही नहीं, सम्पूर्ण असुर देश की भाषा भी आर्य भाषा संस्कृत का विकृत रूप थी।[२] अनेक पाश्चात्य लेखक काल्डिया के वासियों को अक्कद की महती हैमाई जाति का कह कर उनकी भापा को आर्य भाषा से पृथक् मानते हैं।[३] वस्तुतः यह बात सत्य नहीं। हामी भाषा भी संस्कृत का ही विकृत रूप है।

कालान्तर में ब्राह्मणों के अदर्शन और फलतः पठन-पाठन का क्रम टूटने से इन असुरों में वाक् की अस्पष्टता प्रारम्भ हुई। वे म्लेच्छ (अस्पष्ट भाषी) बन गये।[४] उन्होंने व्यवहार के अतिरिक्त यज्ञ में भी पाठ-शुद्धि का ध्यान न रखा। युद्धों में भी अपभाषण करने लगे। इन्हीं असुरों की सन्तानों में योरोप की कतिपय जातियां हैं।

असुर=टाइटनज (Titans)—प्राचीन दैत्य वा दैतेय ही पुराकाल के यूनानियों में (Titans) नाम से विख्यात थे। उत्तर काल में उनकी सन्तान 'टूटन (अंग्रेजी में Teutons,[5] लैटिन में Teutones, गाथिक में Thiuda कहायी। स्कैण्डिनेवियन, जर्मन, डच और अंग्रेज आदि उनके वंशज हैं।

डच (Dutch) शब्द—यह शब्द जर्मन में deutsch, ओल्ड हाई जर्मन में diutisk—diutish, एंगलो सैक्सन में Theod और गाथिक में Thiuda (=एक जाति) रूप में मिलता है।

इसी प्रकार जर्मनी का नाम Dieutschland है। ये दोनों शब्द अपना इतिहास स्वयं बताते हैं। दैत्य से टाइटन अथवा टूटन बना। यह शब्द अगले विकारों में डाइट्श अथवा डच हुआ। डाइट्श में ich प्रत्यय-मात्र है। इस प्रकार निश्चित होता है कि उत्तर योरोप के प्रायः सब देश दैत्य वंश के बसाए हुए हैं। इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध है। वर्तमान भाषा-मानियों की कल्पनाएं और उनके अनेक अंशों में अशुद्ध ध्वनि-परिवर्तन-नियम इस इतिहास के सम्मुख भस्मीभूत हैं। ये शब्द अपना इतिहास स्वयं बता रहे हैं। इन देशों की भाषाएं संस्कृत का विकार-मात्र हैं।

---

1 p. 67, A Scheme of Egyptian Chronology, 1832, London.

२ पृ० २११, मंगलदेव। इतिहास ज्ञान के अभाव के कारण डाक्टर जी तथ्य को समझ नहीं सके।

३ पृ० ९२ पर चौथा टिप्पण, भाग १, हैरोडोटस।

४ असुर म्लेच्छ बन गए, उनमें दास-प्रथा चल चुकी थी। उसी का उल्लेख करते हुए विष्णुगुप्त लिखता है—"म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभावः।" पृ० १०७, अर्थशास्त्र, जालि का संस्करण। अर्थात्—म्लेच्छों में प्रजाओं का विक्रय अथवा दास रूप में रखना अदोष है। आर्यों में दास भाव नहीं है।

५ अंग्रेजी शब्द लिखा 'टयूटन' जाता है, पर उच्चारण इसका टूटन है।

संसार की प्राचीनतम पांच जातियां

सतयुग के अन्त में जन सृष्टि कई जातियों में विभक्त हो चुकी थी। पांच जातियां उनमें प्रधान थीं। वेद में सामान्य रूप से पञ्च जनों का उल्लेख है। कृतयुग के अन्त में वेद के कुछ व्याख्याकारों ने इस वैदिक 'पञ्चजन' पद की व्याख्या में जिन पांच प्रधान जातियों का उल्लेख करना आरम्भ कर दिया, वे थीं, गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस।[1]

अश्वमेध के अन्त में प्राचीन जनों का स्मरण—आर्य लोग पुरातन संसार का इतिहास सुरक्षित रखें, इस निमित्त अश्वमेध के अन्त में अनेक जनों का संस्मरण आवश्यक कहा गया है। उन जनों में माध्यन्दिन शतपथ के पाठानुसार "असित धान्व" को आसुरी विशों (=प्रजाओं) का राजा कहा है।

विरोचन का पुत्र शम्मु और शम्मु का एक पुत्र धनुक=धनु था।[2] धनु के वंश में धान्व हुए। असित उनमें से एक था। देव ही नहीं गन्धर्व, पितर, असुर और राक्षस[3] जातियां भी संस्कृत और वैदिक कर्मकाण्ड में गति रखने वाली थीं।

संस्कृत भाषी ईरानी

१. अति प्राचीन ईरानी असुरों के अति निकट सम्बन्धी भृगु की सन्तान में से थे। भृगु ने हिरण्यकशिपु की कन्या दिव्या से विवाह किया। उसमें शुक्र जन्मा। कवि, काव्य और उशना उसी के नामान्तर थे। वह वर्तमान ईरानी ग्रन्थों में 'कैकोश' (=कवि+उशना)[4] के नाम से स्मृत है। शुक्र द्वारा संस्कृत में रचे दण्डनीति-शास्त्र के उद्धरण आज भी अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। सम्पूर्ण भार्गव शिष्ट थे और संस्कृत के अद्वितीय ज्ञाता थे।

पारस नाम का कारण—जोव और दने (दनु) का पुत्र पर्सियस था। वह बल के पुत्र केफियस् के पास गया। उसने केफियस् की पुत्री अन्द्रोमेधा से विवाह किया। इनका पुत्र पर्सेस था। उसके नाम पर देश का नाम पारस पड़ा।[5]

२. ईरान का प्राचीनतम राजा 'वैवस्वत यम' था। वह वैवस्वत मनु का लघु भ्राता था। वह ईरानी वाङ्मय में 'यिम खिशओस्त' आदि नामों से स्मृत है। अवेस्ता में यह नाम 'यिम खशएत' है। वह 'विवध्वन्त' का पुत्र 'पिशदादियन' कुल का राजा था।

इनमें 'यिम' यम का, 'विवध्वन्त' विवस्वान (=विवस्वन्त) का और 'पिशदादियन' पश्चाद्-देव का अपभ्रंश हैं।[6]

---

१ ३।८।। निरुक्त। २ ६८।८१।। वायु पुराण।
३ शतपथ १०।५।२।२०।। तथा १३।४।३।१०।। की तुलना करने से विदित होता है कि राक्षस देवों के वंशों में से हैं।
४ कभी-कभी दो पर्याय नामों से भी अपभ्रंश होकर एक नाम बन जाता है। यथा—'कच्छप-कूर्म इन दो नामों से पंजाबी भाषा का कच्छु-कुम्मा शब्द बना है।
५ पृष्ठ १४५, द्वितीय भाग, हेरोडोटस।
६ तुलना करें—हॉग, ऐतरेय ब्राह्मण, भूमिका, पृ० ३०। तदनुसार पिशदादियन पुरोधा का फारसी अपभ्रंश है। परन्तु हमारी तुलना ठीक है।

यम का राज्य स्थान—संस्कृत के वैदिक तथा लौकिक सभी ग्रन्थों में वैवस्वत यम को पितरों का राजा कहा है।[1] मैत्रायणी संहिता १।६।१२।। में लिखा है—**स वाव विवस्वान् आदित्यो यस्य मनुश्च वैवस्वतो यमश्च। मनुरेवास्मिल्लोके, यमोऽमुष्मिन्।**[2] अर्थात्—वह विवस्वान् आदित्य है जिसके मनु और यम पुत्र थे। मनु ही इस लोक [भारतवर्ष] में [राजा हुआ] और यम उस [पितृ] लोक में।

ईरानी और देव—ईरानियों का कुछ भाग साक्षात् देव वंश में था। उत्तर काल में वह भाग भी देवों का विरोधी हो गया। अवेस्ता के यज्न १२ में लिखा है—

I cease to be a Deva. I profess to be a Zoroastrian...an enemy of the Devas, and a devotee of Ahura.[3]

अर्थात्—मैं देव रहना समाप्त करता हूं। मैं जरदुश्त में श्रद्धा करता हूं।........मैं देव का शत्रु और अहुर का भक्त हूं।

ईरानियों का कुछ भाग देव वंश का था, इसका प्रमाण डा० मोदी के लेख से भी मिलता है। डा० जीवनजी जमशेदजी मोदी का लेख है कि पहलवी ग्रन्थों के अनुसार प्राचीन फारस के चार शत्रु थे। प्रथम—अज़िदाहक, द्वितीय—वाबिल का बेलोस् (बलासुर), तीसरा अफरासियाब (वृषपर्वा) और चौथा—असकन्दर (सिकन्दर)।[4] इनमें से प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्पष्ट असुर थे। वे ईरानी देवों के शत्रु थे। डा० मोदी का लेख महान् ईरान देश के थोड़े से भाग के विषय में सत्य ठहर सकता है।

३. इन चार में प्रसिद्ध तातारी राजा वृषपर्वा या अफरासियाब था। उसका वंश निम्नलिखित वंश वृक्ष से समझा जा सकता है—
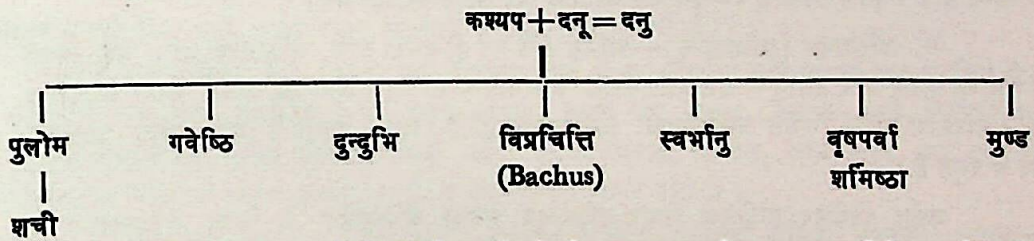
वायु पुराण ६८।३।। में विप्रचित्ति आदि के लिए अयज्वा और अब्रह्मण्य विशेषण लिखे हैं। मत्स्य पुराण ६।१६।। में इस वंश का उल्लेख है। तदनुसार अन्य प्रसिद्ध पुत्र, द्विमूर्धा, शकुनि, शंकु, अयोमुख, शम्बर, कपिश, केतु आदि थे।

योरोप की गाथ जाति—गवेष्ठि को वायु पुराण ६८।१६।। में मनुष्य-धर्मा कहा है। गवेष्ठि के वंशज ही आगे चलकर 'गाथ' कहाए। गाथिक भाषायें इन्हीं की हैं। पुराने गाथ **इस्तर='डेन्यूब'** नदी के उत्तरी तट पर बसे हुए थे। निश्चय ही वर्तमान **'डेन्यूब' 'दानव'** नदी है। इसी प्रकार डेन लोग भी दानवों के वंशज हैं।

---

१ तै० सं० २।६।६।। शतपथ० १३।४।३।६।। महाभारत शान्ति पर्व १२२।२७।। वायु पुराण ७०।८।।

२ देखें, २।१६९।। जै० ब्रा०।

३ हाग, पृष्ठ १७३।

४ पृष्ट १०१, द्वितीय ओरियण्टल कानफ्रेंस।

पुलोम के वंशज पौलोमों का वर्णन शांखायन आरण्यक के पूर्व उद्धृत प्रमाण में आया है। पुलोम की कन्या शची इन्द्र की पत्नी थी। जैमिनि ब्राह्मण ३।१९९।। में इस का उल्लेख है। यह शची ऋग्वेद १०।१५९।। की द्रष्ट्री है।

वृषपर्वा की दुहिता शर्मिष्ठा महाराज ययाति की पत्नी थी। उशना की कन्या देवयानी और वृषपर्वा की दुहिता शर्मिष्ठा के संवाद-विषय में एक गाथा महाभारत सभापर्व २।२६।। में उद्धृत है। महाभारत आदि पर्व ७३।१०, ३२ तथा ७५।७१ में शर्मिष्ठा का उल्लेख है। बौधायन धर्मसूत्र में भी वार्षपर्वणी का उल्लेख मिलता है।

आर्यों, देवों और असुरों के विवाह सम्बन्ध—अति प्राचीन काल में इन जातियों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होते रहते थे—

१. जैमिनीय ब्राह्मण ३।७२।। में लिखा है—**कण्वो वै नार्षदोऽखगस्यासुरस्य दुहितरमविन्दत।** अर्थात्—नृषद् के पुत्र कण्व ने, [जो मानवों में था] असुर अखग की दुहिता से विवाह किया। नार्षद कण्व प्रसिद्ध वैदिक ऋषि था।

२. दनू-पुत्र पुलोम की कन्या शची[1] इन्द्र की पत्नी थी।

३. दनू-पुत्र वृषपर्वा की दुहिता शर्मिष्ठा का भारतीय महाराज ययाति के साथ विवाह हुआ था। इस प्रकार के अनेक विवाहों का उल्लेख प्राचीन इतिहास में उपलब्ध होता है।

यदि इन जातियों की भाषाएं पृथक्-पृथक् होतीं तो इनके पारस्परिक विवाह सम्बन्ध विशेष रूप से न होते। इससे स्पष्ट है कि इन सब जातियों की भाषा एक ही थी।

४. अहिदानव (अजिदहाक)—पार्थिव वृत्र का ही दूसरा नाम अहिदानव था। वह त्वष्टा का पुत्र था। दनू और दनायू ने इसे माता-पिता के समान पाला था। अतः यह दानव नाम से प्रसिद्ध हुआ। पारसीक ग्रन्थों में स्मृत 'अजिदाहक' 'अहिदानव' ही है। अरबी भाषा में यह व्यक्ति 'डहहाक' नाम से स्मृत है।

जर्मन प्रोफेसर हाईन्नृश सिमर अहिदानव अथवा अजिदाहक के विषय में लिखता है कि आरमीनिया की परम्परा में 'अज्ह दहक' को मनुष्य रूप में चित्रित किया गया है। और सांप उसके कन्धों से निकलते दिखाये हैं।[2] इति। त्वष्टा और उसकी संतानें सब संस्कृत भाषी थीं।

५. तुर्वसु=तूरानियन—यूराल और आल्टिक अथवा फिनलैंड और तातार देशों को कभी तूरानियन देश कहते थे। इन देशों के निवासी वृषपर्वा दानव के जामाता महाराज ययाति से देवयानी में उत्पन्न तुर्वसु के वंश की एक शाखा में थे। उन्होंने अपने पूर्वज के नाम को 'तूरानियन' शब्द के 'तुर' अंश में सुरक्षित रखा है। चेम्बरस् नामक अंग्रेजी कोष का संपादक पुरानी जातीय एकताओं से भयभीत हुआ लिखता है—

Turanian, a philological term which came to be used for non-languages of the Ural-Altaic or Finno-Tatar group, some time exended so as to include the

---

१ तुलना करें—मत्स्य पुराण ६।२१ से।

२ पृष्ठ २०८, २०९, फिलासफीज आफ इण्डिया।

Dravidian tongues of India, also of the agglutinative type, thus erroneously suggesting affinity between non-Aryan and non-Semetic groups of languages which are probably quite unconnected.

इस लेख के लिखने वाले ने अन्त में probably और quite दो सर्वथा विरोधी शब्द लिखकर सारी नौका डुबो दी है। अस्तु। इन्हें ही उत्तर काल में तुर्क कहने लगे थे।

तुर्की भाषा के चाकू[1], कैंची आदि शब्द आज भी इसके संस्कृत से सम्बन्ध का परिचय देते हैं। तुर्की भाषा भी इस बात का अच्छा उदाहरण है कि सहस्रों वर्षों के अनन्तर भाषा कहां से कहां पहुंच जाती है।

कभी गन्धार और ईरान का एक भाग एक शासन के अधीन थे। ईरान में Darius नाम अनेक राजाओं ने धारण किया है। भारत युद्ध से कुछ पूर्व गन्धार का एक राजा नग्नजित् था। इसका अपर नाम दारुवाही था। दारुवाह नाम का अवशेष ही Darius नाम में रह गया।[2] यह दारुवाही आयुर्वेद की एक संहिता का रचयिता था। वह ग्रन्थ उत्कृष्ट संस्कृत में है। उस समय ईरान में संस्कृत बोलने और समझने वाले विद्यमान थे। फारसी भाषा संस्कृत का ही अपभ्रंश रूप है।

ईरान की सात भाषाएं—पुराने ईरान में दस विभिन्न जातियों[3] और सात भाषाओं के भेद हो चुके थे। सैय्यद हुसैन शाह के फारसी व्याकरण (तुहक-तुल-अजम) के आधार पर मार्टिन हाग इनके निम्नलिखित नाम देता है। चार मृत भाषाएं, यथा—सुग्धी, जाउली, सकजी (शक) और हिरिवि। और तीन प्रचलित भाषाएं– फारसी, दारी और पह्लव देश की भाषा।[4]

इनमें से शक भाषा निश्चित ही संस्कृत का विकार मात्र थी। शक कभी आर्य थे और उत्तर काल में शूद्र बने। इनके साथी पह्लव भी आर्य थे। यह सन्देह से परे है।[5]

सब जातियां आर्य—महाभारत, अनुशासन पर्व में एक अद्वितीय ऐतिहासिक सत्य सुरक्षित है। तदनुसार[6] शक, चीन, काम्भोज, पारद, शबर, पल्लव, यवन, वेण, कङ्कण, सिंहल, मद्रक, किष्किन्धक, पुलिन्द, कच्छ, आन्ध्र, नीरग, गन्धिक, द्रविड, बर्बर, चूचुक, किरात, पार्वतेय, कोल, चोल, खष, आरूक, दोह, आदि म्लेच्छता को प्राप्त हुए। कभी वे शुद्ध संस्कृत भाषी आर्य थे।

इसी पर्व में अन्यत्र भी शक, यवन, कम्भोज, द्राविड, कलिङ्ग, पुलिन्द, उशीनर, कोलिसर्प और महिष को क्षत्रिय कहा है। ये भी ब्राह्मण के अदर्शन से संस्कार हीन होकर शूद्र हो गये।[7]

इसी पर्व में अन्य स्थान पर मेकल, द्राविड़, पौण्ड्र, काण्वशिर, शौण्डिक, दार, दास, चोर (=चोल), शबर, बर्बर, किरात और यवनों को क्षत्रिय लिखा है। ये भी ब्राह्मण के अदर्शन से शूद्र हुए।[8]

---

१ पृ० २१८, मंगलदेव।

२ पृ० १९६, भाग १, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास।

३ पृ० ६६ भाग १, हेरोडोटस।

4 p. 66, note 2, Essays on the Sacred Language and Religion of the Parsis, Revised by E. W. West, 4th ed., London, 1907.

5 See, Śakas in India, Satya Shrava.

६ १४६।१३-१९॥ अनुशासनपर्व, महाभारत।

७ ६८।२१-२३॥ वही।

८ ७०।१९-२०॥ वही।

इनमें से शक, दार, पह्लव, बर्बर[१]=पारसी आदि निस्सन्देह ईरान की जातियां हैं। उनकी भाषा कभी शुद्ध संस्कृत थी। कौन उन्हें भारतीय भाषाओं के समूह से पृथक् कर सकता है।

अतः ईरान की सम्पूर्ण भाषाएं संस्कृत की विकृति हैं। यही सत्य है। योरोप के भाषा-मानियों ने फारसी आदि का मूल जो कल्पित भारोपीय भाषा-माना है, यह तर्क विरुद्ध है। अब संस्कृत भाषा के संसार-व्यापी होने के अन्य प्रमाण दिए जाते हैं।

संस्कृत भाषी फिनिशियन=पणि

आकाशीय तथा पार्थिव पणि—वेद में पणियों का बहुधा उल्लेख है। यास्क मुनि के अनुसार वणिक-वृत्ति जनों को पणि कहते हैं। वेद के पणि आकाशस्थ भौतिक माया का एक अङ्ग थे। तद्गुण रखने वाली एक पार्थिव जाति को ऋषियों ने पणि नाम दिया।

गोरक्ष पणि—पणि लोग देवों के साथी थे। देवों के गोपाल थे। जैमिनि ब्राह्मण ३।४४०।। में लिखा है—**अथ ह वै पणयो नामासुरा देवानां गोरक्षा आसुः**। अर्थात्—पणि नाम के असुर (प्राचीन काल में) देवों की गौवों के रक्षक थे।

देव-पूजक पणि—पणि लोग विष्णु के पूजक बन गये। उन्होंने अपने नगरों में विष्णु (Hercules) के मन्दिर बनवाए। हेरोडोटस ने फिनिशिया के टाइरे (Tyre) नगर में विष्णु (हरक्यूलीज) का एक मन्दिर प्रत्यक्ष देखा था। वह उस के काल से तेईस सौ (२३००) वर्ष पहले अर्थात् विक्रम से २७०० वर्ष पूर्व बना था।[२] पणि वणिक वृत्ति=व्यापारी थे। वे जहां कहीं जाते थे, विष्णु का मन्दिर बना देते थे।

पणियों का निवास स्थान—पणि पहले इरिथ्रियन समुद्र (हेरोडोटस का भारत सागर और फारस की खाड़ी) के तटों पर वास करते थे।

पद्मनाभैया के अनुसार फारस की खाड़ी पर कुजिस्तान ही पुराना ऐलम है। ऐलम पणियों का स्थान था। ऐलम की राजधानी 'सुसा' थी।[३]

मत्स्य पुराण में आश्चर्य रूप से यह तथ्य सुरक्षित रहा है। यथा—

सुषा नाम पुरी रम्यावरुणस्यापि धीमता।

निश्चय ही पणियों का कोई भाग वरुण के राज्य में रहता था और संस्कृत से पूर्ण परिचित था।

यूनान के लिपि-प्रदाता—पणियों का एक समूह जो चन्द्रमा (Cadmus) के साथ यूनान के आस-पास व्यापार करता था, वहीं बस गया था।[३] उस समूह के विद्वानों ने यूनानियों को लिपि का ज्ञान कराया। उस लिपि में प्रायः वे ही ध्वनियां हैं जो संस्कृत लिपि में पाई जाती हैं। वर्णों का ध्वनि-साम्य कभी अति पुरा काल में भाषा की समानता का परिचायक है। विष्णु की पूजा भी पणियों में प्रचलित थी। अतः निश्चय है कि अति प्राचीन काल में फिनिशियन संस्कृत-भाषी थे।

---

१ हेरोडोटस बर्बर नाम से पारसियों का ग्रहण करता है।

2 I made a voyage to Tyre in Phoenicia hearing there was a Temple of Hercules at that place, very highly venerated I visited the temple and found it. p. 136 Vol. 1, Herodotus.

३ पृ० २५, भाग २, हेरोडोटस।

सुर देश (Syria) की भाषा संस्कृत

नाम—जिन लोगों को ग्रीक लोग 'सीरियन' कहते हैं, उन्हें ही बर्बर (barbarians, जिन में पारसी भी सम्मिलित थे) 'असीरियन कहते थे।[1] जब पारसी अपने को देव अथवा सुर कहने लगे, तो अपने विरोधियों को इन्होंने असुर कहा। प्राचीन काल में इन्हें अथवा इनके किसी बृहत्स्थान को कप्पडोसियन (Cappadocian) भी कहते थे।[2] कप्पडोसिया का एक प्रदेश प्तेरिया (Pteria) भी था।[3] प्तेरिया तुर्की के ऊपर है।[4] सीरिया का एक भाग फिलिस्तीन (Palestine) भी था।[5] इस समय यह अरब देश है।

पितर देश में भारत-संहिता श्रावण—प्तेरिया पुराना पितर देश है। महाभारत १।१२३,१२४।। के अनुसार असित देवल ने पितरों=प्तेरिया निवासियों को १५ लाख श्लोकों की भारत संहिता सुनाई थी। प्तेरिया वासी संस्कृत जानते थे, तभी उन्हें भारत संहिता सुनाई गई। प्तेरिया के साथ देव-देश और असुर-देश था। इसमें आश्चर्य नहीं। यह अवस्था १५ सहस्र वर्ष से अधिक पुरानी है। उत्तर काल में इसी देश में यहूदियों ने वास ग्रहण किया। प्रतीत होता है तब देव इस देश को छोड़ चुके थे। सीरिया की पुरानी भाषा का अवशेष अब नहीं मिलता। मतान्ध ईसाइयों ने उसका नाश कर दिया।

सीरिया की उपलब्ध भाषा का उदाहरण विक्रम सं० २०० तथा उससे उत्तर काल का है। गत दस सहस्र वर्ष में इन देशों की भाषाओं में कितने विकार उत्पन्न हुए, इनका अध्ययन भारत के उत्तरवर्ती विद्वान् करेंगे। सुर तो संस्कृत बोलते थे। अतः इस देश की भाषा कभी संस्कृत थी।

मिश्र भी संस्कृत-भाषी

१. मिश्र के पुरोहित देवों की तीन श्रेणियों से परिचित थे। इनका विस्तार 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' में कर चुके हैं।[6] इन्हें वे आज से बीस सहस्र वर्ष पहले हुआ मानते थे।[7] देवों का इन तीन श्रेणियों का यथार्थ व्याख्यान भारतीय इतिहास से ही सम्भव हुआ है। इसका श्रेय इन पंक्तियों के लेखक को ही है। मिश्र के लोग चिरकाल तक देवों के उपासक रहे। वे दैवी-वाक् को जानते थे।[8] उनके सृष्टि उत्पत्ति के वर्णन में वेद मंत्रों और ब्राह्मण वचनों का अनुवाद विद्यमान है।[9]

२. हैरोडोटस के काल में भी मिश्र के पुरोहित यज्ञों के अतिरिक्त मांस का प्रयोग नहीं करते थे।[10] मांस-बलि की अवहेलना आर्य सभ्यता का प्रधान-मंत्र रहा है। इससे प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल के मिश्र के पुरोहित आर्यभाव-भावित थे।

---

१ पृ० १४६, भाग २, हैरोडोटस।
२ पृ० ३५, भाग १, हैरोडोटस। पृ० २१, भाग २, वही।
३ पृ० ३८, भाग १, हैरोडोटस।
४ पृ० २५०, भाग १, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम संस्करण।
५ पृ० १६४, भाग १, हैरोडोटस।
६ पृ० २१५-२१८।
७ पृ० २१८, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १।
८ यही ग्रन्थ, पूर्व पृष्ठ २, ३।
९ पृष्ठ २०७ भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १।
१० पृष्ठ २१६, भाग १, हैरोडोटस।

ये इतने पुरातन काल की बातें हैं कि इनका शृङ्खला बद्ध इतिहास जोड़ने के लिए संसार के पुराने ग्रन्थों का अधिक विवेचन करना पड़ेगा।

मिश्र में दो लिपियां चलती रही हैं। एक पवित्र लिपि; जिसे वे देव लिपि कहते थे, दूसरी साधारण लिपि। इससे स्पष्ट है कि पुरातन मिश्रवासियों का देवों के साथ गहरा सम्बन्ध था। देव संस्कृत भाषी थे। अतः प्राचीनकाल में मिश्र भी संस्कृत भाषी था।

अरब निवासी संस्कृत भाषी

१. अरब का पुराना इतिहास लुप्त-प्रायः है। पर हैरोडोटस ने अरब की कई बातें और प्राचीन अरबी-भाषा के अनेक शब्द सुरक्षित रखे हैं। यथा—

(क) अरब के पुराने लोग मित्र देवता को अपनी भाषा में 'अ-लित्त' कहते थे। यह शब्द मित्र शब्द का साक्षात् अपभ्रंश है।

(ख) अरब की भाषा में बेक्कस (Bachus) अथवा विप्रचित्ति को अरोतल (Oroetal) कहते थे। यह भी विप्रचित्ति का विकार है।

२. आज भी अरबी भाषा में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो साक्षात् संस्कृत के अपभ्रंश हैं। यथा—

(क) अरबी भाषा के 'ईद-उल-जुहा' (अर्थात् बलि की ईद) पदों में 'जुहा' शब्द ठीक जुहोति क्रिया का रूप है।

(ख) इसी प्रकार अरबी का 'अल्लाह' शब्द संस्कृत भाषा के 'अल्ला' माता शब्द का अपभ्रंश है।[1]

(ग) अरबी का 'अब्बा' शब्द संस्कृत के बाप शब्द का और 'उम' शब्द संस्कृत के 'अम्बा' शब्द का रूपान्तर है।

(घ) अरबी भाषा का 'आदम' शब्द संस्कृत ग्रन्थों में उल्लिखित आदि देव=ब्रह्मा है।

(ङ) संस्कृत ग्रन्थों में स्मृत 'भृगु' अरबी का 'जेब्र (-ईल')' प्रतीत होता है।

३. अरबी में संस्कृत के समान ही एक वचन, द्विवचन और बहुवचन तीनों पाये जाते हैं। यह सादृश्य असाधारण है। अरबी भाषा के व्याकरण में धातुओं की कल्पना अपने ढंग की है।

पंडित रघुनन्दन शर्मा ने अपने "वैदिक सम्पत्ति" नामक ग्रन्थ में अरबी भाषा के कुछ शब्दों का सादृश्य संस्कृत शब्दों से दर्शाया है। उनमें से अन्तकाल और इन्तकाल आदि शब्दों का सादृश्य धात्वर्थ का भेद होने से हम ठीक नहीं समझते, परन्तु उनके पर्याप्त शब्द उनकी सूक्ष्म-बुद्धि का परिचय देते हैं। पाठक अधिक वहीं देखें।

वस्तुतः योरोपियन भाषा विदों की भाषाओं का वर्गीकरण सर्वथा अशुद्ध और पक्षपात-पूर्ण है। वह तर्क की कसौटी पर टिकता नहीं है। यहां इसका एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। जब योरोपीय लेखकों ने देखा कि पहलवी भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य सिद्ध हो रहा है, तब उसका वर्गीकरण बदला।[2] तारापुरवाला ने पहलवी को अपने गुरुओं के आदेशानुसार आर्य भाषा में कर दिया।[3]

---

१ काशिका ७।३।१०७ में उद्‌धृत। २ पृष्ठ २३२, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास।

3 p. 398, Elements of the Science of Language, 1951, 2nd ed.

आस्ट्रिक भाषाएं

कुछ देर से योरोप के कुछ लेखकों को एक नया रोग चिमटा। वह है आस्ट्रिक भाषा के शब्दों को मूल कहकर अनेक संस्कृत शब्दों को उनका अपभ्रंश सिद्ध करना। कलकत्ता के डा० सुनीति कुमार चैटर्जी इस रोग द्वारा सबसे अधिक अभिभूत हुए। मानो उन्हें यह रोग भूतवत् चिपट गया, पर इतिहास को जाने बिना उनकी गप्पों पर कौन गम्भीर ध्यान दे। मुण्डा, कोल, भील आदि जातियां कभी विशुद्ध क्षत्रिय जातियां थीं। उनकी भाषा संस्कृत का ही अपभ्रंश है।

भारत में लुप्त वैदिक शब्द संसार की अन्य भाषाओं में

१. बरो ने अपने संस्कृत भाषा विषयक नये ग्रन्थ में उन कतिपय वैदिक शब्दों की तालिका दी है जो भारतीय भाषाओं में अप्रयुक्त हो गये, पर संसार की अन्य विविध भाषाओं में पाए जाते हैं।

२. पंडित राजाराम ने वेद-कुसुमाञ्जलि में इस प्रकार के एक शब्द की ओर ध्यान दिलाया था।

३. पं० युधिष्ठिर ने अपने व्याकरण शास्त्र का इतिहास में पं० राजाराम वाला शब्द लिखकर दो नये शब्दों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया।

४. एतद् विषयक एक नया शब्द हम प्रस्तुत करते हैं। वह है कुमार। फारसी भाषा में कुमारखाना आदि में वह जुआ अर्थ में प्रयुक्त होता है। और इसी अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद के प्रसिद्ध अक्षसूक्त में प्रयुक्त है।

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि संस्कृत संसार की सब भाषाओं की माता है। विद्वानों के लिए अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

उपसंहार

संस्कृत भाषा के व्यापक स्वरूप का अति संक्षिप्त उल्लेख कर दिया। योरोप के चरण चिह्नों पर न चलकर हमनें अपना अनुसंधान स्वतन्त्र-रूप से आगे चलाया। हमारे परिणाम ऊपर लिखे जा चुके हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ठीक ही कहा था—"इसलिए संस्कृत में ही [वेद का] प्रकाश किया जो किसी देश की भाषा नहीं और वेद-भाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है। (सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास)।

यहां संस्कृत शब्द वेद वाक् के लिए प्रयुक्त हुआ है। पूना नगर में १० जुलाई, शनिवार, सन् १८७५ के दिन स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने एक व्याख्यान दिया था।[1] उसमें कहा था—संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है। अंग्रेजी सदृश भाषाएं उससे परम्परा से उत्पन्न हुई हैं। एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है। 'वयम्' इस शब्द के 'यम्' [भाग] को सम्प्रसारण

---

१ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पूना में ४ जुलाई सन् १८७५ से विशेष व्याख्यान-माला प्रारम्भ की थी, जो उस समय मराठी में अनूदित होकर तात्कालिक समाचार पत्रों में छपती रही। उसी व्याख्यान-माला के १५ व्याख्यान हिन्दी-आर्य भाषा में उपदेश मञ्जरी के नाम से छपे हैं।

होकर अंग्रेजी का 'वूई' यह शब्द उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार 'पितर' से 'पेतर' और 'फादर', 'यूयं' से 'यू' और 'आदिम' से 'आदम' इत्यादि। ऐसे-ऐसे अपभ्रंश कुछ एक नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेच्छाचार से भी होते हैं। इस बारे में बुद्धिमानों को कहने की कुछ अधिक आवश्यकता नहीं है।[१]

दयानन्द सरस्वती महान् भाषा-शास्त्री—स्वामी दयानन्द सरस्वती की असाधारण प्रतिभा और उत्कृष्ट विश्लेपण-बुद्धि का पूर्वोद्धृत वाक्य-समूह एक सजीव प्रमाण है। अपभ्रंशों में सब भ्रंश नियमानुकूल नहीं हुए, यह त्रिकाल-सिद्ध सिद्धान्त स्वामी जी ने अनायास समझ लिया था। उसी का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। जर्मनी के युवक वैयाकरणों का भ्रांत मत अब कोई बुद्धिमान् पुरुष स्वीकार नहीं करता।

पण्डित रघुनन्दन शर्मा ने भी इस विषय में स्वतंत्र काम किया, परन्तु पाश्चात्य, अन्वेषकों ने उनकी कई प्रबल युक्तियों का उत्तर नहीं दिया। हमने इस विषय में ऐतिहासिक आधार को सबसे प्रथम बार आगे किया है। हमारे इस ऐतिहासिक अनुशीलन को बिना काटे कोई आगे नहीं जा सकता। योरोपीय लोगों में से कुछ एक को ऐतिहासिक आधार का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था, पर वेद काल अति प्राचीन सिद्ध न हो जाए, अतः इस दिशा में जड़ ही बने रहे।

★

---

१ उपदेश मञ्जरी, पृष्ठ ३९, सन् १९१०, बरेली से प्रकाशित।

चतुर्थ अध्याय

भारतीय इतिहास की प्राचीनता

भारतीय सत्य मत—आर्यावर्त के प्राचीन ऋषि, मुनियों, मध्यकालीन महान् आचार्यों, पण्डितों और अनेक आधुनिक विद्वानों का मत है कि भारतीय इतिहास बड़ा प्राचीन है। भारत युद्ध जो द्वापर के अन्त अथवा कलियुग के आरम्भ से कोई ३७ वर्ष पूर्व हुआ,[१] अभी कल की बात है। आर्यों का इतिहास उससे भी सहस्रों वर्ष पूर्व से आरम्भ होता है। वराहमिहिर[२] के अर्थ को पूर्णतया न समझने वाले काश्मीरी कल्हण[३] आदि को छोड़कर शेष आर्य विद्वानों के अनुसार भारत-युद्ध को हुए ५००० वर्ष से कुछ अधिक काल हो चुका है। उस भारत-युद्ध से भी कई शताब्दी पूर्व का क्रम-बद्ध इतिहास महाभारत और पुराण आदि में मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि अनेक अंशों में सुविदित भारतीय इतिहास दस सहस्र वर्ष से कहीं अधिक पुराना है।

पाश्चात्य मत—इसके विपरीत पश्चिम अर्थात् योरोप और अमेरिका के प्रायः सारे आधुनिक ईसाई लेखकों और उनका अनुकरण करने वाले कतिपय एतद्देशीय ग्रन्थकारों ने चातुर्य से एक मत कल्पित किया कि आर्य लोग बाहर से आकर भारत में बसे। यह बात आज से कोई ४५०० वर्ष पूर्व हुई होगी। अतः भारत में आर्यों का इतिहास इससे अधिक पुराना कभी हो ही नहीं सकता। इस विषय के अन्तिम लेखक अध्यापक रैप्सन (Rapson) का मत है—

It is indeed probable thet all the facts of this migration, so far as we know them, can bc explained without postulating an earlier beginning for the migrations than 2500 B.C.[4]

पुनः—

It is, however, certain that the Rigveda offers no assistance in determining the mode in which the Vedic Indians entered India.[5]

अर्थात्—अपने मूल स्थान से आर्यों का प्रवास ईसा से पूर्व हुआ होगा। इस सम्बन्ध की सब घटनाएं इतना काल मानकर समझायी जा सकती हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि वैदिक आर्य जिस रीति से भारत में प्रविष्ट हुए, उस का कोई पता ऋग्वेद में नहीं मिलता।

---

१ देवकी-पुत्र कृष्ण का देहावसान द्वापर के अन्तिम दिन हुआ था। तभी युधिष्ठिर ने राज्य छोड़ा था। युधिष्ठिर-राज्य ३६ वर्ष तक रहा। देखें, महाभारत, मौसल पर्व १।२॥ तथा ३।२०॥

२ ३।३॥ बृहत्संहिता।

३ १।५१-५३॥ राजतरंगिणी।

4 p. 70, Vol. I, The Cambridge History of India, 1922.

5 ibid, p. 79.

एसीरिओलोजि (आसुरी-विद्या) के अध्यापक डा० एस. लैंगडन ने भारत में आर्यों का आगमन ईसा पूर्व ३२००-२८०० वर्ष माना है।[1]

परलोक गत भारतीय बट कृष्ण घोष लिखता है—

And the dispersal of the Indo-Irānians from their original home should have begun about 2000 B. C.[2]

अर्थात्—आर्य लोग अपने मूल स्थान से लगभग २००० ईसा पूर्व में पृथक् हुए।

सारांश—पाश्चात्य लोगों का यह मत कितना भ्रान्त है, सर्वथा असत्य और कुटिलता पूर्ण आधुनिक भाषा-मत के आधार पर की हुई उनकी कल्पना सत्य से कितनी दूर है, तथा उनके इस मिथ्या-प्रचार से आर्य संस्कृत का कितना अनिष्ट हुआ है, यह सब अगली पंक्तियों के पाठ से सुस्पष्ट हो जाएगा।

पश्चिम के लेखकों ने अपनी इस कल्पना को सिद्ध करने के लिए प्राचीन वाङ्मय के सब ही ग्रन्थों की निर्माण-तिथियां उलट दी हैं।

कपिल, आसुरि और पंचशिखादि के महान् सांख्यशास्त्रों; इन्द्र, बृहस्पति, प्राचेतस मनु, उशना, नारद, पिशुन और गौरशिरा के अर्थशास्त्रों; नन्दी, औद्दालकि श्वेतकेतु तथा बाभ्रव्य पांचाल के कामशास्त्रों; राजपुत्र और पालकाप्य के हस्तिशास्त्रों; शालिहोत्र और गार्ग्य के अश्वशास्त्रों तथा वास्तु, ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण, छन्द के शतशः शास्त्रों; महाभारत और मानव धर्मशास्त्र की संहिताओं; श्रौत और गृह्य सूत्रों; वेदांत और मीमांसा दर्शनों तथा निरुक्त आदि शास्त्रों; सुतरां सारे प्राचीन साहित्य को जो महाभारत काल (लगभग ३००० पूर्व विक्रम) में अथवा उससे पूर्व बना, अब विक्रम से ६०० वर्ष तक के अन्तर्गत लाया जाता है। स्वयं भूल करने वाले इन पक्षपाती लोगों ने आर्य ऐतिह्य के प्रायः सारे ही अंशों में अविश्वास-भाव को उत्पन्न करने का अणुमात्र भी परिश्रम-शेष नहीं रहने दिया। यूनान का इतिहास प्रायः सत्य समझा जा सकता है, काल्डिया, मिश्र और चीन के ऐतिहासिक भी पर्याप्त ठीक माने जा सकते हैं, यहूदी इतिहास बहुत अधिक सच्चा माना जा सकता है और इस्लामी ऐतिहासिकों पर पर्याप्त विश्वास हो सकता है, पर कराल-काल के हाथों से बचा हुआ आर्य ऐतिह्य इन से नितान्त मिथ्या बताया जाता है। यह क्यों ? कारण कि यह बहुत पुरानी बातें कहता है।[3] यह अपने को विक्रम से सहस्रों वर्ष पूर्व तक ले जाता है, नहीं, नहीं, क्योंकि यह कल्पान्तरों का वर्णन करता है।

विचारने का स्थान है कि क्या आर्यावर्त के सारे ग्रन्थकारों ने अनृत-भाषण का व्रत ले लिया था ? क्या पूर्व और पश्चिम तथा उत्तर और दक्षिण के सारे ही भारतीय लेखकों ने आर्य इतिहास को अति प्राचीन कहने का एक मत कर लिया था ? यदि ऐसी ही बात थी तो इसमें उन्हें क्या लाभ अभिप्रेत था ? सत्य भाषण का परमोत्कृष्ट आदर्श उपस्थित करने वाले आर्य ऋषि इतने अनृतवादी हों, ऐसा कहना इन्हीं योरोपीय प्रोफेसरों का दुःसाहस है। अस्तु, अब अधिक न लिख कर हम वे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनसे स्पष्ट ज्ञात होगा कि भारतीय इतिहास बड़ा प्राचीन है।

---

1 Mohenjo Daro and Indus Civilisation, p. 431.

2 The Vedic Age, Chap. X, p. 206.

3 The earliest of these genealogies, like the most ancient chronicles of other peoples, are legendary. Cambridge History of India, 1922, Vol. I, p. 304.

व्याकरण महाभाष्य का साक्ष्य

पाणिनीय सूत्र ३।२।११५।। पर भाष्य करते हुए पतञ्जलि (१४०० विक्रम पूर्व) लिखता है—कथं जातीयकं पुनः परोक्षं नाम । केचित्तावदाहुर्वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुर्वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति ।[1] अर्थात्—परोक्ष के विषय में कई आचार्यों का ऐसा मत है कि जो सौ वर्ष पहले हो चुका हो वह परोक्ष है और कई आचार्य ऐसा कहते हैं कि जो सहस्र वर्ष पूर्व हो गया हो वह परोक्ष है ।

पतञ्जलि का समय पाश्चात्य लेखकों के अनुसार विक्रम से १००-१५० वर्ष पूर्व तक का है । यदि क्षणमात्र के लिए दुर्जनतोषन्याय से यह काल मान लिया जाय तो इतना निश्चित हो जाता है कि पतञ्जलि से भी कुछ पूर्व-काल के आचार्य परोक्ष के विषय में ऐसी सम्मति रखते थे कि उनसे सहस्र वर्ष पहले होने वाला वृत्त परोक्ष की अवधि में आता है । अर्थात्—उन आचार्यों को विक्रम से १२०० या १३०० वर्ष पहले के इति वृत्तों का ज्ञान था और उन वृत्तों के लिए वे परोक्ष के रूप का प्रयोग करते थे । इससे इतना ज्ञात होता है कि पतञ्जलि से १०० या २०० वर्ष पहले होने वाले विद्वानों को अपने से सहस्र वर्ष पहले होने वाले वृत्तों का यथार्थ ज्ञान था ।

पतञ्जलि को आर्य इतिहास का कैसा ज्ञान था, यह महाभाष्य के पाठ से विदित हो जाता है । यथा—पाणिनीय सूत्र ३।२।१२३।। पर लिखे गए वार्तिक—सन्ति च काल विभागाः पर भाष्य करते हुए वह कहता है कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल राजाओं की क्रियाओं के सम्बन्ध में अमुक प्रयोग होते हैं । पुनः—

१. कंस को वासुदेव ने मारा । ३।२।१११।।
२. धर्म से कुरुओं ने युद्ध किया । ३।२।१२२।।
३. दुःशासन, दुर्योधन । ३।३।१३०।।
४. मथुरा में बहुत कुरु चलते हैं । ४।१।१४।।
५. अश्वत्थामा । ४।१।२५।।
६. व्यास पुत्र शुक । ४।१।९७।।
७. उग्रसेन (कंस का पिता), श्वाफलक (अक्रूर), विश्वक्सेन (कृष्ण), वसुदेव, बलदेव, नकुल और सहदेव के पुत्रों का वर्णन । ४।१।११४।।
८. आजमीढ़ि तथा दक्षिण पंचाल का राजा नीप और उसके कुल वाले नैप्य । ४।१।१७०।।
९. तृणबिन्दु का पुत्र तार्णविन्दवीय ४।२।२८।। तथा अन्यत्र भी सैकड़ों ऋषियों और जनपदों का उल्लेख देखने योग्य है ।

सम्राट् खारवेल का शिलालेख

श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार महाराज खारवेल का काल १६० पूर्व ईसा है । जैन-आचार्य हिमवान् के नाम से जो थेरावली प्रसिद्ध है,[2] उसके अनुसार भिक्खुराय=खारवेल का

---

१ प्रो० कीलहार्न के कुछ हस्तलेखों में सहस्रवृत्त वाला पाठ नहीं है, परन्तु अनेक अन्य कोशों में ऐसा पाठ मिलने से हम ने इसे प्राचीन पाठ समझा है ।

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ११, अंक २ । मुनि कल्याण विजय जी का लेख पृ० १०३ ।

राज्याभिषेक वीर संवत् ३०० और स्वर्गवास वीर संवत् ३३० में हुआ था। इस खारवेल का एक शिलालेख हाथी गुम्फा में मिला है। उसकी ११वीं पंक्ति में लिखा है—पुवराजनिवेसितं पीथुडगदभनगले नेकासपति जनपदभावनं तेरसवससत केतुभद तितामरदेह संघाटं।[1] अर्थात्—(अपने राज्य के ग्यारहवें वर्ष में) उस ने महाराज केतुभद्र की नीम की मूर्ति की सवारी निकाली, जो १३०० वर्ष पहले हो चुका था। यह मूर्ति प्राचीन राजाओं ने पृथूदकदर्भ नाम नगर में स्थापित की थी। इससे सिद्ध होता है कि महाराज खारवेल से १३०० वर्ष पहले का इतिहास उस समय विदित था, अथवा विक्रम से १४०० या १४५० वर्ष पहले के राजाओं का ज्ञान तो उन दिनों के लोगों को अवश्य था। यहां कई लोग १३०० के स्थान में ११३ वर्ष अर्थ मानते हैं। परन्तु यह बात अभी विचारणीय है।

कलियुग संवत्

कलियुग संवत् आर्यों का एक प्रसिद्ध संवत् है। इसका आरम्भ ३०४४ पूर्व विक्रम से होता है। इस संवत् का प्रयोग इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय लोग विक्रम से न्यून से न्यून ३०५० वर्ष पूर्व का अपना इतिवृत्त जानते थे। भारतीय विद्वान् जो इस संवत् का प्रयोग करते रहे हैं, अपने को इसी देश का निवासी लिखते रहे हैं, अतः यह सिद्ध है कि भारतीय इतिहास निस्सन्देह कलि संवत् जितना पुराना है।

कलि संवत् का प्रयोग निम्नलिखित स्थानों में देखने योग्य है—

(क) आचार्य हरिस्वामी अपने शतपथ ब्राह्मण भाष्य के हविर्यज्ञ काण्ड के अन्त में लिखता है—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्याः तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

अर्थात्—कलि के ३७४० वर्ष व्यतीत होने पर यह भाष्य रचा गया।

(ख) चालुक्य कुल के महाराज पुलकेशी द्वितीय का एक शिलालेख दक्षिण के एक जैन मन्दिर पर मिला है। उसमें लिखा है—

त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु शतेष्वब्देशु पञ्चसु॥३३॥[2]
पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥३४॥

अर्थात्—भारत युद्ध से ३६८७ कलि वर्ष बीत जाने पर जब कि शक भूभुजों के ५०६ वर्ष व्यतीत हुए थे, तब......

(ग) प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्यभट्ट अपनी आर्यभट्टीय के कालक्रियापाद में लिखता है:—

षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः॥१०॥

---

1 J.B.O.R.S., 1917, p. 457.
2 Epigraphia Indica, Vol. VI, p. 7.

अर्थात्—तीन युगपाद और चतुर्थ युग के जब ३६०० वर्ष व्यतीत हो चुके, तब मुझे जन्मे हुए २३ वर्ष हुए हैं।

कलियुग संवत् के सम्बन्ध में डा० फ्लीट की सम्मति

पूर्व निर्दिष्ट अन्तिम लेख से अधिक पुराने काल में कलि संवत् का प्रयोग पुराने ग्रन्थों में अभी तक हमारे देखने में नहीं आया।[1] परन्तु इसका यह परिणाम नहीं हो सकता कि कलिसंवत् एक काल्पनिक सवत् है और यहां के ज्योतिपियों ने कलि के ३५०० वर्ष पश्चात् अपनी सुविधा के लिए इसका प्रचार किया।[2]

इस संवन्ध में डा० फ्लीट ने दो लेख लिखे थे। वे लेख इस संबंध में समस्त पाश्चात्य विचार का संग्रह करते हैं। उनके कथन का सार उनके लेखों के निम्नलिखित उदाहरणों से दिया जा सकता है—

But any such attempt ignores the facts that the reckoning is an invented one, devised by the Hindu astronomers for the purposes of their calculations some thirty five centuries after that date.

The general idea of the ages, with their names, and with a graduated deterioration of religion and morality, and shortening of human life, with also some conception of a great period known as the kalpa or aeon, which is mentioned in the inscription of Ashoka (B. C. 264-227),—seems to have been well established in India before the astronomical period. But we cannot refer to that early time any passage assigning a date to the beginning of any of the ages, or even alloting them the specific lengths, whether in solar years of men or in divine years mentioned above.

Literary instances are not at all common, even in astronomical writings. The earliest available one seems to be one of A. D. 976 or 977 from Kashmir: it is the year in which Kayyaṭa, son of Chandrāditya wrote his commentary on the Deviśataka of Ānandavardhana, when Bhīmagupta was reigning.[3]

अर्थात्—(क) कलि संवत् की गणना भारतीय ज्योतिषियों ने उस काल के कोई ३५ शताब्दी पश्चात् अपनी सुविधा के लिए निकाली है।

(ख) युगों और युगनामों आदि का विचार ज्योतिष काल (पहली से तीसरी शताब्दी विक्रम) से पहले सुनिश्चित हो चुका था, परन्तु कोई एक युग कब आरम्भ होता है और उसमें कितने मानुष या दैव वर्ष हैं, ऐसा बताने वाला कोई प्राचीन वाक्य नहीं है।

(ग) ग्रन्थकार भी कलि संवत् का प्रायः प्रयोग नहीं करते। सबसे पुराना ग्रन्थकार कैयट है जो देवीशतक की अपनी टीका में कलि ४०७८ का उल्लेख करता है। यथा—

वसुमुनिगगनोदधिसमकाले याते कलेस्तथा लोके। द्वापंचाशे वर्षे रचितेयं भीमगुप्तनृपे॥

---

१ ज्योतिर्विदाभरण नामक ज्योतिष ग्रन्थ में इससे पहले का एक लेख है। परन्तु यह ग्रन्थ कितना पुराना है, यह अभी विचारास्पद है।

2 J. R. A. S., 1911, पृ० ४७१-४९९, तथा ६७५-६९८। ३ पृ० ४८५-४८६.

प्लीट का प्रतिध्वनिकर्ता—प्लीट के चरण-चिन्हों पर चलने वाला प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त लिखता है—

It is thus seen that the Kali-reckoning was an astronomical fiction invented by Āryabhaṭṭa I to simplify his rules for stating his astronomical constants at this epoch. It is also clear from the facts stated above that this epoch of 3102 B.C. cannot have any chronological significance.[1]

अर्थात्—कलि संवत् आर्यभट्ट प्रथम की कल्पना है। इसका इतिहास में कोई स्थान नहीं।

प्लीट-मत-परीक्षा और उसके दूषण (क)—युगों, युगनामों और प्रत्येक युग के वर्षों की गणना का मत विक्रम की तीसरी चौथी शताब्दी में घड़ा गया। यह कहना ठीक नहीं। ४२७ प्रथम शक संवत् के समीप ग्रन्थ लिखने वाला वराहमिहिर अपनी बृहत्संहिता के आरम्भ में लिखता है—

प्रथममुनिकथितमवितथमवलोक्य ग्रन्थविस्तरस्यार्थम्।
नातिलघुविपुलरचनाभिरुद्यतः स्पष्टमभिधातुम् ॥२॥
मुनिविरचितमिदमिति यच्चिरन्तनं साधु न मनुजग्रथितम्।
तुल्येऽर्थेऽक्षरभेदादमन्त्रके का विशेषोक्तिः ॥३॥
आब्रह्मादिविनिःसृतमालोक्य ग्रन्थविस्तरं क्रमशः ॥५॥

अर्थात्—वराहमिहिर कहता है कि प्रथम मुनि ब्रह्मा द्वारा कथित विस्तृत ग्रन्थ का अर्थ सम्यक् देकर न अति लघु और न अति विपुल रचनाओं से स्पष्ट कहने के लिए उद्यत हुआ हूं।

हमारी दृष्टि के अनुसार जिसका आधार प्राचीन आर्य ऐतिह्य है, प्रथम मुनि प्रोक्त ग्रन्थ भारत युद्ध काल से बहुत पहले रचे गए थे। परन्तु यदि इस बात को अभी स्वीकार न किया जाए तो भी इतना मानना पड़ेगा कि ये ग्रन्थ वराहमिहिर से बहुत पहले के थे, अन्यथा वह इन्हें मुनि रचित और चिरन्तन न कहता। वराहमिहिर के काल तक जब कि भारत में इस्लामी आक्रमण नहीं हुआ था, जब आर्य सम्राटों के सरस्वती भण्डारों में प्राचीन साहित्य सुरक्षित रहता था, जब आर्य विद्वानों को अपनी परम्परा का, अपने सम्प्रदाय का अविच्छिन्न ज्ञान होता था, तब, हां तब, वराहमिहिर जैसा विद्वान् अपने कुछ ही पहले के ग्रन्थों को मुनि-रचित और चिरन्तन कहे, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। वह जानता था कि गर्ग आदि मुनियों के रचे हुए ग्रन्थ बहुत पुरातन काल के हैं। यह वराहमिहिर बृहत्संहिता के सप्तर्षिचाराध्याय में लिखता है—

ध्रुवनायकोपदेशान्नरिनरवर्त्ती वोत्तरा भ्रमद्भिश्च।
यैश्चारमहं तेषां कथयिष्ये वृद्धगर्गमतात् ॥२॥

अर्थात्—उन सप्तर्षियों का चार मैं वृद्ध गर्ग के मत से कहूंगा। इस श्लोक की व्याख्या में भट्ट उत्पल वृद्ध गर्ग का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करता है—

तथा च वृद्धगर्गः—कलिद्वापरसंधौ तु स्थितास्ते पितृदैवतम्।
मुनयो धर्मनिरताः प्रजानां पालने रताः ॥

---

1 A.I.O.C., Presidential Address of P.C. Sen Gupta, Proceedings and Transactions, Vol II, 1945.

अर्थात्—कलि द्वापर की संधि में सप्तर्षि पितृदेवता वाले मघा नक्षत्र में थे।

पराशर वराहमिहिर से बहुत पहले होने वाला एक संहिताकार है। वह पराशर अपनी ज्योतिष संहिता में वृद्धगर्ग से भिन्न पुनर्गर्ग के विषय में लिखता है—

कल्यादौ भगवान् गर्गः प्रादुर्भूय महामुनिः।
ऋषिभ्यो जातकं कृत्स्नं वक्ष्यत्येव कलिं श्रितः।[1]

अर्थात्—भगवान् गर्ग कलि के आदि में उत्पन्न होकर ऋषियों के लिए जातक का उपदेश करेगा।

कलि-आरम्भ और गर्ग—गर्ग संहिता (विक्रम पूर्व २९००) में कलि के आरम्भ विषय में लिखा है—देवे कृष्णे दिवं याते।[2] अर्थात्—जिस दिन श्री कृष्ण ने देह त्यागा तब से कलि का आरम्भ हुआ।

अब विचारना चाहिए कि पराशर, वृद्धगर्ग और गर्ग द्वितीय तीनों ही आचार्य कलि का आरम्भ और कलि तथा द्वापर की संधि को जानते थे। अस्तु जब वे कलि के आरम्भ को जानते थे तो उनको व उनके शिष्य-प्रशिष्यों को कलि काल की गणना करने में क्या अड़चन थी। अत: डा० फ्लीट की पहली कल्पना कि कलिसंवत् की गणना और उसका प्रयोग कलि संवत् के ३५०० वर्ष पश्चात् भारतीय ज्योतिषियों ने आरम्भ किया, सत्य नहीं।

(ख) फ्लीट आगे लिखता है कि प्रत्येक युग में कितने दैव या मानुष वर्ष थे, ऐसा बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है। फ्लीट महाशय की यह बात सत्य नहीं है। कात्यायन की ऋक् सर्वानुक्रमणी का काल पाश्चात्य लेखकों के अनुसार विक्रम से कोई ३०० वर्ष पूर्व का है। हमारे अनुसार उसका काल विक्रम से २८०० वर्ष पहले का है। बृहद्देवता इस सर्वानुक्रमणी से भी कुछ पूर्व का ग्रन्थ है। उसके सम्बन्ध में अध्यापक मैकडानल अपने बृहद्देवता के संस्करण की भूमिका में लिखता है—

The Bṛihaddevata...could, therefore, hardly be placed later than 400 B.C.

अर्थात्—बृहद्देवता ४०० ईसा पूर्व के पीछे का नहीं हो सकता। बृहद्देवता के आठवें अध्याय में लिखा है—

महानाम्न्य ऋचो गुह्यास्ता ऐन्द्रयश्चैव यो वदेत्।
सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्ब्राह्मं स राध्यते ॥१८॥

अर्थात्—इन्द्र देवता संबंधी रहस्यमयी महानाम्नी ऋचाओं को जो जपता है वह सहस्त्रयुग पर्यन्त रहने वाले ब्रह्म के एक दिन को प्राप्त होता है।

इस श्लोक के उत्तरार्ध का पाठ स्वल्प पाठान्तरों के साथ भगवद्गीता ८।१७॥ महाभारत शान्ति पर्व २३८।६४॥ निरुक्त १४।४॥ और मनुस्मृति १।७३॥ में मिलता है। इसके पाठ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का लेखक जानता था कि एक ब्राह्मदिन में कितने वर्ष होते हैं। अत: उसको प्रत्येक युग के वर्षों की गणना का ज्ञान भी अवश्य था। ध्यान रहे कि बृहद्देवता का यह श्लोक अध्यापक मैकडानल निर्धारित उसकी दोनों शाखाओं में मिलता है, और किसी प्रकार भी प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता।

---

१ पृ० १६, आर्यभट्टीय के भाष्यकार गार्ग्य-केरल नीलकण्ठ द्वारा उद्धृत, कालक्रियापाद, पृ० १६, त्रिवन्द्रम संस्करण।

२ पृ० १६, कालक्रियापाद, आर्यभट्टीय भाष्य, त्रिवन्द्रम मुद्रित।

मनुस्मृति इस बृहद्देवता से कहीं पहले की है। पाश्चात्य विचार वाले इस मनुस्मृति को ईसा की पहली शताब्दी के समीप का मानते हैं। परन्तु यह बात नितान्त अयुक्त है। याज्ञवल्क्य स्मृति कौटल्य अर्थशास्त्र से कहीं पहले की है।[1] तथा कौटल्य अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य की ही कृति है।[2] उस मनुस्मृति के आरम्भ में युगों, युगनामों और प्रत्येक युग के वर्षों की संख्या तथा कल्प आदि की गणना का बड़ा विस्तृत वर्ण है। अतः फ्लीट का यह लेख कि कलि के ६५०० वर्ष पश्चात् यहां के ज्योतिषियों ने युगों के वर्षों की गणना स्थिर करके कलि संवत् का गिनना आरम्भ किया, सर्वथा भूल है।

लगध का वेदाङ्ग ज्योतिष एक बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। वेंकटेश बापूजी केतकर के अनुसार वह १४०० पूर्व ईसा में रचा गया था। सम्भव है उपलब्ध याजुष ज्योतिष यही हो। आर्च ज्योतिष भी इसी का रूपान्तर प्रतीत होता है। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के समान लगध का मूल ग्रन्थ सम्भवतः कभी बहुत बड़ा होगा। उसी मूल के अथवा उपलब्ध लगध की किसी और शाखा के कुछ श्लोक सिद्धान्त-शिरोमणि की मरीचि टीका (शक १५६०) में उद्धृत है। मरीचि टीका का कर्ता मुनीश्वर है। वह ग्रहगणित के २५वें श्लोक की टीका में लिखता है—

पंचसंवत्सरैरेकं प्रोक्तं लघुयुगं बुधैः। लघुद्वादशः केनैकं षष्टिरूपं द्वितीयकम्॥
तद्द्वादशमितैः प्रोक्तं तृतीयं युगसंज्ञकम्। युगानां षट्शती तेषां चतुष्पादीकला युगे॥
चतुष्पादीकला संज्ञा तदध्यक्षः कलिः स्मृतः। इति लगधप्रोक्तत्वात्।[3]

अर्थात्—लगध के अनुसार लघु युग ५ वर्ष का होता है। १२ लघु-युगों अथवा ६० वर्षों का दूसरा युग होता है। ७२० वर्षों का तीसरा युग होता है। इस तीसरे युग को ६०० से गुणा करके कलि के ४३२००० वर्ष बनते हैं।

जब लगध समान प्राचीन ग्रन्थकार भी कलि आदि का वर्ष-मान जानता है, तो यह निर्विवाद है कि कलि संवत् की कल्पना नवीन नहीं है।

(ग) डा० फ्लीट ने देवीशतक के भाष्यकार का एक प्रमाण दिया है कि वह ग्रन्थ ४०७८ कलि संवत् में रचा गया। उनके काल तक कलि संवत् के प्रयोग के विषय में किसी ग्रंथकार का इससे पुराना लेख नहीं मिला था। परन्तु हमने आचार्य हरिस्वामी का जो लेख पृष्ठ ६८ पर दिया है, वह इससे बहुत पहले का है। आचार्य हरिस्वामी ने कलिसंवत् ३७४० का प्रयोग किया है।

---

१ तुलना करें, p. 20-22, Mauryan Polity, V. R. Dikshitar, 1932.

२ देखें बार्हस्पत्य सूत्र की मेरी भूमिका, पृ० ४-७। धर्मशास्त्र का इतिहास लिखने वाले श्री पाण्डुरंग वामन-काणे अपने इतिहास (सन् १९३०) के पृ० १४८ पर लिखते हैं—
Therefore it must be presumed that the Manusmriti had attained its present form at least before the 2nd century A. D.
अर्थात्—ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व ही मनुस्मृति इस वर्तमान रूप में आ गई थी। अतः फ्लीट महाशय का यह कहना कि युगों का वर्षमान ईसा की चौथी शताब्दी में चला, एक भयंकर भूल है।
हम तो वर्तमान मनुस्मृति को भारत-युद्ध से पहले का मानते हैं। भागुरि, भर्तृयज्ञ, देवस्वामी और असहाय आदि मानव धर्मशास्त्र के भाष्यकार विक्रम संवत् से कई सौ वर्ष पहले हो चुके थे। काणे जी ने इन भाष्यकारों के काल के विषय में निराधार कल्पनाएं की हैं।

3 Indian and Foreign Chronology, 1923, p. 107.

कलि संवत् का प्रयोग स्कन्द पुराण के दूसरे अर्थात् कौमारिका खण्ड में भी हुआ है। स्कन्द पुराण का लेख अत्यन्त अस्त-व्यस्त दशा में है। स्कन्द पुराण के इस खण्ड के हस्तलेख हमारे पास नहीं हैं। यदि होते तो हम इस पाठ को शुद्ध कर देते। परन्तु इससे यह अनुमान नहीं करना चाहिए कि स्कन्द पुराण का लेख सर्वथा असत्य है। निम्नलिखित पाठ में क्योंकि बहुत अशुद्धियां हैं, अतः अधिक सामग्री के अभाव में हम अभी तक अन्तिम सम्मति नहीं दे सकते। विचारवान् पाठक इन पाठों के शोधने का यत्न करें, इसी अभिप्राय से ये श्लोक उद्धृत किए जाते हैं। स्कन्द पुराण के चतुर्युग व्यवस्था नामक चालीसवें अध्याय में लिखा है—

त्रिषु वर्षसहस्रेषु कलेर्यातेषु पार्थिवः। त्रिशतेषु दशन्यूनेष्वस्यां भुवि भविष्यति ॥२४९॥
शूद्रको नाम वीराणामधिपः सिद्धिमत्र सः। ततस्त्रिषु सहस्रेषु दशाधिकशतत्रये।
भविष्यं नन्दराज्यं च चाणक्यो यान् हनिष्यति ॥२५१॥
ततस्त्रिषु सहस्रेषु विंशत्या चाधिकेषु च ॥२५२॥
भविष्यं विक्रमादित्यराज्यं सोऽथ प्रलप्स्यते। ततः शतसहस्रेषु शतेनाप्याधिकेषु च।
शको नाम भविष्यश्च योऽति दारिद्रयहारकः ॥२५४॥
ततस्त्रिषु सहस्रेषु षट्शतैरधिकेषु च। मागधे हेमसदनादंजन्यां प्रभविष्यति ॥२५५॥
विष्णोरंशो धर्मपाता बुधः साक्षात्स्वयं प्रभुः।

इन श्लोकों का पाठ स्पष्ट बता रहा है कि इनमें लेखक-प्रमाद अत्यधिक हुआ है, और श्लोक क्रम भी विपर्यस्त हो गया है। स्कन्द पुराण चाहे कभी लिखा गया हो, परन्तु बुद्ध आदि के जन्म की कोई प्राचीन गणना कलि संवत् के अनुसार भारत में अवश्य प्रचलित थी। उसी गणना का उल्लेख स्कन्द पुराण में मिलता है।

कलि संवत् का प्रयोग करने वाले पुराने लेख अभी तक क्यों नहीं मिले—वलभी, गुप्त, शालिवाहन, विक्रम और वीर निर्वाण संवतों के अत्यधिक प्रचार के कारण गत २४०० वर्षों में कलि संवत् का प्रयोग स्वभावतः न्यून हुआ है। प्रतीत होता है कि उससे पहले भी भारत के सम्राट् किसी संवत् का प्रयोग बहुत अल्प करते थे। प्रियदर्शी महाराज अशोक के अनेक लेख इस समय तक मिल चुके हैं। महाराज खारवेल का शिलालेख भी विक्रम से पूर्व काल का है। इनके शिलालेख में कोई संवत् नहीं है। हां, उनके अपने-अपने राजकाल के वर्षों की गणना तो मिलती है। परन्तु, यह पूरी संभावना है कि अधिक सामग्री के मिलने पर बहुत पुराने काल में कलि संवत् का प्रयोग मिलेगा अवश्य। यह स्मरण रखना चाहिए कि नेपाल की जो प्राचीन वंशावली मिलती है, उसमें कई बहुत प्राचीन राजाओं का काल कलिगत संवत् में दिया गया है।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। शक संवत् भारत में अब पर्याप्त प्रचलित है। इस का आरम्भ विक्रम से १३५ वर्ष पश्चात् हुआ था। इस शक संवत् का शक ५०० से पहले का अभी तक एक शिलालेख भी नहीं मिला। ऐसा पाश्चात्यों का कहना है।[1] परन्तु शक संवत् की तथ्यता में किसी

1 The Siddhantas and the Indian Calendar, Robert Sewell, 1924, p.XIII.
इण्डियन एण्टीक्वेरी जून सन् १८८६, पृ० १७२-१७७ पर एक ऐसा शिला-लेख छपा है, जो शक संवत् २६१ का है। उसी लेख की टिप्पणी में फ्लीट का मत है कि इस शिलालेख में दी गई तिथि कल्पित है। हम इसके विषय में अभी कुछ नहीं कहते।

को सन्देह नहीं हुआ। पुनः कलि संवत् के पुराने शिलालेखों के अब तक प्राप्त न होने पर कलि संवत् की तथ्यता में क्यों सन्देह किया जाए।[1]

प्राचीन राज-वंशावलियां

अनेक प्राचीन राज-वंशावलियां जो इस समय भी उपलब्ध हैं; यही बताती हैं कि भारतीय इतिहास बहुत प्राचीन है। वे वंशावलियां निम्नलिखित हैं—

१. गड़वाल-अल्मोड़ा की राज-वंशावली।
२. काश्मीर की राज-वंशावली।
३. कामरूप की राज-वंशावली।
४. इन्द्रप्रस्थ की राज-वंशावली।
५. बीकानेर की राज-वंशावली।
६. पुराणान्तर्गत मगध की राज-वंशावली।
७. नेपाल की राज-वंशावली।
८. त्रिगर्त की राज-वंशावली।

इनके अतिरिक्त भी और अनेक राज-वंशावलियां होंगी। यथा—काशी, पाञ्चाल, कलिंग, सिंधु, उज्जैन और पाण्ड्य आदि देशों की राज-वंशावलियां। वे हमें हस्तगत नहीं हो सकीं। तो भी जो बात हम बताना चाहते हैं, वह पूर्व-निर्दिष्ट आठ वंशावलियों से ही सिद्ध हो जाएगी। अतएव अब हम इन वंशावलियों के संबंध में क्रमशः कुछ आवश्यक बातें लिखते हैं।

१. गढ़वाल-अल्मोड़ा की राज-वंशावली—कैप्टन हार्डविक ने सन् १७९६ में श्रीनगर गढ़वाल के राजा प्रघूमन शाह से एक राज-वंशावली ली थी। वह एशियाटिक रीसर्चिज भाग प्रथम में छपी है। यह वंशावली उस राजवंश की प्रतीत होती है, जिसकी राजधानी श्रीनगर रही होगी। इस वंशावली का आरम्भ बोधदन्त राजा से होता है। उसके पश्चात् १०० वर्ष तक के राजाओं के नाम और उनमें से प्रत्येक का राजकाल लुप्त हो गया है। तत्पश्चात् सन् १७९६ तक ६० राजा हुए हैं।[2] उन सबका काल ३७७४ वर्ष ६ मास है। अर्थात् यह राज-वंशावली ईसा से १९७८ वर्ष पूर्व से आरम्भ होती है।

इन्हीं पार्वत्य प्रदेशों के अन्तर्गत कुमाऊं देश के संवन्ध में फरिश्ता लिखता है—रामदेव राठौर सन् ४४०-४७० तक राज करता था। उसका सामना कुमाऊं के राजा ने किया। कुमाऊं के इस राजा के पास उसका प्रान्त और मुकुट उन प्राचीन राजाओं से दायाद में आया था जिनकी परम्परा में २००० वर्ष से अधिक से राज्य चला आता था।[3] अर्थात्—कुमाऊं का यह राज्य १५०७ पूर्व ईसा से तो अवश्य ही चला आया था।

---

१ कलि संवत् के अधिक पुराने प्रयोग के लिए हमारा 'भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, भाग १, पृ० १५९ देखें।

2 p. 445, Vol. II, The Himalayan Districts of the North-Western Provinces of India by Edwin T. Atkinson, 1884.

3 p. 561, Vol. V, Dowson and Elliot.

२. काश्मीर की राज-वंशावली—काश्मीर की वंशावली मात्र ही हमारे पास नहीं है, अपितु काश्मीर का एक विस्तृत इतिहास भी मिलता है। इसके लिए कल्हण पण्डित (शक काल १०७०) धन्यवाद का पात्र है। हम पहले पृष्ठ ६५ पर कह चुके हैं कि कल्हण वराहमिहिर का भाव नहीं समझा। अतः उसने कलि के ६५३ वर्ष व्यतीत होने पर युधिष्ठिर का राज्य माना है।[1] परन्तु यह सत्य है कि उसके पूर्वज ऐसा नहीं मानते थे। वह स्वयं लिखता है—

भारतं द्वापरान्तेऽभूद्वार्तयेति विमोहिताः।
केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्यां प्रचक्रिरे ॥[2]

अर्थात्—भारत युद्ध द्वापरान्त में हुआ था, ऐसा मानकर कई प्राचीन ऐतिहासिकों ने मिथ्या काल संख्या की है।

कल्हण के अनुसार वे प्राचीन ऐतिहासिक ठीक न भी हों, पर हमारे अनुसार तो वे ही ठीक हैं। कल्हण एक और बात भी कहता है कि गोनन्द प्रथम से लेकर ५२ राजाओं का आम्नाय भ्रंश हो गया था। इस आम्नाय में से कुछ राजाओं के नाम और काल आदि की पूर्ति उसने नीलमत पुराणादि से की है। तथापि ३५ राजाओं का आम्नाय उसे नहीं मिल सका। उस आम्नाय की पूर्ति महाराज जैनुल आबेदीन (सन् १४२३-१४४७) के ऐतिहासिक मुल्लाह अहमद ने एक रत्नाकर पुराण से की थी। मुल्लाह अहमद के ग्रन्थ की सहायता से कुछ काल हुआ हसन ने कश्मीर का इतिहास लिखा था। उसमें से लुप्त राजाओं के वर्णन के भाग का अंग्रेजी अनुवाद एशियाटिक सोसायटी बंगाल के शोधपत्र में छपा था।[3] उस सामग्री को और कल्हण कृत राजतरंगिणी को देखकर यह परिणाम निकलता है कि गोनन्द प्रथम जो श्रीकृष्ण का समकालीन था, कलिसंवत् के आरम्भ में ही हुआ था। अतः ३०४४ पूर्व विक्रम तक का काश्मीर का इतिहास अभी तक सुरक्षित है। यह सत्य है कि कल्हण के ग्रन्थ में अनेक बातों का उल्लेख रह गया है और कई राजाओं का काल संदिग्ध है, परन्तु इतने से उसके ग्रन्थ का वास्तविक मूल्य नष्ट नहीं होता। कलि संवत् से पहले भी काश्मीर में अनेक राजा हो चुके थे। उनका इतिहास भी खोजा जा सकता है।

३. कामरूप की राज-वंशावली—प्राचीन कामरूप[4] ही वर्तमान आसाम है। कभी इसे चीन और-वर्तमान चीन को महाचीन कहते थे।[5] प्राग्ज्योतिष इसी की राजधानी थी। दो सहस्र वर्ष पूर्व इस की सीमा बड़ी विस्तृत होगी। इसी देश का राजा भगदत्त महाभारत युद्ध में महाराज दुर्योधन का सहायक था। महाभारत में लिखा है—

स तानाजौ महेष्वासो निर्जित्य भरतर्षभ। तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥३६॥
तत्र राजा महानासीद् भगदत्तो विशाम्पते। तेनैव समुहद्युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥४०॥
स किरातैश्च चीनैश्च वृत्तः प्राग्ज्योतिषोऽभवत्। अन्यैश्च विविधैर्योधैः सागरानूपवासिभिः ।४१॥

अर्थात्—प्राग्ज्योतिष के राजा भगदत्त के साथ अर्जुन का युद्ध हुआ था। भगदत्त के पिता का नाम था नरकासुर और पितामह का नाम अज्ञात है।[6] महाभारत युद्ध के समय भगदत्त बहुत वृद्ध था।

---

१ १।५१॥ राजतरंगिणी। २ १।४६॥ राजतरंगिणी।
3 pp. 195-219, Vol VI, History of Kashmir, by Pt. Anand Kaul.
४ यह नाम द्वितीय कालिदास कृत रघुवंश ४।८३।८४॥ में भी मिलता है।
5 p. 198, Vol II, Travels of Hiuen Tsiang, Tr. by Samuel Beal, 1906; p. 207, Vol. I, Alberuni's India, English Translation.
६ महाभारत, दाक्षिणात्य संस्करण, सम्पादक सुब्रह्मण्य शास्त्री, सन् १९३२, सभापर्व, अध्याय २४।

ऐतिहासिक घटनाओं से पूर्ण आसाम की अनेक राज-वंशावलियां अब तक मिलती हैं। वहां की भाषा में उन्हें बुरंजी कहते हैं। उन बुरंजियों के अनुसार महाराज भगदत्त महाभारत कालीन था। उसके पिता नरकासुर और नरकासुर से भी पूर्व के कई राजाओं का वर्णन वहां मिलता है[१] और भगदत्त से आगे तो इतिहास का क्रम अविच्छिन्न है। बुरंजियों में थोड़ा सा भेद अवश्य है, परन्तु मूल ऐतिहासिक तथ्य इनसे सुविदित हो जाता है।[२] इन बुरंजियों की मौलिक सत्यता को एक ताम्रपत्र का निम्नोधृत अंश स्पष्ट करता है। यह ताम्रपत्र सन् १९१२ में मिला था। इसकी छाप और इसका अंग्रेजी अनुवाद ऐपिग्राफिआ इण्डिका सन् १९१३-१४, पृ० ६५, में मुद्रित हुआ है। उसमें लिखा है—

धात्रीमुच्चिक्षिप्सोरम्बुनिधेः कपटकोलरूपस्य ।
चक्रभृतः सूनुरभूत्पार्थिववृन्दारको नरकः ॥४॥
तस्माददृष्टनरकान्तरकादजनिष्टं नृपतिरिन्द्रसखः[३] ।
भगदत्तः ख्यातजयं विजयं युधि यः समाह्वयत ॥५॥
तस्यात्मजः क्षतारेर्वज्रगतिर्वज्रदत्तनामाभूत् ।
शतमखमखण्डबलगतिरतोषयद्यः सदा संख्ये ॥६॥
वश्येषु तस्य नृपतिषु वर्षसहस्रत्रयं पदमवाप्य ।
यातेषु देवभूयं क्षितीश्वरः पुष्यवर्म्माभूत् ॥७॥

अर्थात्—नरकासुर का पुत्र भगदत्त और भगदत्त का पुत्र वज्रदत्त था।[४] उससे ३००० वर्ष व्यतीत होने पर राजा पुष्यवर्मा हुआ।[५]

ताम्रपत्र के अगले श्लोकों में पुष्यवर्मा के उत्तरवर्ती बारह राजाओं के नाम लिखे हैं। उनमें अन्तिम राजा भास्करवर्मा अपरनाम कुमारवर्मा है। इसी भास्करवर्मा का उल्लेख हर्षचरित और ह्यूनसांग के यात्रा विवरण में मिलता है। इन १२ राजाओं का काल न्यून से न्यून ३०० वर्ष का होगा। ह्यूनसांग

१ महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, २१।१०॥

२ इस विषय पर अधिक देखें—Assamese Historical Litertaure, article by Suryya Kumar Bhuyan M.A., Proceedings of the Fifth Indian Oriental Conference, Lahore, pp. 525-536.

३ द्रोणपर्व २९।४४॥ में इस भगदत्त को सुरद्विष और २९।५॥ में सखायमिन्द्रस्य तथा ३०।१॥ में प्रियमिन्द्रस्य सततं सखायं—कहा गया है।

४ महाभारत आश्वमेधिक पर्व ७५।२॥ में इसका नाम यज्ञदत्त कहा गया है। क्या कुम्भघोण संस्करण के पाठ में भूल हुई है? नीलकण्ठ टीका सहित मुम्बई संस्करण में वज्रदत्त ही पाठ है। हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास में भगदत्त, पुष्पदत्त और वज्रदत्त नाम मिलते हैं। महाभारत, कर्ण पर्व ३।९१॥ के अनुसार भगदत्त का एक पुत्र भारत युद्ध में मारा गया। वनमाल वर्मदेव के ताम्रशासन में वज्रदत्त को प्राग्ज्योतिषेश्वर, भगदत्त का भाई और उपरिपत्तन का राजा लिखा है। एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग २९, अंश ५, सन् १९५५, पृ० १४९।

५ इस ताम्रशासन के कुछ पत्र पहले अनुपलब्ध थे। पुनः वे एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग १९, पृ० ११५-१२८ पर छप गए हैं।

लगभग सन् ६३०-४० तक भारत में रहा। तभी वह महाराज भास्करवर्मा से मिला होगा। इस प्रकार स्थूल रूप से गणना करके महाभारत कालीन महाराज भगदत्त का थोड़े से भेद के साथ लगभग वही काल निकलता है जो भारत युद्ध का काल हम पहले कह चुके हैं। कामरूप के राजाओं के संबंध में ह्यूनसांग का निम्नलिखित लेख भी ध्यान देने योग्य है—"उस काल से लेकर जब इस कुल ने इस देश का राज्य सम्भाला, वर्तमान राजा तक १००० (एक सहस्र) पीढ़ियां हो चुकी हैं।"[१]

आर्यमञ्जुश्री मूलकल्प में ५५९-५६८ श्लोक तक चीन के राजाओं का वर्णन है। यह वर्णन सम्भवत: प्रथम शताब्दी ईसा में होने वाले यक्षों के समकालिक राजाओं का है। जायसवाल इस वर्णन को सातवीं शताब्दी का मानता है, अस्तु हम पृ० ७५ पर कह चुके हैं कि वर्तमान आसाम ही कभी चीन कहाता था। जायसवाल का मत है कि मूलकल्प का चीन तिब्बत था। मूलकल्प में चीन के राजा हिरण्यगर्भ अथवा वसुगर्भ का वर्णन है। इस चीन के पूर्ण निर्णय की आवश्यकता है। स्मरण रहे कि मूलकल्प के ९१३ और ९१५ श्लोक में कामरूप का प्रथम उल्लेख है।

उद्योग पर्व १३०।५८।। के अनुसार नरकासुर बड़ा दीर्घ जीवी था। इसे श्रीकृष्ण ने मारा था। द्रोणपर्व २९।४४।। में उसके मारने और प्राग्ज्योतिष से श्रीकृष्ण के मणि, कुण्डल और कन्याएं लाने का उल्लेख है।

अस्तु इस संबंध में हम इतना और कहेंगे कि कामरूप का इतिहास अध्ययन विशेष चाहता है। इसके पाठ से भारतीय इतिहास की अनेक ग्रन्थियां सुलझेंगी।

४. इन्द्रप्रस्थ की राज-वंशावली—यह वंशावली श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती रचित सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास के अन्त में छपी है। इसका मूल विक्रम संवत् १७८२ का एक हस्तलेख था। इसी से मिलती-जुलती एक वंशावली दयानन्द कालेज के लालचन्द पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष पं० हंसराज ने लाहौर के एक ब्राह्मण के पास देखी थी। खुलासतुत् तवारीख नाम का एक इतिहास फारसी भाषा में है। उसमें देहली साम्राज्य का इतिहास है। कर्ता उसका मुंशी सुजानराय पंजाबान्तर्गत बटाला नगर निवासी था। इसका रचना-काल सन् १६३५ है। उसमें यही वंशावली स्वल्प भेद के साथ मिलती है। कर्नल टाड ने सन् १८२९ में राजस्थान का इतिहास प्रकाशित करवाया था। उसकी दूसरी सूची में कुछ पाठान्तरों के साथ यही वंशावली मिलती है। तदनुसार परीक्षित से लेकर विक्रम तक ६६ राजा हुए हैं।[२]

कर्नल टाड की वंशावली का मूल एक राजतरंगिणी=वंशावली थी। वह जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह के सामने सन् १७४० में पण्डित विद्याधर और रघुनाथ ने एकत्र की थी। उसके लेखकों का कहना है—मैंने अनेक शास्त्र पढ़े हैं। उन सब में युधिष्ठिर से लेकर पृथ्वीराज तक इन्द्रप्रस्थ के राज-सिंहासन पर एक सौ क्षत्रिय राजा लिखे हैं। उन सबका राजकाल ४१०० वर्ष था। इति।"

इस वंशावली के अनुसार युधिष्ठिर से लेकर खेमराज=क्षेमक तक १८६४ वर्ष होते थे। उतने काल में २८ राजाओं ने राज्य किया था।

---

१ बील का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० १९६। थामस वाटर्स के अनुवाद में भी वही बात लिखी है—The sovereignty had been transmitted in the family for 1000 generations. Vol. II, p. 186.

२ इन वंशावलियों का अधिक वर्णन हमारे 'भारतवर्ष का इतिहास', पृ० २१४-२१८ पर देखें।

सत्यार्थ प्रकाश की वंशावली के अनुसार संवत् १२४३ तक इन्द्रप्रस्थ के राज सिंहासन पर १२४ राजा बैठे थे। उनका राजकाल ४१५७ वर्ष ६ मास और १४ दिन था। युधिष्ठिर उन सब में पहला राजा था। इस वंशावली की गणना के अनुसार महाभारत युद्ध को हुए कुछ न्यून उतने ही वर्ष होते हैं, जितने हम पूर्व लिख चुके हैं।

इस वंशावली के अन्तिम भाग से कुछ मिलती हुई एक वंशावली आईने-अकबरी के सूबा देहली के वर्णन में मिलती है। विष्णु पुराण, चतुर्थांश, अध्याय २१ में इस वंशावली के आरम्भ भाग के कुछ राजाओं के नाम दिये हैं। सत्यार्थ प्रकाश की वंशावली का प्रथम वंश युधिष्ठिर से आरम्भ होकर क्षेमक पर समाप्त होता है। पुराण में भी इस वंश की समाप्ति क्षेमक पर ही है। परन्तु मध्य के राजाओं में बहुत भेद है। जहां सत्यार्थ प्रकाश की वंशावली में कुछ राजाओं के नाम अधिक हैं, वहां पुराणान्तर्गत वंशावली में कुछ राजाओं के नाम अधिक हैं और बहुत से दूसरों के नाम रह गए हैं। ब्रह्माण्ड, वायु आदि दूसरे पुराणों में भी इस पौरव-वंश का वर्णन मिलता है। पुराणान्तर्गत पौरव वंश और सत्यार्थ प्रकाशस्थ पौरव वंश में एक भेद विशेष ध्यान देने योग्य है। पुराणों में इस वंश का राज काल लगभग १००० वर्ष है और सत्यार्थ प्रकाश में १७७० वर्ष ११ मास १० दिन है।

सन् १९३४ के मध्य में हमारे सुहृद् श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने काशी से एक पुराना पत्रा हमारे पास भेजा था। उस पर क्षेमक तक राजाओं के नाम और उनका राज्यकाल लिखा है। इस पत्रे पर इन्हीं राजाओं के "लोकनाम" भी लिखे हैं। क्षेमक तक राजाओं का कालमान १५७८ वर्ष और ६ दिन लिखा है। यह वंशावली संभवतः कलि के ३८७३ वर्ष में किसी ने लिखी होगी। उस पत्र पर "कलियुगगत" ३८७३ वर्ष दिया है। पुनः लिखा है कि २२८६ वर्ष, और ११ दिन "पीढ़ी" की तलासी मुनासब करणी। ८२६ संवत् वैसाष सुदी १३ दिल्ली वसी।" अन्तिम लेख किसी नए व्यक्ति ने लिखा होगा।

इन्द्रप्रस्थ पाण्डवों की राजधानी थी। कौरव राजधानी हस्तिनापुर थी। इस हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठने वाले युधिष्ठिर अथवा दुर्योधन के पूर्वज अनेक राजाओं का इतिहास महाभारत आदि में मिलता है। उस सब को देखकर यही निश्चय होता है कि श्रृंखलाबद्ध भारतीय=आर्य इतिहास भी अत्यन्त प्राचीन है, और कलि संवत् के सहस्रों वर्ष पूर्व से क्रमवार लिखा जा सकता है, तथा यह उतने प्राचीन काल तक मिलता है, जितने का अन्य किसी देश का नहीं मिलता।

५. बीकानेर की राज-वंशावली—एक राज-वंशावली बीकानेर की मिलती है। सन् १८९८ में जो तारीख रियासत बीकानेर छपी थी, उसमें पृ० ५१३ से आगे यह वंशावली मिलती है। इसकी तथ्यता को जानने के लिए अभी कोई काम नहीं हुआ। बीकानेर एक नवीन राज्य है, अतः वहां की वंशावली इतनी पुरानी नहीं हो सकती। इस वंशावली में १२२वां राजा सुमित्र है। यह वही सुमित्र है, जिस पर इक्ष्वाकुओं की पौराणिक वंशावली समाप्त होती है। पौराणिक वंशावली के सुमित्र से पूर्व के प्रायः सारे नाम इसमें मिलते हैं। प्रतीत होता है कि अपने आपको इक्ष्वाकु वंश का सिद्ध करने के लिए किसी ने यह वंशावली इस ढंग पर बनवाई है। इसके अगले नामों पर हम विचार नहीं कर सके। क्या संभव हो सकता है कि इसके अगले नामों में से कुछ राजाओं के नाम कल्पित भी हों। इस वंशावली में सन् १८९८ तक २८६ राजा दिए हैं। हमने इसका उल्लेख यहां इसी अभिप्राय से किया है कि इस वंशावली पर अधिक विचार किया जा सके। स्मरण रहे कि आधुनिक काल के अनेक राज्यों के राजाओं

ने अपने कुलों को प्राचीन सिद्ध करने के लिए ऐसी ही अनेक वंशावलियां बनवा रखी हैं, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि महाभारत और पुराणान्तर्गत वंशावलियां भी कल्पित हैं।

६. **पुराणान्तर्गत मगध-राज्य-वंशावली**—ब्रह्माण्ड, मत्स्य, विष्णु आदि पुराणों में कलिकाल में राज करने वाले मगध के राजाओं की एक वंशावली मिलती है। उसका आरम्भ भारत युद्ध में परलोक सिधारने वाले सहदेव के पुत्र सोमाधि या मार्जारी से होता है। सोमाधि से लेकर रिपुञ्जय तक २२ राजा हुए हैं। उनका राज्य काल १००६ वर्ष था। पुराणों में वर्ष संख्या १००० दी है। इस वंश का नाम बार्हद्रथ वंश है। बार्हद्रथ वंश के पश्चात् पुराणों में १३८ वर्ष राज्य करने वाले बालक प्रद्योत वंश का उल्लेख है। बालक प्रद्योत वंश का उज्जैन के चण्ड प्रद्योत वंश से कोई संबंध नहीं था। प्रद्योत वंश के पश्चात् ३६० वर्ष तक राज्य करने वाले शैशुनाग वंश का वर्णन मिलता है। इसी वंश का वर्णन पुराणों में मिलता है। इसी वंश का छठा राजा अजातशत्रु उपनाम कुणिक अथवा अशोकचन्द्र अथवा देवनांप्रिय था।[1] उसके आठवें राजवर्ष में बुद्ध का निर्वाण माना जाता है।

पुराणस्थ वंशों में कुछ हस्तक्षेप हुआ है। इक्ष्वाकु वंश में बृहद्बल से आरम्भ करके नन्द पर्यन्त ३१ राजा हुए थे। उनमें २३वां शाक्य, २४वां शुद्धोदन, २५वां सिद्धार्थ, २६वां राहुल, २७वां प्रसेनजित् आदि हैं। परन्तु पुराणों के श्लोक जो समान कालीन राजाओं का उल्लेख करते हैं, २४ इक्ष्वाकु राजा बताते हैं। उनका राजकाल १५०० वर्ष था। पुराणानुसार इक्ष्वाकु वंश में शाक्य से पूर्व २२ राज्य हैं। हमने विष्णु पुराण के अनेक हस्तलेख देखे हैं। उनमें से कई एक में २३ राजा दिये हैं। हमने "भारत वर्ष का इतिहास" में छब्बीस राजाओं के नाम दिए है। इस प्रकार यही २६ राजा १५०० वर्ष तक राज कर चुके होंगे। पीछे किसी बुद्ध भक्त ने शाक्यों का वंश भी उसी में जोड़ दिया होगा। यह बात इसलिए भी युक्त प्रतीत होती है कि पुराणों और दूसरे आर्य ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध या सिद्धार्थ लगभग भारत युद्ध के १३०० वर्ष पीछे हुआ था।

इन राजवंशों में कहीं-कहीं विच्छेद हुआ। उसका एक संकेत मैगस्थनेज् के लेख में मिलता है। वहां लिखा है—

From the time of Dionysos (or Bacchus) to Sandrakottos, the Indians counted 153 kings and a period of 6042 years, but among these a republic was thrice established...and another to 300 years, and another to 120 years.[2]

अर्थात्—बेक्कस के काल से अलक्षेन्द्र के काल तक भारतीय लोग १५३ राजा गिनते हैं। उनका राजकाल ६०४२ वर्ष था। इस अन्तर में तीन बार प्रजातन्त्र या गणराज्य स्थापित हुआ था। पहले गणराज्य के काल निर्देशक अंक कृमिमुक्त हो गए हैं। दूसरा गणराज्य ३०० वर्ष तक और तीसरा १२० वर्ष तक रहा।

मैगस्थनेज के अनुसार बेक्कस (विप्रचित्ति दानवासुर) कलि के आरम्भ से कोई ३२६० वर्ष पूर्व हुआ था। पर मैगस्थनेज का संकेत किन गणराज्यों की ओर है यह हम निश्चित नहीं कह सकते।

इस प्रकार यह निश्चित है कि जो आधुनिक ऐतिहासिक मगध की राज वंशावलियों से महाभारत का काल १४००-१५०० पूर्व विक्रम बताते हैं, वे इस बात को ठीक रूप से नहीं समझे।

---

१ देखें पृ० १७९, दण्डि कृत अवन्तिसुन्दरी कथा। 2 p. 208, Ch. IX, Indika of Arrian.

पार्जिटर और पुराणों के आधार पर भारत युद्ध काल—पार्जिटर ने लिखा है कि भारत युद्ध काल ईसा से ९५० वर्ष पहले था।[१] पौराणिक वंशावलियों को अपने अभिप्रायानुकूल बनाकर उन्होंने यह परिणाम निकाला है। उन्हीं वंशावलियों के आधार पर श्री जायसवाल का यह परिणाम है कि भारत युद्ध ईसा से १४२४ वर्ष पूर्व हुआ। ये दोनों महाशय अत्यन्त यत्नशील होने पर भी तथ्य को नहीं देख सके। विस्तरभय से इस विषय पर हम यहां अधिक नहीं लिख सके।

७. नेपाल की राज-वंशावली—यह वंशावली सब से पहले कर्नल किर्कपैट्रिक के नेपाल के वर्णन में छपी थी।[२] उक्त कर्नल ने सन् १७९३ में उस देश की यात्रा की थी। उसी यात्रा का फल यह ग्रन्थ था। तत्पश्चात् मुन्शी शिवशंकर और पंडित श्रीगुणानन्द ने पार्वतीय भाषा से नेपाल के इतिहास का अनुवाद किया था। उस अनुवाद का सम्पादन डेविअल राईट ने सन् १८७७ में किया। उस इतिहास में नेपाल की राज-वंशावली का अनुवाद छपा है। फिर सन् १८८४ की इण्डियन अण्टीक्वेरी में पंडित भगवानलाल इन्द्रजी ने एक और संक्षिप्त वंशावली मुद्रित की थी।[३] पुनः सैसिल बैण्डल ने नेपाल दरबार के ताड़पत्रों के सूचीपत्र के आरम्भ में एक प्राचीन राज-वंशावली का उल्लेख किया है।[४] उनका कहना है कि वंशावली राजा जयस्थिति मल्ल (सन् १३८०-१३९४) के समय में लिखी गई होगी, क्योंकि इसकी समाप्ति उस राजा पर होती है। इससे कहना पड़ता है कि दूसरी वंशावलियों की अपेक्षा इस वंशावली के लिखे जाने का काल बहुत पुराना है। इन सब के पश्चात् हमारे सुहृद् वयोवृद्ध श्री सिल्वेन लेवी ने फ्रांस देश की भाषा में नेपाल का इतिहास लिखा। यह इतिहास तीन भागों में है, और सन् १९०५—१९०८ तक प्रकाशित हुआ था।

इन सब वंशावलियों से यही पता लगता है कि नेपाल का राज्य बड़ा प्राचीन था। उस का आरम्भ कलियुग से बहुत पहले से हुआ था। यही नेपाल की वंशावलियां हैं, जिन में कलिगत संवत् का प्रयोग बहुधा हुआ है।

आर्यमञ्जुश्री मूलकल्प में श्लोक ५४९—५५८ तक नेपाल के इतिहास का प्रसंग है। नेपाल में लगभग प्रथम शताब्दी के समीप लिच्छवी कुलोत्पन्न कोई मानवेन्द्र या मानवदेव राजा था। इन श्लोकों में अन्य राजाओं के नाम भी लिखे हैं। मूलकल्प की सहायता से नेपाल के अनेक राजाओं की तिथियां जो अब तक कल्पित की गई थीं; बदलनी पड़ेंगी।

अपनी वंशावली के संबंध में भगवानलाल इन्द्रजी ने लिखा है—"यह स्पष्ट है कि इस वंशावली में कई बातें ऐतिहासिक रूप से सत्य हैं, परन्तु समग्र वंशावली किसी काम की नहीं है। इति।" भगवान लाल इन्द्रजी का यह लिखना कुछ आग्रह करना है। माना कि इन वंशावलियों में बहुत बातें आगे पीछे हो गई हैं और कई बातों में भूल भी हुई है, परन्तु इतने मात्र से सारी वंशावली को निरर्थक कहना उचित नहीं।

---

1 p. 182, AIHT.

2 An Account of the Kingdon of Nepal.

३ पृ० ४११-४२८।

4 A Catalogue of Palm-leaf and selected paper Mss. belonging to the Durbar Library, Nepal, Calcutta, 1905, Historical Introduction, pp. 3-5.
इसका ऐतिहासिक भाग सन् १९०३ में एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में प्रकाशित हो गया था।

८. त्रिगर्त की राज-वंशावली—पुरातत्व के विद्वान् जनरल कनिंघम ने त्रिगर्त की कई राज-वंशावलियां प्राप्त की थीं ।[1] यह वंशावलियां बहुत पुराने काल तक जाती थीं, अतः कनिंघम को उन पर विश्वास नहीं हो सका । कांगड़ा और जालन्धर जिला के गैजेटियर्स में इन्हीं वंशावलियों का उल्लेख है । सन् १९१९ में ऐसी ही एक वंशावली हम ने ज्वालामुखी से प्राप्त की थी । यह वहां के प्राचीन पुरोहित गृह से हमने स्वयं ढूंढी थी । पुरोहितों के कुल में पंडित दीनदयालु विद्यमान हैं । वही हमें अपने घर ले गये थे । इस वंशावली के साथ कांगड़ा के वर्तमान छोटे-छोटे राज्यों की भी कई वंशावलियां हैं ।

इस वंशावली के साथ एक और भी पत्र हमें वहीं से मिला था उसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है । किसी काल में वहां अनेक ऐसे पत्र रहे होंगे । यदि वे सब मिल जाते, तो हमारे इतिहास का बड़ा कल्याण होता । परन्तु खेद है कि वे हमें नहीं मिल सके । उस पत्र पर लिखे हुए कुछ श्लोक हम नीचे देते हैं—

भूमिचन्द्रं समारभ्य मेघचन्द्रान्तमुच्यते । चतुःशतं क्षितीन्द्राणामेकपञ्चाशदुत्तरम् ॥१॥
त्रिलोकचन्द्रतनयं हरिश्चन्द्रनृपावधि । चतुःशतं पुनस्तेषां चतुःषष्ट्युत्तरं मतम् ॥२॥
मेघचन्द्राद्वीजिपुंसः कुलमासीदनेकधा । मनोरिव क्षितीन्द्राणां विचित्रचरिताश्रयम् ॥३॥
ज्येष्ठः पुत्रः कर्म्मचन्द्रो मेघचन्द्रस्य कथ्यते । सुप्रतिष्ठं तस्य कुलं कोटे नगरपूर्वके ॥४॥
द्वितीयो मेघचन्द्रस्य हरिश्चन्द्रः सुतो मतः । गोपाचले प्रपेदेऽस्य सन्ततिर्वसतिर्ध्रुवम् ॥५॥
जालन्धरधराधीश - धर्म्मचन्द्रमहीभृतः । लक्ष्मीचन्द्रपूर्वतोऽभूत् पंचविंशत्तमो नृपः ॥१०॥
एवं देव्याः कुलमुपययौ वृद्धिमत्यूर्जितश्रि स्थाने स्थाने विषयवसतो जातनानाविधानम् ।
विश्वख्यातं विमलयशसा देवतांशानुभावान् नो सम्भाव्यं तदनुसरणं तद्विभिन्नान्वयेन ॥११॥

अर्थात्—त्रिगर्त के आदि राजा भूमिचन्द्र से लेकर मेघचन्द्र तक ४५१ राजा हुए हैं । तत्पश्चात् त्रिलोकचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र तक ४६४ राजा हुए हैं । मेघचन्द्र का ज्येष्ठ पुत्र कर्मचन्द्र(४५२) था । उसका कुल नगरकोट में सुप्रतिष्ठित था । ४५१ संख्या वाले मेघचन्द्र का दूसरा पुत्र हरिश्चन्द्र-गुलेर में राजा हुआ । उसके पुत्र पौत्र वहीं पर राज करने लगे । ४५९ संख्या का राजा धर्मचन्द्र था वह जालन्धर का भी राजा था । उससे २५ पीढ़ी पहले अर्थात् ४३४ संख्या का राजा लक्ष्मीचन्द्र था ।

४५७ संख्या वाले प्रयागचन्द्र के विषय में उसी पर पुनः लिखा है—

श्रीरामचन्द्रोऽजनि जागरूकः प्रयागचन्द्रस्य सुतोऽवनीशः ।
विन्ध्यादिकानां जगतीधराणां गुहा यदीयारिगृहा बभूवुः ॥१॥
आसीदथ तत्समकालमेव पपुर्वढाणोर्जितवंशदीपः ।
सेकन्दराख्यो यवनाधिराजेस् त्रिगर्तदुर्गग्रहणे प्रवृत्तः ॥२॥
द्वाविंशतिर्यस्य महाध्वजिन्यः पर्य्यायितो म्लेच्छपतेर्विलीनाः ।
प्रयागचन्द्रात्मजबाहुवीर्य्ये वर्षाणि तावन्ति युधि प्रवृत्ताः ॥३॥
यो ब्रह्मखानोऽजनि सूनुरस्य स पूर्ववन्नीतिपथं न भेजे ।
विशीर्यदैश्वर्य्यनिसर्ग एष नूनं यदुन्मार्गगतिः प्रभूणाम् ॥४॥

---

1 p. 150, Archaeological Survey Reports, 1872—1873, by A. Cunningham, 1875.

प्राचीनदिल्लीपतिपारिजात-रत्नाकरे म्लेच्छवरिष्ठवंशे ।
वीरस्ततो बाबर आविरासीज्जिहीर्षुरस्माद्वसुधाधिपत्यम् ॥५॥
सहायमासाद्य स पारसीकराजजयोद्योगपरो बभूव ।
सेकन्दरस्यापि सुतस्तदानीं स रामचन्द्रं वृत्तवान् सहायम् ॥६॥
स बद्धवैरोपि सदैव तेन विपद्यभूत्तस्य सहाय एव ।
संसप्तकानां कुलधर्म एष यदापदि द्वेषिकुलोपकारः ॥७॥
पाणीपथभुवि प्रवृत्तमसमं युद्धं तयोर्म्लेच्छयो-
र्लेभे भद्रं च बाबरोरिविजयं वृष्टवारिव शान्तकः ।
यस्मिन्संगरमूर्द्धनि क्षितिपतिः श्रीरामचन्द्रो यश-
स्तेने निर्मलमेष यत्सम् चितं संसप्तकानां कुले ॥
सुशर्मवंशप्रभवक्षितीन्द्रावतंसरूपः खलु रामचन्द्रः ।
जगाम वीरेन्द्रगतिं स्वदेहं रणे परित्यज्य विशुद्धबुद्धिः ॥

इन श्लोकों में ४५८ संख्या वाले राजा रामचन्द्र का भी वर्णन है। यह प्रयागचन्द्र का पुत्र था। इसका समकालीन दिल्ली-पति सिकन्दर लोधी था। सिकन्दर ने नगरकोट के राजा से कई युद्ध किए, परन्तु सदा हारता रहा। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र इब्राहीम लोधी ने पानीपत के युद्ध में त्रिगर्त के राजा रामचन्द्र की सहायता ली। उस युद्ध में बाबर की विजय हुई, और रामचन्द्र युद्ध में ही मारा गया।

यह युद्ध १८ अप्रैल सन् १५२६ को समाप्त हुआ था।[1] इससे निश्चित होता है कि राजा रामचन्द्र की मृत्यु सन् १५२६ में हुई थी। कनिंघम और कांगड़ा गैजिटियर के लेखक का मत है कि राजा रामचन्द्र की मृत्यु सन् १५२८ में हुई। उन्होंने किस प्रमाण से ऐसा लिखा, यह हमें ज्ञान नहीं हो सका।

मन्त्रार्थ दीपिका का कर्ता शत्रुघ्न अपने मंगल श्लोकों में लिखता है—

बभूव राजन्यकुलावतंसः पुरा सुशर्मा किल राजसिंहः ।
निहत्य यो भारतसंयुगेषु चकार भूमीधरभूमिरक्षाम् ॥३॥
तदन्वये यो महनीयकीर्तिः सुवीरचन्द्रः क्षितिपः किलासीत् ।
चकार यः संयुगयज्ञभूमौ पशूनशेषानिव वैरिवीरान् ॥४॥
तस्मादसीमगुणसिन्धुरशेषबन्धुरासीत्समस्तजनगीतभुजप्रतापः ।
श्रीदेवकीतनयपादरतः प्रयागचन्द्रः प्रजानयनरञ्जनपूर्णचन्द्रः ॥५॥

अर्थात्—सुशर्मा की कुल में सुवीरचन्द्र राजा हुआ। उसका पुत्र प्रयागचन्द्र था। वंशावली में यह प्रयागचन्द्र संख्या ४५७ वाला है। अतः सुवीरचन्द्र संख्या ४५६ वाला हुआ।

इनसे पूर्व के भी कई राजाओं का वर्णन मुसलमानी इतिहासों में मिलता है। कल्हण पण्डित राजतरंगिणी में लिखता है कि कश्मीर के राजा शंकरवर्मा ने त्रिगर्त के राजा पृथ्वीचन्द्र को हराया।[2]

---

1 p. 250, Vol. III, The Cambridge History of India, 1928.

२ राजतरंगिणी ५।१४३,१४४॥
त्रिगर्त के केशव पण्डित ने अलंकार शेखर नाम का एक ग्रन्थ लिखा। उसमें ४६० संख्या वाले माणिक्यचन्द्र का उल्लेख है। यह माणिक्यचन्द्र सन् १५४५ अथवा सं० १६०२ में जीवित था।

वंशावली में इस पृथ्वीचन्द्र का नाम हमें नहीं मिला। बहुत सम्भव है कि यह जालन्धर अथवा त्रिगर्ता-न्तर्गत किसी छोटी रियासत का राजा हो। अथवा त्रिगर्त के किसी राजा का भाई आदि हो और त्रिगर्तों का सेनापति हो। पृथ्वीचन्द्र के पुत्र भुवनचन्द्र का नाम भी वहां मिलता है।

महाभारत द्रोणपर्व, अध्याय २८-३०, में सुशर्मा और उसके भ्राताओं का वर्णन है। वे सब पांच भाई थे। नाम थे, उनके सुषर्मा, सुरथ, सुधर्मा, सुधनु और सुबाहु। पुनः आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ७४, में त्रिगर्तों के राजा सूर्यवर्मा का नाम मिलता है। इसी ने अर्जुन का घोड़ा रोका था। उसके दो भाई केतुवर्मा और धृतवर्मा थे। वंशावली में सुशर्मा के पश्चात् श्रीपतिचन्द का नाम लिखा है। यह श्रीपतिचन्द्र सूर्यवर्मा ही होगा।

इस वंशावली में राजा रामचन्द्र तक ४५८ राजा हुए हैं। रामचन्द्र सन् १५२६ में परलोक सिधारा। इस वंशावली में २३१वां राजा सुशर्मा या सुशर्मचन्द्र था। इस सुशर्मा ने भारत युद्ध में भाग लिया था। इस सुशर्मा से पहले २३० राजा हो चुके थे। यदि सुशर्मा से लेकर प्रत्येक राजा का काल २० वर्ष भी माना जाए, तो इस वंशावली के अनुसार भी भारत युद्ध का वही काल निश्चित होता है, जो हम पूर्व कह चुके हैं। इस वंशावली के सम्बन्ध में इतना और प्रतीत होता है कि इसमें राजाओं के साथ उनके भाइयों के नाम भी मिल गए हैं।

नगरकोट में प्राचीन राज-वंशावलियां सुरक्षित थीं, यह अलबेरूनी के लेख से भी ज्ञात होता है। काबुल के शाहिय राजा एक के पश्चात् दूसरा लगभग ६० हुए थे। उनका इतिहास नहीं मिलता। परन्तु कई लोग कहते हैं कि नगरकोट दुर्ग में इन राजाओं की वंशावली रेशम पर लिखी हुई विद्यमान है।

काबुल के राजाओं की ही नहीं त्रिगर्त के राजाओं की अपनी वंशावली भी अवश्य सुरक्षित थी। जो वंशावली हमारे पास है, यह उसी वंशावली की कदाचित् परम्परागत प्रतिलिपि है। इसके अनुसार महाभारत से भी पांच-छः सहस्र वर्ष पूर्व का त्रिगर्त का इतिहास मिल सकता है।

रामायण और महाभारत की राज-वंशावलियां

कलि से पूर्व के आर्य राजाओं का वृत्तान्त रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलता है। यह वृत्तान्त बहुत संक्षिप्त और प्रत्येक वंश के प्रधान राजाओं का है। उनके भाईयों आदि का नहीं।[१] क्रमबद्ध और विस्तृत इतिहास के न मिलने का एक कारण है। आर्य जाति अत्यन्त प्राचीन है। इसका इतिहास कल्प-कल्पान्तरों तक का है। इतने लम्बे काल के इतिहास को कौन सुरक्षित रख सकता है। इसे सुरक्षित रखने के लिए सैंकड़ों महाभारतों की आवश्यकता है। अतः आर्य ऋषियों ने उस इतिहास में से अत्यन्त उपयोगी भाग संग्रहीत कर दिए। वे भाग रामायण और महाभारत में सुरक्षित हैं। इतिहास

---

१ तुलना करें विष्णु पुराण, ४।५।११३।

एते इक्ष्वाकुभूपालाः प्राधान्येन मयेरिताः। तथा ब्रह्माण्ड ३।७४।२४७,२४८॥

बहुत्वान्नामधेयानां परिसंख्या कुले कुले।
पुनरुक्तिबहुत्वाच्च न मया परिकीर्तिताः॥

के कुछ और भी ग्रन्थ थे, परन्तु वे अब अप्राप्य हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों की कलि से पहले की राज-वंशावलियां भी उसी सुरक्षित इतिहास का एक अंग हैं। ये वंशावलियां बहुत दूर तक के राजाओं के नाम बताती हैं। जिस प्रकार शाखाकार अनेक ऋषियों के नाम पुराणों में सुरक्षित हैं, और वहीं से हमें उनका ज्ञान हुआ है, ठीक उसी प्रकार इन वंशावलियों के त्रुटित होने पर प्राचीन राजाओं का ज्ञान इन्हीं से होता है। अतः यह कहना वस्तुतः सत्य है कि भारतीय इतिहास लाखों वर्ष पुराना है। यह लेख गम्भीर गवेषणा के आधार पर लिखा जा रहा है।[1]

राज-वंशावलियों पर एक सामान्य दृष्टि – इन राज-वंशावलियों में कई भूलें हो चुकी हैं। यह हम पहले भी लिख चुके हैं। परन्तु हम जानते हैं कि इनकी सहायता से प्राचीन इतिहास का निर्माण किया जा सकता है। जो लोग इनको उपेक्षा-दृष्टि से देखते हैं, वे भारतीय इतिहास के एक मूल स्रोत को परे फेंक देते हैं। जब अनेक वंशावलियों की कई बातें शिलालेखों से सिद्ध हो जाती हैं, तो भूलें होने पर भी इन वंशावलियों के लेख शिलालेखों का भाव जानने में सहायक हो सकते हैं।

अभी सन् १९२५ में **आर्यमञ्जुश्री-मूलकल्प** नाम के एक बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ का अन्तिम भाग त्रिवन्द्रम से मुद्रित हुआ है। उसमें एक सहस्र श्लोकों को लिखकर भारतीय इतिहास पर बड़ा प्रकाश डाला गया है। बुद्ध के काल से लेकर सातवीं शताब्दी ईसा तक का एक क्रमबद्ध इतिहास इस ग्रन्थ में मिलता है। उसके पाठ से ज्ञात होता है कि मूलकल्प के लेखक के पास एक परिपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री थी। उस ग्रन्थ में बुद्ध से पूर्व के अनेक राजाओं के नाम हैं। यदि बुद्ध के काल से लेकर आगे के नाम कल्पित नहीं हैं तो बुद्ध से पूर्व के राजाओं के नाम भी ऐतिहासिक ही हैं। श्री जायसवाल जी धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने हमारे मित्र श्री राहुल सांकृत्यायन की सहायता से मूलकल्प का सुसम्पादन कर दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने इस पर टिप्पणी लिखकर और भी उपकार किया है। यद्यपि हम उनकी टिप्पणी की अनेक बातों से सहमत नहीं, परन्तु उनके ग्रन्थ का बड़ा उपकार मानते हैं।[2]

वास्तविक बात यह है कि प्राचीन-काल और मध्यकाल में प्रत्येक आर्य राजा अपने सरस्वती भण्डार में ऐसी सामग्री तैयार करवाता रहता था, जो उसका अपना इतिहास हो। अनेक राजाओं के काल की ऐसी ही सामग्री जब एक स्थान में एकत्र कर दी जाती थी, तो वहीं उन राजाओं का एक शृंखलाबद्ध इतिहास हो जाता था। पुनः उसी के आश्रय से राज-वंशावलियां भी पूर्ण होती रहती थीं। कालक्रम से इन वंशावलियों में कुछ भूलें प्रविष्ट हो गई हैं, ऐसा देखा जाता है। परन्तु सब वंशावलियां निर्मूल हैं, ऐसा कहना एक बड़ी धृष्टता है।

कई लोग इन वंशावलियों को इसलिए भी उपेक्षा दृष्टि से देखते और इन पर विश्वास नहीं करते, क्योंकि इनमें युधिष्ठिर के काल से लेकर अगले राजाओं का राजकाल निरन्तर लम्बा लिखा है। आधुनिक ऐतिहासिक के लिए यह एक आश्चर्य की बात हो जाती है कि यह राजा इतने लम्बे काल तक कैसे राज्य करते रहे। इसलिए वह इन वंशावलियों को निरर्थक समझ कर फेंक देता है। प्राचीन

---

१ यह लेख विक्रम सं० १९९१ का है। तत्पश्चात् सं० १९९७ में हमारा भारतवर्ष का इतिहास मुद्रित हुआ। उसका दूसरा संस्करण २००३ में निकला। इसके अनन्तर सं० २०१० में भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भी मुद्रित हो गया है।

2 An Imperial History of India, 1934, Lahore.

राजाओं का राज्यकाल लम्बा होता था, इस विषय में मुसलमान यात्री सुलेमान सौदागर का लेख देखने योग्य है। वह सन् ८५१ में अपने ग्रन्थ में लिखता है—इनके यहां अरब निवासियों की तरह तारीख की गणना हजरत मुहम्मद साहब के समय से नहीं है, बल्कि तारीख का सम्बन्ध राजाओं के साथ है। इन बादशाहों की आयु प्रायः बहुत हुआ करती है। बहुत से बादशाहों ने प्रायः पचास-पचास वर्ष तक राज्य किया।[1]

सुलेमान के इस लेख से पता लगता है कि नवम शताब्दी ईसा के आरम्भ में भी भारत के अनेक राजा प्रायः पचास-पचास वर्ष तक राज्य करते थे। हम यह भी जानते हैं कि महाभारत काल में आजकल या आज से दो सहस्र वर्ष पहले की अपेक्षा भी लोगों की आयु कहीं अधिक होती थी। भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव का निर्वाण १२० वर्ष की अवस्था में हुआ था। तब महाराज युधिष्ठिर को राज्य करते-करते ३६ वर्ष हो चुके थे। उस समय भी युधिष्ठिर ने अपनी इच्छा से राज्य छोड़ा था। युद्ध के समय महाराज युधिष्ठिर की आयु लगभग ७० वर्ष थी। इनके पश्चात् भी देर तक राजा लोग दीर्घजीवी रहे। कई बार पिता के पश्चात् पुत्र सिंहासन पर नहीं बैठा, प्रत्युत पौत्र बैठा। इस प्रकार प्रत्येक राजा का राज्य-काल निरन्तर दीर्घ हो रहा। इस पर भी हम मानते हैं कि वंशावलियों की इस प्राचीन काल के विषय में कुछ भूलें हो गई हैं, परन्तु प्रत्येक राजा के लम्बे काल को देखकर इन वंशावलियों पर जितना संदेह आधुनिक ऐतिहासिक करते हैं, वह सब निराधार हैं। ऐसा सन्देह करने वाले ऐतिहासिकों को सुलेमान का लेख ध्यान से पढ़ना चाहिए। मूलकल्प में भी अनेक पुराने राजाओं का राज्यकाल लम्बा ही दिया है।

मैगस्थनेज का जो लेख मगध की राज-वंशावलियों के प्रकरण में पहले उद्धृत किया गया है, तदनुसार प्रत्येक राजा का राज्य काल लगभग ३४ वर्ष पड़ता है। मैगस्थनेज के काल में आजकल की अपेक्षा भारतीय लोग अपने इतिहास को बहुत अधिक जानते थे। अतः मैगस्थनेज के इस लेख पर सहसा अविश्वास नहीं हो सकता। वस्तुतः प्राचीन राजाओं का राज्यकाल लम्बा होता था।

भारतीय इतिहास और कौटल्य

कौटल्य-अर्थशास्त्र महाराज चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य का रचा हुआ है। उसके काल को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए जौली प्रभृति तीन-चार पाश्चात्य लेखकों ने व्यर्थ चेष्टा की है। वस्तुतः वर्तमान अर्थशास्त्र कौटल्य की ही कृति है। मूलकल्प के अनुसार चाणक्य बड़ा दीर्घजीवी था। वह चन्द्रगुप्त, बिम्बिसार और अशोक, इन तीनों का मंत्री रहा। अतः उसके ग्रन्थ के विषय में हम अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र का काल अशोक काल के पश्चात् का नहीं है। उसमें निम्नलिखित प्राचीन राजाओं का उल्लेख है—दाण्डक्य भोज। वैदेह कराल। जनमेजय (द्वितीय)। तालजङ्घ। ऐल। सौवीर अजबिन्दु। रावण। दुर्योधन। डम्भोद्भव। हैहय अर्जुन। वातापि। वृष्णिसंघ। जामदग्न्य। अम्बरीष नाभाग।[2] सुयात्र (उदयन)।

---

१ पृ० ५०-५१, सुलेमान सौदागर, मौलवी महेशप्रसाद कृत भाषानुवाद, संवत् १९७८।

२ अर्थशास्त्र १।६॥

कौटिल्य सदृश विद्वान्, जो आर्य इतिहास का प्रवीण पण्डित था, जो इतिहास के अध्ययन को राजा की दिनचर्या में सम्मिलित करता है,[१] जो पूर्वोक्त राजाओं को कोई कल्पित राजा नहीं मानता, उसके लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसकी दृष्टि में ये सब राजा ऐतिहासिक थे। यदि उसके पास प्राचीन ऐतिह्य-ग्रन्थ न होते, तो वह ऐसा न लिख सकता। अर्थशास्त्र में स्मरण किए गए ये राजा महाभारत और उससे पहले कालों के हैं। कराल जनक का संवाद महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३०८ आदि में मिलता है। इससे निश्चित होता है कि आर्यावर्त में आर्य लोग अपने इतिहास को सदा से जानते रहे हैं। वे अपनी राज-वंशावलियों को सदा पूरा करते रहते थे। गत छः-सात सौ वर्ष में ही यह प्राचीन सामग्री कुछ नष्ट हुई है। विदेशियों के अनवरत आक्रमण इस नाश का कारण हैं। परन्तु जो कुछ भाग बचा है, यत्न से वह ठीक हो सकता है, ऐसी हमारी धारणा है।

यवन यात्री मैगस्थनेज का लेख

भारतीय इतिहास की प्राचीनता के सम्बन्ध में यूनानी राजदूत मैगस्थनेज का लेख उसके तीन देशवासियों ने इस प्रकार से सुरक्षित किया है—

From the days of Father Bacchus to Alexander the Great, their kings are reckoned at 154 whose reigns extend over 6451 years and three months. (Pliny)

Father Bacchus was the first who invaded India and was the first of all who triumphed over the vanquished Indians. From him to Alexander the Great 6451 years are reckoned with three moths additional, the calculation being made by counting the kings who reigned in the intermediate period, to the numbr of 153. (Solin 52.50)

From the time of Dionysos (or Bacchus) to Sandrakottos the Indians counted 153 kings and a period of 6042 years, but among these a republic was thrice established......and another to 300 years, and another to 120 years. The Indians also tell us thet Dionysos was earlier then Herakles by fifteen generations. (Indika of Arrian, Ch. IX)

अर्थात्—बेक्कस के काल से अलक्षेन्द्र के काल तक ६४५१ वर्ष हो चुके हैं और इतने काल तक १५३ वा १५४ राजाओं ने राज्य किया है। तीसरे लेख में ४०९ वर्ष न्यून दिये हैं।

इस लेख से इतना निश्चित होता है कि महाराज चन्द्रगुप्त या उसके पुत्र अथवा पौत्र के काल में जो परम्परा मगध में प्रसिद्ध थी, और जिसका उल्लेख मैगस्थनेज ने किया, तदनुसार भारत पर विदेशीय आक्रमण बेक्कस के काल से लेकर चन्द्रगुप्त के काल तक मगध में १५३ राजाओं ने ६०४२ वर्ष तक राज्य किया। इस लम्बे अन्तर में तीन बार प्रजातन्त्र गण राज्य स्थापित हुआ। उसका काल यदि ७४२ वर्ष मान लिया जाए, तो कुल राजाओं ने अनुमानतः ५३०० वर्ष राज्य किया होगा। इस प्रकार प्रत्येक राजा का काल लगभग ३४ वर्ष निकलता है। प्लायनी की गणना के अनुसार प्रत्येक राजा का राज्य काल लगभग ४२ वर्ष होगा।

---

१ अर्थशास्त्र १।५॥

अलबेरूनी अपने अल किताबुल हिन्द अर्थात् भारत इतिहास में लिखता है —"हिन्दुओं में कालयवन नाम का एक संवत् प्रचलित है। इस के संबंध में मुझे पूरी सूचना नहीं मिल सकी। वे इस का आरम्भ गत द्वापर के अन्त में मानते हैं। इस यवन ने इनके धर्म और देश पर बड़े अत्याचार किये थे। इति।"

क्या यही यवन बेक्कस हो सकता है ? मैगस्थनेज के अनुसार बेक्कस कलि के आरम्भ से कोई ३२६० वर्ष पूर्व हुआ था, अर्थात् जब द्वापर के ३२६० वर्ष शेष थे। इस प्रकार सम्भव हो सकता है कि मैगस्थनेज का बेक्कस अलबेरुनी का यवन हो।

विक्रमखोल, हड़प्पा और मोहन्जोदड़ो के लेख

गत वर्ष बिहार और उड़ीसा प्रान्त में से एक नए शिलालेख के अस्तित्व का पता लगा था। उसकी छाप आदि इंडियन अंटीक्वेरी मार्च सन् १९३३ में मुद्रित हुई है। मुद्रण-कर्त्ता का नाम श्री काशी-प्रसाद जायसवाल है। उन के मत में यह लेख लगभग १५०० ईसा पूर्व का और पौराणिक भौगोलिक स्थिति के अनुसार राक्षस देश का है।

विक्रमखोल से बहुत पूर्व के लेख हड़प्पा और मोहन्जोदड़ो में मिले हैं उन के संबंध में सर जान मार्शल और उन के कुछ सहकारियों का मत है, कि ये लेख आर्य-काल से पूर्व के हैं। इन सब लोगों के हृदय में एक भ्रान्त विश्वास बैठा हुआ है कि भारत में आर्यों का आगमन विक्रम से कोई दो सहस्र वर्ष पहले बाहर से हुआ। उसी के अनुसार ये लोग अपने दूसरे सारे मत स्थिर कर लेते हैं। हमें इन लोगों पर दया आती है। पहले तो ये लोग भारतीय इतिहास को बहुत पुराना इसलिए नहीं मानते थे कि यहां के बहुत पुराने लेख, नगर आदि नहीं मिले थे। अब जब ये पदार्थ मिल गये हैं तो भारतीय आर्य सभ्यता बहुत पुरानी न हो जाये इस भय से इन्होंने इन लेख आदिकों को पूर्व आर्य काल का कहना आरम्भ कर दिया है।

गत पृष्ठों में हम अनेक प्रमाणों से बता चुके हैं कि भारतीय इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। उस दृष्टि के अनुसार यह निश्चित है कि पूर्वोक्त सब लेख आर्य काल के ही हैं। अब तो इनके ठीक पढ़ने के लिए महान् परिश्रम की आवश्यकता है।

*

पंचम अध्याय

वेद शब्द और उसका अर्थ

स्वर-भेद से दो प्रकार का वेद शब्द—स्वर भेद से दो प्रकार का वेद शब्द प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। एक है आद्युदात्त और दूसरा है अन्तोदात्त। आद्युदात्त वेद शब्द प्रथमा के एक वचन[1] में ऋग्वेद में पन्द्रह बार प्रयुक्त हुआ है, और तृतीया के एक वचन[2] में एक बार। अन्तोदात्त वेद शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलता। यजुर्वेद और अथर्ववेद में अन्तोदात्त[3] वेद शब्द मिलता है।

वेद शब्द के इन्हीं दो प्रकारों का ध्यान करके पाणिनि ने उञ्छादि ६।१।१६०॥ और वृषादि ६।१।२०३॥ दो गणों में वेद शब्द दो बार पढ़ा है। दयानन्द सरस्वती अपने सौवर ग्रन्थ में उञ्छादि सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं—करण कारक में प्रत्यय किया हो तो घञन्त वेग। वेद। वेष्ट। बन्ध। आदि चार शब्द अन्तोदात्त हैं।.........वेत्ति येन स वेदः।...और भाव वा अधिकरण में प्रत्यय होगा तो आद्युदात्त ही समझे जावेंगे।

वेद शब्द की व्युत्पत्ति

१. **संहिता और ब्राह्मण के अनुसार**—काठक, मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं में वेद शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से पायी जाती है—

वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त तद्वेदस्य वेदत्वम्। तै० सं० १।४।२०॥

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऐसा वचन मिलता है—

वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां वेदेनान्वविन्दन्।
वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीम्। तै० ब्रा० ३।३।९।६६॥

पूर्वोक्त प्रमाणों में—अन्वविन्दन्। अविन्दन्। अविन्दन्त। और विविदुः—आदि सब प्रयोग पाणिनीय मतानुसार विद्लृ—लाभे से व्युत्पन्न हुए हैं।

भट्ट भास्कर तैत्तिरीय संहिता के प्रमाण के अर्थ में लिखता है—

विद्यते=लभ्यतेऽनेनेति करणे घञ्। उञ्छादित्वादन्तोदात्तम्।

---

१ वेदः १।७०।५॥ ३।५३।१४॥ इत्यादि।
२ वेदेन=स्वाध्यायेन इति वेंकटमाधवः। तथा वेदेन=वेदाध्ययनेन ब्रह्मयज्ञेन इति सायणः ८।१९।५॥
३ वेदः। यजुर्वेद २।२१॥ अथर्ववेद ७।२९।१॥

तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रमाण के अर्थ में वह लिखता है—विविदुः=लब्धवन्तः।

तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में भट्ट भास्कर लिखता है—

पुरुषार्थानां वेदयिता वेद उच्यते।३।३।४।७॥

२. आनन्दतीर्थ ने अपने विष्णुतत्वनिर्णय में वेद शब्द की व्युत्पत्ति दिखाने वाला एक आथर्वण पिप्पलाद शाखा संबंधी किसी नवीन उपनिषद् अथवा खिल में से प्रमाण ऐसे दिया है—

नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदा ह्येवैनं वेदयन्ति। तस्मादाहुर्वेदा इति पिप्पलादश्रुतिः॥[1]

३. सुश्रुत संहिता में लिखा है—

आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः। सूत्रस्थान १।१४॥

इस वचन की व्याख्या में डल्हण लिखता है—

आयुर् अस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते=अस्ति...विद्यते=ज्ञायतेऽनेन...विद्यते=विचार्यतेऽनेन वा... आयुरनेन विन्दति=प्राप्नोति इति वा आयुर्वेदः।

सुश्रुत के वचन से प्रतीत होता है कि सुश्रुतकार करण और अधिकरण दोनों अर्थों में प्रत्यय हुआ मानता है। उसका टीकाकार डल्हण समझता है कि विद्=सत्तायाम्। विद्=ज्ञाने। विद्=विचारणे। और विद्लृ=लाभे इन सभी धातुओं से सुश्रुतकार को वेद शब्द की सिद्धि अभिप्रेत थी।

४. चरक संहिता में लिखा है—तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः। सूत्रस्थान ३०।२०॥

चरक का टीकाकार चक्रपाणि इस पर लिखता है—वेदयति=बोधयति। अर्थात्—विद्=ज्ञाने से कर्त्ता से प्रत्यय मान कर वेद शब्द बना है।

५. नाट्य शास्त्र—नाट्यशास्त्र १।१॥ की विवृत्ति में अभिनवगुप्त लिखता है—नाट्यस्य वेदनं सत्ता लाभो विचारश्च यत्र तन्नाट्यवेदशब्देन...उच्यते। इससे प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त भाव में भी प्रत्यय मानता है, और सत्ता, लाभ तथा विचार अर्थ वाले विद् धातु से वेद शब्द की सिद्धि करता है।

६. शब्द-कोष और उनकी टीका—अमरकोष १।५।३॥ की टीका में क्षीरस्वामी लिखता है—विदन्त्यनेन धर्मं वेदः। सर्वानन्द अपनी टीका में लिखता है—विदन्ति धर्मादिकमनेनेति वेदः।

जैनाचार्य हेमचन्द्र अपनी अभिधान चिन्तामणि पृ० १०६ पर लिखता है—विन्दत्यनेन धर्मं वेदः।

इन लेखों से विदित होता है कि क्षीरस्वामी, सर्वानन्द और हेमचन्द्र प्रत्यय को करण में ही मानते हैं, पर पहले दोनों विद्वान् वेद शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञान अर्थ वाले विद् धातु से मानते हैं और तीसरा विद्लृ धातु से मानता है।

७. मानवधर्मशास्त्र-भाष्य—मानवधर्मशास्त्र २।६॥ के भाष्य में मेधातिथि लिखता है—

व्युत्पाद्यते च वेदशब्दः। विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति वेदः। तच्च वेदनमेकैकस्माद् वाक्याद् भवति।

---

१ प्रथम परिच्छेद का आरम्भ।

८. आपस्तम्ब-परिभाषा-भाष्य—आपस्तम्ब सूत्र १।३३।। के भाष्य में कपर्दी स्वामी लिखता है—निःश्रेयस्कराणि कर्माण्यावेदयन्ति वेदाः। सूत्र १।३।। की वृत्ति में हरदत्त लिखता है—वेदयतीति वेदः।

९. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—दयानन्द सरस्वती स्वामी ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में लिखा है—

विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्यायैर्येषु वा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।

इस प्रकार विदित होता है कि काठकादि संहिताओं के काल से लेकर वर्तमान काल तक १. विद्=ज्ञाने, २. विद्=सत्तायाम्, ३. विद्लृ=लाभे, ४. विद्=विचारणे, इन चार धातुओं में से किसी एक वा चारों से करण अथवा अधिकरण में प्रत्यय हुआ मान कर विद्वान्-वेद शब्द को सिद्ध करते आए हैं। तथा कई ग्रन्थकार भाव में प्रत्यय मानकर भी वेद शब्द को सिद्ध करते हैं।

वेद तथा ऋषि पर्यायवाची शब्द हैं।[1]

स्वामी हरिप्रसाद अपने वेद सर्वस्व के उपोद्घात में अधिकरण अर्थ में प्रत्यय मानना और सत्ता, लाभ तथा विचार अर्थ वाले विद् धातु से व्युत्पत्ति मानना असम्भव या निरर्थक समझते हैं। पूर्वोक्त प्रमाण समूह से यह पक्ष युक्ति शून्य प्रतीत होता है।

जिस वेद शब्द की व्युत्पति का प्रकार पूर्व कहा गया है, वह वेद शब्द वेद-संहिताओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं भाष्यकारों ने उस से दर्भमुष्टि आदि अर्थ का भी ग्रहण किया है। परन्तु इस अर्थ वाले वेद शब्द से हमें यहां प्रयोजन नहीं।

वेद संहिता अर्थ वाले वेद शब्द को वे भाष्यकार अन्तोदात्त समझते हैं। वेद शब्द से हमारा अभिप्राय यहां मन्त्र संहिताओं से है। अनेक विद्वान् मन्त्र ब्राह्मण दोनों को ही वेद मानते हैं। उनकी परम्परा भी पर्याप्त पुरानी है। उनके मत की विस्तृत आलोचना इस ग्रन्थ के ब्राह्मण भाग में है। हिरण्यकेशीय श्रौत सूत्र २७।१।१४४।। तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।४।८।१२।। में लिखा है—शब्दार्थमारम्भणानां तु कर्मणां समाम्नायसमाप्तौ वेदशब्दः।

अर्थात्—प्रत्यक्ष आदि से न सिद्ध होने वाले, परन्तु शब्द प्रमाण से विहित कर्मों के अर्थात् उपदेश की समाप्ति जितने ग्रन्थों पर होती है उनके लिए वेद शब्द प्रयुक्त होता है।

इसका अभिप्राय वैजयन्तीकार महादेव यह लिखता है कि मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प सब ही वेद शब्द से अभिप्रेत हैं। यह लक्षण बहुत व्यापक और औपचारिक है। अस्तु यहां हमने सामान्य रूप से वेद शब्द की सिद्धि का प्रकार दिखा दिया है वेद शब्द की जैसी सिद्धि और जो अर्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बताया है, उसमें सारा अभिप्राय आ जाता है।

★

---

१ पृ० ७, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, दूसरा भाग, वेदों के भाष्यकार, १९७६।

षष्ठम अध्याय

क्या पहले वेद एक था

आर्यावर्तीय मध्य-कालीन अनेक विद्वान् ऐसा मानते थे कि आदि में वेद एक था। द्वापर तक ऐसा ही चला आया और द्वापर के अन्त में व्यास भगवान् ने उसके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चार विभाग किए।

पूर्व पक्ष—देखिए मध्य कालीन ग्रन्थकार क्या लिखते हैं—

१. महीधर अपने यजुर्वेद भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

तत्रादौब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश।

अर्थात्—वेदव्यास को ब्रह्मा की परम्परा से वेद मिला और उसने उसके चार विभाग किए।

२. महीधर का पूर्ववर्ती भट्टभास्कर अपने तैत्तिरीय संहिता-भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

पूर्वं भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थमेकीभूयस्थिता वेदा व्यस्ताः शाखाश्च परिच्छिन्नाः।

अर्थात्—भगवान् व्यास ने एकत्र स्थित वेदों का विभाग करके शाखाएं नियत कीं।

३. भट्टभास्कर से भी बहुत पहले होने वाला आचार्य दुर्ग, निरुक्त की वृत्ति में लिखता है—

वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः। सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः। १।२०॥

अर्थात्—वेद पहले एक था, पीछे व्यास रूप में उसकी अनेक शाखाएं समाम्नात हुईं।

इस मत का स्वल्प मूल पुराणों में मिलता है। लिखा है—

> जातुकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः।
> अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः॥
> एकोवेदश्चतुर्धा तु यैः कृतो द्वापरादिषु।३।३।१९।२०॥ विष्णु पुराण।
> वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु ।१४४।११॥ मत्स्य पुराण।

अर्थात्—प्रत्येक द्वापर के अन्त में एक ही चतुष्पाद् वेद चार भागों में विभक्त किया जाता है। यह विभागीकरण अब तक अट्ठाईस बार हो चुका है। जो कोई उस विभाग को करता है उसका नाम व्यास होता है।

उत्तर पक्ष—दयानन्द सरस्वती स्वामी इस मत का खण्डन करते हैं। सत्यार्थप्रकाश समुल्लास एकादश में लिखा है—जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यास जी ने इकट्ठे किए, यह बात झूठी है। क्योंकि व्यास के पिता, पितामह, (प्रपितामह) पराशर, शक्ति, वसिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे।

इन दोनों पक्षों में से कौन सा पक्ष प्राचीन और सत्य है, यह अगली विवेचना से स्पष्ट हो जाएगा।

(क) मन्त्र-प्रमाण—१. समस्त वैदिक इस बात पर सहमत हैं कि मन्त्र अनादि हैं। मन्त्र-गत शिक्षा सर्वकालों के लिए है। अतः यदि मन्त्रों में बहुवचनान्त वेदाः पद आ जाए तो निश्चय जानना चाहिए कि आदि से ही वेद बहुत चले आये है। अब देखिए मन्त्र क्या कहता है—

यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः। ४।३५।६॥ अथर्ववेद।

अर्थात्—जिस परब्रह्म में समस्त विद्याओं के भण्डार वेद स्थिर हैं।

२. पुनः—ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नयः।
तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ॥१९।९।१२॥ अथर्ववेद।

यहां भी वेदाः बहुवचनान्त पद आया है। इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखता है—वेदाः सांगाश्चत्वारः। अर्थात्—इस मन्त्र में बहुवचनान्त वेद पद से चारों वेदों का अभिप्राय है।

३. पुनरपि तैत्तिरीय संहिता में एक मन्त्र आया है—वेदेभ्यः स्वाहा। ७।५।११।२॥

४. यही पूर्वोक्त मन्त्र काठक संहिता ५।२॥ में भी मिलता है।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि प्राचीनतम काल से वेद अनेक चले आये हैं।

(ख) ब्राह्मण ग्रन्थ-प्रमाण—इस विषय में ब्राह्मणों की भी यही सम्मति है। इतना नहीं, उनमें तो यह भी लिखा है कि चारों वेद आदि से ही चले आ रहे हैं। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण काण्ड ग्यारह के स्वाध्याय-प्रशंसा ब्राह्मण के आगे आदि से ही अनेक वेदों का होना लिखा है। ऐसा ही ऐतरेयादि दूसरे ब्राह्मणों में भी लिखा है।

१. कठ ब्राह्मण में लिखा है—चत्वारि शृंगा इति वेदा वा एतदुक्ता।[1] अर्थात्—चत्वारि शृंगाः प्रतीक वाले प्रसिद्ध मन्त्र में चारों वेदों का कथन मिलता है।

२. पुनः काठक शताध्ययन ब्राह्मण के आरम्भ के ब्रह्मौदन प्रकरण में अथर्ववेद की प्रधानता का वर्णन करते हुए चार ही वेदों का उल्लेख किया है—

आथर्वणो वै ब्रह्मणः समानः...चत्वारो हीमे वेदास्तानेव भागिनः करोति, मूलं वै ब्राह्मणो वेदाः, वेदानामेतन्मूलं, यदृत्विजः प्राश्नन्ति तद् ब्रह्मौदनस्य ब्रह्मौदनत्वम्।

अर्थात्—चार ही वेद हैं। अथर्व उनमें प्रथम है, इत्यादि।

---

१ पृ० २६९, ब्राह्मण और आरण्यक, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, १९२७।

३. गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग में लिखा है—

ब्रह्म ह वै ब्राह्मणं पुष्करे ससृजे । स...सर्वांश्च वेदान्......। १।१६।।

अर्थात् -परमात्मा ने ब्रह्मा को पृथिवी-कमल पर उत्पन्न किया । उसे चिन्ता हुई । किस एक अक्षर से मैं सारे वेदों को अनुभव करूं ।

(ग) उपनिषद्-प्रमाण—उपनिषदों के उन अंशों को छोड़कर जिनमें अलंकार, गाथाएं या ऐतिहासिक कथाएं आती हैं, शेष अंश जो मन्त्रमय हैं, निर्विवाद ही प्राचीनतम काल के हैं । श्वेताश्वतरों की उपनिषद् मन्त्रोपनिषद् कही जाती है । उसका एक मन्त्र विद्वन्मडण्ल में बहुत काल से प्रसिद्ध चला आता है । उससे न केवल व्यास से पूर्व ही वेदों का एक से अधिक होना निश्चित होता है, प्रत्युत सर्गारम्भ में ही वेद एक से अधिक थे, ऐसा सुनिर्णीत हो जाता है । वह सुप्रसिद्ध मन्त्र यह है ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । इत्यादि । ६।१८।।

अर्थात्—जो ब्रह्मा को आदि में उत्पन्न करता है और उसके लिए वेदों को दिलवाता है ।

हमारे पक्ष में यह प्रमाण इतना प्रबल है कि इसके अर्थों पर सब ओर से विचार करना आवश्यक है ।

(घ) शंकराचार्य का प्रमाण—वेदान्त सूत्र भाष्य १।३।३०।। तथा १।४।१।। पर स्वामी-शंकराचार्य लिखते हैं—

ईश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तिः । तथा च श्रुतिः—यो ब्रह्माणं ...इति ।

शंकराचार्य ब्रह्मा से हिरणयगर्भ अभिप्रेत मानते हैं । यही उनका ईश्वर है । वह मनुष्यों से ऊपर है । उस देव ब्रह्मा को कल्प के आरम्भ में परमेश्वर की कृपा से अपनी बुद्धि में वेद प्रकाशित हो जाते हैं । वाचस्पति-मिश्र 'ईश्वर' का अर्थ धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयसंपन्न करता है ।

वैदिक देवतावाद में ऐसे स्थानों पर 'देव' का अर्थ विद्वान् मनुष्य भी होता है । अतः पहले सर्वत्र अधिष्ठातृ-देवता का विचार करना, पुनः वैदिक ग्रन्थों की तदनुसार संगति लगाना क्लिष्ट कल्पना मात्र है । अतः अलमनया क्लिष्टकल्पनया ।

ब्रह्मा आदि सृष्टि का विद्वान् मनुष्य है, इस अर्थ में मुण्डाकोपनिषद् का प्रथम मन्त्र भी प्रमाण है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।।

यहां पर भी शंकर वा उसके चरण चिन्हों पर चलने वाले लोग देवानां पद के आ जाने से ब्रह्म को मनुष्येतर मानते हैं । पर आगे 'ज्येष्ठपुत्राय' पद जो पढ़ा गया है, वह उनके लिए आपत्ति का कारण बनता है । क्योंकि अधिष्ठाता ब्रह्म के पुत्र ही नहीं हैं, तो उनमें से कोई ज्येष्ठ कैसे होगा ?[1]

---

१ यद्यपि जड़ पदार्थों में भी कारण-कार्य भाव से पुत्र आदि शब्द का प्रयोग देखा जाता है, परन्तु यहां अथर्वा जड़ पदार्थ नहीं है ।

इसलिए पूर्व प्रमाण में ब्रह्म को मनुष्येतर मानना, युक्तियुक्त नहीं। इसी ब्रह्मा को आदि सृष्टि में अग्नि आदि से चार वेद मिले।

(२) श्री गोविन्द की व्याख्या—वेदान्त सूत्र १।३।३०।। के शांकरभाष्य की व्याख्या करते हुए श्री गोविन्द लिखता है—

पूर्वं कल्पादौ सृजति तस्मै ब्रह्मणे प्रहिणोति=गमयति=तस्य बुद्धौ वेदानाविर्भावयति।

यहां भी चाहे उसका अभिप्राय अधिष्ठातृ देवता से ही हो, पर वह भी वेदों का आरम्भ में ही अनेक होना मानता है।

(३) आनन्दगिरीय व्याख्या—इस सूत्र के भाष्य पर लिखता हुआ आनन्दगिरि भी ब्रह्मा को ही वेदों का मिलना मानता है—

विपूर्वो दधाति करोत्यर्थः। पूर्वं कल्पादौ प्रहिणोति ददाति।

दूसरे स्थल पर जो शंकरादिकों ने यह प्रमाण उद्धृत किया है, वहां पर भी हमारे प्रदर्शित अभिप्राय से उसका कोई विरोध नहीं पड़ता। यही आदि ब्रह्मा था, जिसे महाभारत में धर्म, अर्थ और कामशास्त्र के बृहत् त्रिवर्ग शास्त्र का उपदेष्टा कहा गया है।[1]

चार वेद के जानने से ब्रह्मा होता है। ऐसे ब्रह्मा आदि सृष्टि से अनेक होते आए हैं। व्यास के प्रपितामह का पिता भी ब्रह्मा ही था। इन सब में से पहला अथवा आदि सृष्टि का ब्रह्मा मुण्डक-उपनिषद् के प्रथम मंत्र में कहा गया है। उसी उपनिषद् में उसका वंश ऐसा लिखा है—ब्रह्मा, अथर्वा, अङ्गिरः, भारद्वाज सत्यवाह, अंगिरस्, शौनक।

यह शौनक, बृहद्देवता आदि के कर्ता, आश्वलायन के गुरु शौनक से बहुत पूर्व का होगा। अतः कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास से भी बहुत पहले का है। इसी शौनक को उपदेश देते हुए भगवान् अंगिरस् कह रहे हैं—ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।

जब इतने प्राचीन काल में चारों वेद विद्यमान थे, तो यह कहना कि प्रत्येक द्वापरान्त में कोई व्यास एक वेद का चार वेदों में विभाग करता है, अथवा मन्त्रों को इकट्ठा करके चार वेद बनाता है, युक्त नहीं।

(ङ) प्राचीन इतिहास पूर्व दिए गए प्रमाण इतिहासेतर ग्रन्थों के हैं। इतिहास इस विषय में क्या कहता है, अब यह देखना है। हमारा इतिहास रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलता है। इनसे भी प्राचीन काल के अनेक उपाख्यान अब इन्हीं ग्रन्थों में सम्मिलित हैं। हमारे इन इतिहासों को प्रमाण कोटि से गिराने का अनेक पक्षपाती विदेशीय विद्वानों ने यत्न किया है। कतिपय भारतीय विद्वान् भी उन्हीं का अनुकरण करते हुए देखे जाते हैं। माना कि इन ग्रन्थों में कुछ प्रक्षेप हुआ है, कुछ भाग निकल गया है, कुछ असंगत है, और कुछ आधुनिक सभ्यता वालों को भला प्रतीत नहीं होता, परन्तु इन कारणों से सकल इतिहास पर अविश्वास करना आग्रह मात्र है।

कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। उसी के शिष्य प्रशिष्यों ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों का संकलन किया। उसी ने महाभारत रचा। उसी के पिता, पितामह पराशर, शक्ति आदि हुए हैं।

---

१ पृ० १६, बार्हस्पत्य सूत्र, भगवद्दत्त कृत।

वह आर्यज्ञान का अद्वितीय पंडित था। उसको कल्पित कहना इन विदेशी विद्वानों की ही धृष्टता है।[1] ऐसा दुराग्रह संसार की हानि करता है, और जन साधारण को भ्रम में डालता है।

हम अगले प्रमाण महाभारत से ही देंगे। हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ वैसा ही प्रामाणिक है, जैसा संसार के अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ। यह इतिहास ऋषि प्रणीत है। हां इसके थोड़े से साम्प्रदायिक भाग नवीन हैं।

(१) महाभारत शल्यपर्व अध्याय ४१ में कृतयुग की एक वार्ता सुनाते हुए मुनि वैशम्पायन महाराज जनमेजय को कहते हैं—

पुरा कृतयुगे राजन्नार्ष्टिषेणो द्विजोत्तमः। वसन् गुरुकुले नित्यं नित्यमध्ययने रतः ॥३॥
तस्य राजन् गुरुकुले वसतो नित्यमेव च। समाप्तिं नागमद्विद्या नापि वेदा विशांपते ॥४॥

अर्थात्—प्राचीनकाल में कृतयुग में आर्ष्टिषेण गुरुकुल में पढ़ता था। तब वह न ही विद्या समाप्त कर सका और न ही वेदों को।

(२) दाशरथि राम के राज्य का वर्णन करते हुए महाभारत, द्रोणपर्व अध्याय ५१, में लिखा है—

वेदैश्चतुर्भि सुप्रीताः प्राप्नुवन्ति दिवौकसः। हव्यं कव्यं च विविधं निष्पूर्तं हुतमेव च ॥२२॥[2]

अर्थात्—राम के राज्य में चारों वेद पढ़े विद्वान् थे।

(३) आदि पर्व ७६।१३॥ में ययाति देवयानी से कहता है कि मैंने सम्पूर्ण वेद पढ़ा है—

ब्रह्मचर्येण कृत्स्नो मे वेदः श्रुतिपथं गतः ॥

---

1 (a) In other words, there was no one author of the great Epic, though with a not uncommon confusion of editor with author, an author was recognized, called Vyāsa. Modern scholarship calls him, The Unknown Vyāsa, for convenience. p. 58, The Great Epic of India, W. Hopkins.

(b) But this Vyāsa is a very shadowy person. In fact his name probably covers a guild of rivisors and retellers of the tale.
W. Hopkins, p. 69, India Old and New.

(c) Bādarāyaṇa is very loosely identified with the legendry person named Vyāsa. Monier Williams, p. 111, footnote 2.

(d) Tradition invented as the name of its author the designation Vyāsa, (arranger). A. A. Macdonell, p. 88, India's Past.

(e) To Rāmānuja the legendry Vyāsa was the seer.
India's Past, A. A. Macdonell, p. 149.

(f) Vyāsa Pārāśarya is the name of a mythical sage. p. 339, Vedic India, A. A. Macdonell and A. B. Keith,

इसी विषय में योरोपीय लेखकों का अधिक प्रलाप हमारे 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' प्रथम भाग, पृष्ठ २८४ पर देखिए।

२ पूना संस्करण में यह पाठ नहीं है।

(४) शान्तिपर्व ७३।५।। से भीष्म जी उशना के प्राचीन श्लोक सुना रहे हैं। उशना कहता है—राज्ञश्चाथर्ववेदेन सर्वकर्माणि कारयेत् ।।७।। अर्थात्—अथर्ववेद से राजा का सारा काम पुरोहित कराए।

(५) महाभारत वनपर्व अध्याय २९ में द्रौपदी को उपदेश देते हुए महाराज युधिष्ठिर काश्यप-गीत एक प्राचीन गाथा सुनाते हैं—

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम्।
गीताः क्षमावतां कृष्णे काश्यपेन महात्मना ।।३८।।
क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
यस्तामेवं विजानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ।।३९।।[1]

अर्थात्—महात्मा काश्यप की गाई हुई यह गाथा है कि क्षमा ही वेद हैं।

महाभारत आदि पर्व में शकुन्तलोपाख्यान प्रसिद्ध है। राजर्षि दुष्यन्त काश्यप कण्व के अत्यन्त सुरम्य आश्रम में प्रवेश कर रहे हैं। उस समय का चित्र भगवान् द्वैपायन ने खींचा है। अध्याय ६४ में लिखा है—

ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः। शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ।।३१।।
अथर्ववेदप्रवराः पूगयाज्ञिकसंमताः। संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते ।।३३।।

अर्थात्—ऋग्वेदियों में श्रेष्ठ-जन पद और क्रम से ऋचायें पढ़ रहे थे। और अथर्ववेद में प्रवीण विद्वान् पद, क्रम युक्त संहिता को पढ़ते थे।

यह कैसा स्पष्ट प्रमाण है। इसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यास जी से सहस्रों वर्ष पूर्व महाराज दुष्यन्त के काल में भी अथर्ववेद की संहिता पद और क्रम सहित पढ़ी जाती थी। यह उस काल का वर्णन है जब वेदों की सम्प्राप्त शाखाएं न बनीं थीं, परन्तु जब मन्त्रों के व्याख्या रूप पाठान्तर आर्यावर्त के अनेक गुरुकुलों में प्रसिद्ध थे, तथा जब ब्राह्मण आदि ग्रन्थों की सामग्री भी अनेक आचार्य-परम्पराओं में एकत्र हो चुकी थी।

इन्हीं वेदों की पाठान्तर आदि व्याख्या होकर अनेक शाखाएं बनीं। तब ये वेद किसी प्रवक्ता ऋषि के नाम से प्रसिद्ध नहीं थे। ये ही वेद सनातन काल से चले आए हैं। व्यास जी ने अनेक ऋषि मुनियों की सहायता से उन पाठान्तरों को एकत्र करके वेद शाखाएं बनायीं, और ब्राह्मण ग्रन्थों की सामग्री को भी क्रम देकर तत् तत् शाखानुकूल उनका संकलन किया। कुछ आचार्य ब्राह्मणादिकों को भी वेद कहते थे, अतः उन्होंने यही कहना आरम्भ कर दिया कि व्यास जी ने ही वेदों का विभाग किया। वेदव्यास जी ने तो ब्राह्मण आदि का ही विभाग किया था। वेद तो सदा से चले आये हैं। वस्तुतः पुराणों में भी इसके विपरीत नहीं कहा गया। वहां भी यही लिखा है कि वेद आरम्भ से ही चतुष्पाद था, अर्थात् एक वेद की चार ही संहिताए थीं।

★

---

१ पूना संस्करण, आरण्यकपर्व, ३०।३५—३६।।

सप्तम अध्याय

आम्नाय

आम्नाय का मूलार्थ—आम्नाय पद का अर्थ है, अपने-अपने शास्त्र का आदि ग्रन्थ अथवा उपदेश।

१. आम्नाय=ब्रह्मोपदिष्ट त्रिवर्गशास्त्र अथवा मानव धर्मशास्त्र—धर्मशास्त्र का मूल उपदेश ब्रह्मा ने त्रिवर्ग शास्त्र द्वारा किया। तत्पश्चात् उसी के आधार पर स्वायम्भुव मनु का धर्मशास्त्र रचा गया। इसी परम्परा के अनुसार धर्म का आदि शास्त्र, ब्रह्मा का त्रिवर्ग शास्त्र अथवा मानव धर्मशास्त्र माना जाता है। धर्मशास्त्र का आदि सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मानव धर्मशास्त्र है। इस विषय के ग्रन्थों में प्राय: उसे ही आम्नाय कहा गया है। गौतम धर्मसूत्र में आम्नाय का मुख्य अभिप्राय मानव धर्मशास्त्र से है। यथा—

(क) यत्र चाम्नायो विदध्यात् ॥१।५॥

(ख) आम्नायैरविरुद्धाः ॥ १०।२२ ॥

(ग) शंख-लिखित धर्मसूत्र में लिखा है—आम्नायप्रामाण्याद् आचारः सर्वेषामुपदिश्यते।[1]

(घ) बृहस्पति ने अपने धर्मशास्त्र में ब्रह्मा के उपदेश को ही आम्नाय माना है। यथा—आम्नाये स्मृतितन्त्रे च।[2]

बृहस्पति का धर्मशास्त्र मूल मानव धर्मशास्त्र का संक्षिप्त प्रवचन मात्र था। अतः वह अपने तन्त्र को आम्नाय न कहकर ब्रह्मा के मूल उपदेश को आम्नाय कहता है।

२. आम्नाय=ब्रह्मा द्वारा आयुर्वेद का मूल उपदेश—आयुर्वेद का आदि ग्रन्थ ब्रह्मा का उपदेश था। आयुर्वेद के ग्रन्थों में उसके अथवा इन्द्रादि के मूल उपदेश के लिए आम्नाय शब्द प्रयुक्त होता है। यथा—पृच्छा तन्त्राद् यथाम्नायं विधिना प्रश्न उच्यते। ३०।६८॥ सूत्रस्थान, चरक संहिता।

३. आम्नाय=नाट्यवेद—नाट्यवेद का भी अपना आम्नाय था। पाणिनि सूत्र ४।३।१२८ पर काशिकावृत्ति में लिखा है—नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव। अर्थात्—नट शब्द से भी धर्म और आम्नाय अर्थ में नाट्य शब्द बनता है। यथा भरत का नाट्य-शास्त्र। पाणिनि के उक्त सूत्रानुसार छन्दोगों-औक्थिकों, याज्ञिकों और बह्वृचों के अपने-अपने आम्नाय थे।

---

१ पृ० २६, ब्रह्मचारी काण्ड, कृत्यकल्पतरु।
२ पृ० ४०६, सरस्वती विलास।

४. आम्नाय=ब्राह्मण—मीमांसा सूत्रों में जैमिनि मुनि आम्नाय पद का बहुधा प्रयोग करता है। उसका एक सूत्र है—आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् १।२।३॥

अर्थात्—(पूर्वपक्षानुसार) आम्नाय अर्थात् ब्राह्मण वचन क्रियापरक हैं।

यहां आम्नाय पद स्पष्ट ही मीमांसा और याज्ञिकों के मूल ग्रन्थ, ब्राह्मण ग्रन्थ का वाची है। वर्तमान सम्पूर्ण ब्राह्मणों में जो अनेक वचन लगभग एक समान उपलब्ध होते हैं, वे मूल ब्राह्मण के वचनों के ही विभिन्न प्रवचन हैं।[1]

५. आम्नाय=चरण—वैदिक ग्रन्थों में शाखाओं का आदि ग्रन्थ आम्नाय था। उसे चरण कहा गया है। इसी अभिप्राय से कात्यायन मुनि[2] ने ऋक्सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में लिखा है—अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके.........

अर्थात्—शैशिरि आदि शाखाओं का मूल शाकलक आम्नाय था।

महाभारत में इस अभिप्राय को बहुत अधिक स्पष्ट किया है। शान्ति पर्व अध्याय २६३ में लिखा है—आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः। अर्थात्—आम्नायों से शाखाएं विस्तृत हुईं।

अध्याय २७४ में भी लिखा है—आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः। अर्थात्—मूल आम्नाय अथवा चरण में वेद अर्थात् शाखाएं प्रतिष्ठित हैं।

यहां स्पष्ट ही वेद शब्द औपचारिक भाव से शाखाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। उन दिनों शाखाओं में मन्त्रों के साथ ब्राह्मण पाठ सम्मिलित हो गए थे। यजुः और आथर्वणों में ऐसी बात अधिक हुई थी। इसी बात को दृष्टि में रखकर भारत-युद्ध कालिक तथा तदुत्तरवर्ती याजुष ग्रन्थकारों ने वेद का लक्षण ही मन्त्र-ब्राह्मणात्मक ग्रन्थ कर दिया।[3]

★

---

१ देखें इसी इतिहास का ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग।

२ यही कात्यायन वाजसनेय प्रातिशाख्य में सूत्र रचता है—'स्याद् वाऽऽम्नायधर्मित्वाच्छन्दसि नियमः' (१।१)। यहां आम्नाय का अर्थ मूल चरण अथवा मूल पार्षद् हो सकता है।

३ मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

अष्टम अध्याय

वेद - श्रुति - प्रणाश

प्राचीन ऐतिह्य कुछ ऐसी घटनाओं का साक्ष्य उपस्थित करता है, जिन से पता चलता है कि संसार के कुछ देशों से कभी-कभी श्रुति का प्रणाश हुआ और भारतवर्ष में भी ऐसा समय आया। इस विषय के वचन आगे लिखे जाते हैं—

(क) वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धा काण्ड ६।५।। में हनुमान का वचन है—

तामहमानयिष्यामि नष्टां वेद-श्रुतिमिव ।

अर्थात्—मैं सीता को उसी प्रकार से ले आऊंगा जैसे नष्ट हुई श्रुति लायी गयी थी। यह वचन दाशरथि राम से पूर्वकाल की किसी घटना का संकेत करता है।

(१) कृतयुग में श्रुति-प्रणाश और हरि (विष्णु) द्वारा उद्धार—

(ख) महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय, ३४८ में भीष्म जी श्वेतद्वीपस्थ नारद और हरि (विष्णु) का एक संवाद सुनाते हैं। उस में विष्णु कहता है—

यदा वेदश्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता पुनः सवेदाः सश्रुतिकाश्च कृताः पूर्वं कृते युगे ।।५६।।

अर्थात्—जब वेद श्रुति नष्ट हुई, मुझसे पुनः लायी गयी, साथ वेद (ब्राह्मणों) के और साथ श्रुति (=मन्त्रों) के (पूर्ण) की गयी। यह बात पहले मैंने कृतयुग में की।

इसी घटना का वर्णन शान्तिपर्व, अध्याय ३५७ में भी किया गया है। यथा—

एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः। जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः ।।

अर्थात्—(मधु और कैटभ दानवों के द्वारा) रसातल को ले जाए गए अखिल वेद को हयशिरोधर हरि ने प्राप्त करके ब्रह्मा को दिया।

२. त्रेता के प्रारम्भ में श्रुति प्रणाश और दत्त द्वारा उद्धार—

(ग) त्रेता के प्रारम्भ में अत्रि कुल में दत्त नामक ऋषि उत्पन्न हुआ। उसमें वैष्णव यश का आभास था। उसने भी कभी वेदों (ब्राह्मणों), विधि-विधानों और यज्ञों के लुप्त होने तथा धर्म की बहुविध क्रियाओं और चातुर्वर्ण्य के संकीर्ण होने पर उनकी पुनः स्थापना की थी। हरिवंश १।४१ में लिखा है—

दत्तात्रेय इति ख्यातः क्षमया परया युतः। तेन नष्टेषु वेदेषु प्रक्रियासु मखेषु च ।।४,५।।

सहयज्ञक्रिया वेदाः प्रत्यानीता हि तेन वै ।···।।७।।

३. सारस्वत द्वारा विस्मृति श्रुति का प्रवचन—

(घ) महाभारत, शल्यपर्व, अध्याय ५२ में वर्णन है कि कभी भयंकर अनावृष्टि और दुर्भिक्ष के कारण सम्पूर्ण ऋषि बिखर गए और उनका वेद पाठ उच्छिन्न हो गया। तब विमर्शानन्तर वे सारस्वत ऋषि के पास पहुंचे। सारस्वत ऋषि सरस्वती के तट पर रहता था। उस से उन्होंने पुनः वेदाभ्यास किया।

इसी घटना की ओर अश्वघोष ने बुद्धचरित में संकेत किया है—

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे। १।४२॥

अश्वघोष अपने सौन्दरनन्द काव्य के सर्ग ७ में स्पष्ट करता है कि यह सारस्वत ऋषि अङ्गिरा पुत्र था।[१] इसी को मनुस्मृति २।१५१ और तांड्य महाब्राह्मण १३।३।२४ तथा जैमिनि ब्राह्मण में शिशु आङ्गिरस कवि कहा है। वही अपने वृद्धों को भी वेद की शिक्षा देने वाला हुआ।

इन घटनाओं का गम्भीर विवेचन आवश्यक है। हम पूरे परिणाम अभी नहीं निकाल सके, पर इस विषय के ऐतिहासिक तथ्यों को एकत्रित करना चाहिए।

★

---

१ तथाङ्गिरा रागपरीतचेतः सरस्वती ब्रह्मसुतः सिषेवे।
सारस्वतो यत्र सुतोऽस्य जज्ञे नष्टस्य वेदस्य पुनः प्रवक्ता॥

नवम अध्याय

अपान्तरतमा और वेदव्यास

१. अपान्तरतमा=प्राचीनगर्भ

(क) आचार्य शंकर अपने वेदान्तसूत्र भाष्य ३।३।३२ में लिखते हैं—

तथा हि—अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुरार्णषिः विष्णुनियोगात् कलिद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः संबभूव इति स्मरन्ति।

अर्थात्—अपान्तरतमा नाम का वेदाचार्य और प्राचीन ऋषि ही कलि द्वापर की सन्धि में विष्णु की आज्ञा से कृष्ण द्वैपायन के रूप में उत्पन्न हुआ।

(ख) इसी संबंध में अहिर्बुध्न्यसंहिता अध्याय ११ में लिखा है—

अथ कालविपर्यासाद् युगभेदसमुद्भवे ॥५०॥
त्रेतादौ सत्वसंकोचाद्रजसि प्रविजृम्भिते।
अपान्तरतमा नाम मुनिर्वाक्संभवो हरेः ॥५३॥
कपिलश्च पुरार्णषिरादिदेवसमुद्भवः।
हिरण्यगर्भो लोकादिरहं पशुपतिः शिवः ॥५४॥
उद्भूतत्र धीरूपमृग्यजुः सामसंकुलम्।
विष्णुसंकल्पसंभूतमेतद् वाच्यायनेरितम् ॥५८॥

अर्थात्—वाक् का पुत्र वाच्यायन अपरनाम अपान्तरतमा था। (कालक्रम के विपर्यय होने से त्रेता युग के आरम्भ में) विष्णु की आज्ञा से अपान्तरतमा, कपिल और हिरण्यगर्भ आदिकों ने क्रमशः ऋग्यजुः सामवेद, सांख्य शास्त्र और योग आदि का विभाग किया।

अहिर्बुध्न्य संहिता शङ्कर से भी बहुत पहले काल की है।

(ग) इस अहिर्बुध्न्य संहिता से भी बहुत पहले के महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३५९ में वैशम्पायन, राजा जनमेजय को कह रहे हैं—

अपान्तरतमा नाम सुतो वाक्संभवः प्रभोः।
भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः ॥३९॥
तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः।
वेदाख्याने श्रुतिः कार्या त्वया मतिमतां वर ॥४०॥

---

१ इस अध्याय की परिवर्धित सामग्री, इसी इतिहास के वेदों के भाष्यकार भाग के पृ० ९-१७ में देखें।

तस्मात्कुरु यथाज्ञप्तं ममैतद्वचनं मुने ।
तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायंभुवेऽन्तरे ॥४१॥
अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते ।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥६६॥

इन श्लोकों का और महाभारत के इस अध्याय के अन्य श्लोकों का अभिप्राय यही है कि अपान्तरतमा ऋषि वेदाचार्य अथवा प्राचीनगर्भ कहा जाता है। उसी ने एक बार पहले वेदों का शाखाविभाग किया था।

अपान्तरतमा का कोई सिद्धान्त ग्रन्थ भी था। योगियाज्ञवल्क्य में उसका उल्लेख मिलता है।[१] सात महान् सिद्धान्त ग्रन्थों में यह अन्यतम है। वही अपान्तरतमा जो एक ओर शाखाओं का आदि प्रवक्ता था, दूसरी ओर लोकभाषा में अपने सिद्धान्त ग्रन्थ का उपदेश करता था। इस ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध पाश्चात्य कल्पित भाषा-मत मान्य नहीं।

इन लेखों से स्पष्ट है कि कृष्ण द्वैपायन व्यास से बहुत पहले भी वेद विभाग विद्यमान था, और सम्भवतः वेदों के कई चरण विद्यमान थे।[२] यही चरण सामग्री व्यास काल तक इधर-उधर विकीर्ण थी। व्यास जी ने उसे पुनः एकत्र कर दिया और प्रत्येक वेद की शाखाएं पृथक्-पृथक् कर दीं। इन शाखाओं के ब्राह्मण भागों में नए प्रवचन भी मिलाए गए।

२. वेदव्यास

महाभारत और वेद-प्रवचन—महाभारत, शन्तिपव, अध्याय २२४ में भीष्म जी व्यास-शुक संवाद सुनाते हैं। उस में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णास्तथैव च ।
संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे ॥ १०४॥

अर्थात्—त्रेता में चरण एकत्र किए गए अथवा पृथक् से एकत्र पढ़े गए, यज्ञ और वर्ण भी ऐसे ही। और द्वापर में आयु के संरोध=ह्रास से शाखा रूप में प्रोक्त हुए।

शान्तिपर्व, अध्याय २४४, संख्या १४, में यही श्लोक पठित है। वहां 'संहिता' के स्थान में 'सकलाः' पाठ है।

३. अट्ठाईस व्यास

पुराणों में वैवस्वत मनु से आरम्भ करके कृष्ण द्वैपायन तक प्रति द्वापर की दृष्टि से २८ व्यास गिनाए हैं।[२] वैवस्वत मनु त्रेता के आरम्भ में था और वेद-प्रवचन द्वापर में माना गया है। अतः त्रेता युगीन वैवस्वत मनु से वेद प्रवचन किस प्रकार आरम्भ हुआ, यह परस्पर विरोधी बात प्रतीत होती है।

---

१ याज्ञवल्क्य स्मृति अपरार्क टीका। तथा ब्रह्माण्ड पुराण, पाद २, अध्याय ३५, श्लोक २४-१२६ ? यहां ३२ व्यासों का नाम लेकर अंत में कहा है कि ये अट्ठाईस व्यास हो चुके हैं।

२ यथा—वायुपुराण अध्याय २३, श्लोक ११४ से आगे।

पुराणों के इस प्रसंग में 'द्वितीये द्वापरे', तृतीये द्वापरे' आदि कहकर 'परिवर्ते पुनः षष्ठे' और 'पर्यायश्च चतुर्दश' आदि से गणना चलायी गयी है। इससे प्रतीत होता है कि वेद-प्रवचन विषयक गणना का अभिप्राय सर्वथा अन्य प्रकार का है। तदनुसार त्रेता के आरम्भ से लेकर द्वापर के अन्त तक २८ बार वेद-प्रवचन माना गया है।

यदि माना जाए कि यहां प्रत्येक चतुर्युगी के द्वापर गिनाए गए हैं, तो भी ठीक नहीं बैठता। कारण—

१. वैवस्वत मनु प्रथम चतुर्युगी के द्वापर में नहीं था, वह त्रेता के आरम्भ में था।

२. ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि चौबीसवें परिवर्त का व्यास माना गया है। वह दाशरथि राम का समकालिक था। राम से भारत युद्ध तक केवल ३५ पीढ़ियां गिनी जाती हैं, अधिक नहीं। ये प्रधान पीढ़ियां नहीं हैं, सम्पूर्ण पीढ़ियां हैं। अतः ऋक्ष को चौबीसवीं चतुर्युगी का मानना इतिहास के विरुद्ध बैठता है।

३. छब्बीसवें परिवर्त का व्यास पराशर और सत्ताईसवें परिवर्त का व्यास जातूकर्ण्य क्रमशः कृष्ण द्वैपायन के पिता और चाचा थे। ये दोनों महात्मा पूर्व चतुर्युगी के नहीं थे।

इन अट्ठाईस वेद-प्रवचनों में अपान्तरतमा का नाम कहीं दिखाई नहीं देता। निश्चय ही वह वैवस्वत मनु से पूर्व स्वायम्भुव-अन्तर में वेद प्रवचन कर चुका था। यही बात पहले लिखी गई है।[1]

४. विशिष्ट-व्यास

वेद-प्रवचन कर्त्ताओं में से निम्नलिखित व्यासों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इनके द्वारा प्रोक्त अनेक चरण कृष्ण द्वैपायन के वेद-प्रवचन की गिनती में सम्मिलित कर लिए गए हैं।

१. **भार्गव उशना काव्य**—तीसरे द्वापर का वेद-प्रवक्ता उशना-काव्य था। असुराचार्य उशना भृगु का पुत्र होने से भार्गव था। अथर्ववेद को भृगु-अंगिरोवेद भी कहा है। अनेक आथर्वण सूक्त उशना-दृष्ट हैं। उशना महान् भिषक् था। आथर्वण सूक्तों में भिषक् शब्द का प्रयोग बहुधा मिलता है।

अथर्व संहितान्तर्गत एक मन्त्र में भिषक् के स्थान में कवि शब्द पठित है। अतः इस पर्याय उक्ति से उशना भी कवि था।

इसी प्राचीन प्रयोग के अनुसार आज भी वैद्य अथवा भिषक् कविराज कहाते हैं।

अवेस्ता और उशना—उशना के मन्त्रों का विकृत रूप अवेस्ता में मिलता है। वहां भी भिषक् शब्द बेशक के विकृत रूप में मिलता है। निश्चय ही वेद का कोई चरण ईरान के ब्राह्मणों द्वारा पढ़ा जाता था। उसी का अत्यन्त परिवर्तित रूप अवेस्ता में बचा है।

जर्मन भाषा मत के अनुसार ईरानी भाषावर्ग को जो भारतीय भाषा वर्ग से पृथक् गिना है वह घोर पक्षपात अथवा बुद्धि की न्यूनता का फल है।

यह उशना अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और धनुर्वेद आदि का कर्त्ता था। एक ओर वह वेद-प्रवचन कर्त्ता था और दूसरी ओर उसने प्राचीन लोकभाषा में अर्थशास्त्र आदि का प्रवचन किया।

---

१ ऊपर पृष्ठ १०२ देखें।

२. सारस्वत—सारस्वत नवम परिवर्त का व्यास था। इस सारस्वत के विषय में पूर्व अध्याय में लिख चुके हैं। इसके पराशर, गार्ग्य, भार्गव और अंगिरा चार शिष्य कहे हैं। इस प्रकरण में अन्य व्यासों के भी कहीं चार पुत्र और कहीं चार शिष्य गिनाए हैं। पुत्र का अभिप्राय है शिष्य। प्रवचन कर्त्ता ऋषि अपने शिष्यों को भी पुत्र कहा करते थे। यथा शिशु सारस्वत=आंगिरस ने वृद्ध ऋषियों को पुत्र कहा।

सारस्वत का वेद प्रवचन—सारस्वत के वेद-प्रवचन में निम्न प्रमाण उपलब्ध होते हैं—

(क) संस्काररत्नमाला में कृष्ण यजुः सम्बन्धी सारस्वत पाठ का वर्णन मिलता है।

(ख) अश्वघोष के बुद्ध चरित तथा सौन्दरनन्द काव्यों में इसके वेद प्रवचन का संकेत है।

(ग) ताण्ड्य ब्राह्मण का निम्नलिखित पाठ इस पक्ष को पूरा स्पष्ट करता है—शिशुर्वा आंगिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् ।१३।३।२४।। अर्थात्—अंगिरा गोत्रोत्पन्न शिशु सारस्वत कवि चरण प्रवचन कर्त्ताओं में अत्यन्त श्रेष्ठ प्रवक्ता था।

मन्त्रकृत का अर्थ मन्त्र रचयिता नहीं, अपितु मन्त्र-प्रवचनकार है।[1]

सारस्वत पाठ—सारस्वत प्रोक्त वेद पाठ याजुष तैत्तिरीय संहिता आदि में पर्याप्त सुरक्षित है।

शैशव साम—शिशु सारस्वत दृष्ट शैशव साम प्रसिद्ध है। उपर्युक्त ताण्ड्य वचन उसी शैशव साम की प्रशंसा में लिखा गया है।

३. भरद्वाज—भरद्वाज १९वें परिवर्त का व्यास था। इसके हिरण्यनाभ कौसल्य, कुथुमि आदि पुत्र थे। यह बार्हस्पत्य भरद्वाज ही आयुर्वेद और अनेक शास्त्रों का प्रवक्ता था। इसलिए ऐतरेय आरण्यक में महीदास ने लिखा है कि वह ऋषियों में अनूचानतम और दीर्घजीवितम था।[2] भारद्वाज, शिक्षा भारद्वाज श्रौत तथा गृह्य का संवन्ध संभवतः भारद्वाज प्रोक्त चरण से था।

४. ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि—ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि चौबीसवें परिवर्त का व्यास था। उसके शालिहोत्र अग्निवेश, युवनाश्व और शरद्वसु पुत्र थे। यही दीर्घजीवी अग्निवेश द्रोण का गुरु था और उसी ने बहुत पूर्व पुनर्वसु आत्रेय के आयुर्वेदोपदेश को तन्त्रबद्ध किया।

इस वाल्मीकि के वेद-प्रवचन अर्थात् इसके चरण के सन्धि तथा उच्चारण संबंधी तीन नियम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में दिये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(क) पकारपूर्वश्च वाल्मीकेः। ५।३६।।

अर्थात्—जिस 'श्' से पूर्व 'प्' हो उसको 'छ्' नहीं होता।

इस नियम के अनुसार तैत्तिरीय संहिता ४।३।२ के अनुष्टुप्छारदी पाठ के स्थान में वाल्मीकि चरण में 'अनुष्टुप् शारदी' पाठ ही था।

(ख) कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः ।९।४।।

---

१ देखें अध्याय बारह आगे।

२ भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीवितमस्तपस्वितम आस १।२।२।।

अर्थात्—जिस विसर्जनीय से परे कवर्ग और पवर्ग हो, उसको सस्थान (=समान स्थान वाला) ऊष्म[1] नहीं होता है। अर्थात् कवर्ग परे रहने पर जिह्वामूलीय, और पवर्ग परे रहने परउपध्मानीय नहीं होता।

इस नियम के अनुसार वाल्मीकि के प्रवचन में 'यः कामयेत' (तै० सं० २।१।२) और 'अग्निः पशुरासीत्.'(तै०सं० ५।७।३६) पाठ था। उस समय के अन्य चरणों में 'यः कामयेत' में यः के विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय और 'अग्नि पशुरासीत्' में विसर्ग के स्थान पर उपध्मानीय का उच्चारण होता था। यह प्रवृत्ति किन देशों में थी। इसका ज्ञान भाषा-शास्त्र के स्पष्टीकरण में बहुत सहायक होगा।

(ग) उदात्तो वाल्मीकेः।। १८।६ ॥

अर्थात्—वाल्मीकि शाखा में 'ओम्' का उच्चारण केवल उदात्तस्वर से होता था। (अन्य आचार्यों के समान अनुदात्त और स्वरित में नहीं।) इसी प्रकार मैत्रायणी प्रातिशाख्य के २।६॥ २।३०॥ ५।३८॥६।४॥ में वाल्मीकि चरण सम्बन्धी नियमों का निर्देश उपलब्ध होता है।

तैत्तिरीय और मैत्रायणी प्रातिशाख्यों के इन नियमों से वाल्मीकि प्रोक्त वेदपाठ का सद्भाव अत्यन्त स्पष्ट है।

वेद-प्रवचन के कारण वाल्मीकि ऋषि था। अतः उसके काव्यमय इतिहास को रामायण में ही बहुधा आर्ष काव्य[2] कहा है। उस रामायण को लंगड़े लूले भाषा नियमों के आधार पर विक्रम से चार पांच सौ वर्ष पूर्व की रचना मानना बुद्धि का दिवाला निकालना है। वाल्मीकि, काव्य का आदि कर्त्ता होते हुए भी, श्लोक का उपज्ञाता नहीं है। इसी भाव को काशिका २।४।२१ का 'वाल्मीकेः श्लोकाः' प्रत्युदाहरण व्यक्त करता है।

रघुकार हरिषेण कालिदास (प्रथम शती विक्रम) रघुवंश में लिखता है—

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः। १४।७० ॥
सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत। संचस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि॥१५।३१॥
वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वरौ॥ १५।६४ ॥

अर्थात्—व्याध द्वारा मारे गये पक्षी को देखकर उत्पन्न हुआ शोक जिसके श्लोकत्व को प्राप्त हो गया। रामवृत्त मन्त्रकृत वाल्मीकि ने रचा था।

५. पराशर—पराशर २६वें परिवर्त का व्यास था। यह पराशर शक्ति का पुत्र और कृष्ण द्वैपायन व्यास का पिता था। उसके उलूक आदि पुत्र थे। भविष्य पुराण, ब्रह्मपर्व १, अ० ४२, श्लोक २८ के अनुसार इसी उलूक की भगिनी उलूकी का पुत्र वैशेषिक शास्त्र का प्रवक्ता महामुनि कणाद था। यह पराशर अग्निवेश का सहपाठी था। इसने आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्र की संहिताएं रची थीं।

६. जातूकर्ण्य—जातूकर्ण्य २७वें परिवर्त का व्यास था। यह कृष्ण द्वैपायन का चाचा था।[3]

---

१ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १।१६ के 'परे षडूष्माणः' सूत्रानुसार क्रमशः क, श, ष, स, ह' ये ६ ऊष्म हैं। इनमें प्रारम्भिक पांच ऊष्म क्रमशः कवर्गादि के सस्थान ऊष्म कहाते हैं।

२ बालकाण्ड पश्चिमोत्तर शाखा ४।४०॥ ५।४॥

३ देखें पृ० १०६ आगे, कृष्ण द्वैपायन व्यास।

इसके अक्षपाद, कणाद, उलूक और वत्स पुत्र थे। यह अक्षपाद न्याय शास्त्र का प्रवचन कर्त्ता था[1] और कणाद वैशेषिक शास्त्र का।

जातूकर्ण्य कृत वेद-प्रवचन के संहिता और पदपाठ सम्बन्धी तीन नियम वाजसनेय प्रातिशाख्य में उल्लिखित हैं तदनुसार—

(क) नर्कारपरो जातूकर्ण्यस्य ॥ ५।१२५ ॥

अर्थात्—जातूकर्ण्य प्रोक्त चरण में यदि हकार से परे ऋकार हो और पूर्व में वर्ग के पंचम वर्ण को छोड़कर कोई प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण हो तो उस हकार को घ, झ, ढ, ध, और भ विकार नहीं होता। यथा – सममुल्लोद्हृतः का अन्य चरण शाखाओं में सममुल्लोद्धृतः (माध्यन्दिन संहिता १७।५८) पाठ है।

(ख) कश्यपस्यनार्षेये जातूकर्ण्यस्य।४।१६०॥

अर्थात्—जातूकर्ण्य की संहिता में ऋषि अर्थ में 'कश्यप' और ऋषि से भिन्न अर्थ में 'कश्शप' शब्द व्यवहृत होता है। अर्थात्—ऋषि से भिन्न अर्थ में यकार से रहित हो जाता है। यथा—'अपामुद्रो मासां कश्शपः'।[2] अन्य शाखाओं में 'अपामुद्रो मासां कश्यपः' (मा० सं० २४।३४) पाठ है।

(ग) पारावतान् अग्निमारुताश्चेति जातूकर्ण्यस्य ॥५।२२॥

अर्थात्—जातूकर्ण्य संहिता के पदपाठ में 'पारावतान्' और 'अग्निमारुताः' पदों में अवग्रह होता है। यथा—'पारावतानिति पाराऽवतान् आग्निमारुता इत्याग्निऽमारुताः' अन्य संहिताओं के पदपाठ में इन पदों में अवग्रह नहीं होता। अर्थात्—'पारावतान्, आग्निमारुताः' ऐसा ही विच्छेद होता है।

वाजसनेय प्रातिशाख्य के उपर्युक्त सूत्रों से जातूकर्ण्य संहिता और उस के पदपाठ की स्थिति स्पष्ट है।

७. कृष्ण द्वैपायन – ब्रह्मा नाम के अगणित ऋषि हो चुके हैं। कृतयुग के आरम्भ में एक ब्रह्मा था। उसका निज नाम हम नहीं जानते। उसका पुत्र मैत्रावरुण वसिष्ठ[3] और वसिष्ठ का पुत्र शक्ति था। पराशर इसी शक्ति का लड़का था। पराशर बड़ा तपस्वी और अलौकिक प्रभाव का ऋषि था। उससे दाशराज की कन्या मत्स्यगन्धा, योजनगन्धा अथवा सत्यवती से कृष्णद्वैपायन जन्मा।

बाल्यकाल और गुरु – कृष्ण द्वैपायन बाल्यकाल से ही विद्वान् था। परन्तु परम्परा के अनुसार उसने विधिवत् गुरुमुख से वेद और अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। इस विषय में वायु पुराण का प्रथमाध्याय देखने योग्य है—

---

१ यदक्षपादः प्रवरो मुनिनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद। न्यायवार्तिक आरम्भ।

२ वाजसनेय प्रातिशाख्य के मुद्रित संस्करणों (कलकत्ता-मद्रास) में कच्छपः छपा है। वह प्रकरणानुसार अशुद्ध प्रतीत होता है।

३ आदि पर्व ९३।५ के अनुसार सम्भवतः एक आपव वसिष्ठ था। भीष्म जी ने बाल्यकाल में अपनी माता गंगा के पास रहते हुए इसी आपव वसिष्ठ से सारे वेद पढ़े थे। आदिपर्व ९४।३२ का यही अभिप्राय प्रतीत होता है। पार्जिटर रचित भारतीय ऐतिह्य के पृ० १९१ के अनुसार आपव वसिष्ठ, भीष्म जी से अनेक पीढ़ी पहले हो चुका था।

ब्रह्म वायुमहेन्द्रेभ्यो नमस्कृत्य समाहितः ।
ऋषीणां च वरिष्ठाय वसिष्ठाय महात्मने ॥९॥
तन्नप्त्रे चातियशसे जातूकर्ण्याय चर्षये ।
वसिष्ठायैव शुचये कृष्णद्वैपायनाय च ॥१०॥
तस्मै भगवते कृत्वा नमो व्यासाय वेधसे ।
पुरुषाय पुराणाय भृगुवाक्यप्रवर्तिने ॥४२॥
मानुषच्छद्मरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
जातमात्रं च यं वेद उपतस्थे ससंग्रहः ॥४३॥[1]
धर्ममेव पुरस्कृत्य जातूकर्ण्यादवाप तम् ।
मतिं मन्थानमाविध्य येनासौ श्रुतिसागरात् ॥४४॥
प्रकाशं जनितो लोके महाभारतचन्द्रमाः ।
वेदद्रुमश्च यं प्राप्य सशाखः समपद्यत ॥४५॥

अर्थात्—वसिष्ठ का पौत्र जातूकर्ण्य था । उसी से व्यास ने वेदाध्ययन किया । वह वेदद्रुम द्वैपायन व्यास के कारण अनेक शाखाओं वाला हुआ ।

भृगु-वाक्यप्रवर्तक—छान्दोग्योपनिषद् ३।४।२ में अथर्वांगिरसों को इतिहास पुराण का प्रकाशित करने वाले लिखा है । भृगु और अथर्वा साथी हैं । अतः भृगुवाक्यप्रवर्तक का अर्थ है इतिहास पुराण की विद्या की परम्परा का चलाने वाला ।

ब्रह्माण्ड पुराण १।१।११ में लिखा है कि व्यास ने जातूकर्ण्य से ही पुराण का पाठ पढ़ा । पाराशर्य=व्यास ने जातूकर्ण्य से विद्या सीखी, यह वैदिक वाङ्मय में भी उल्लिखित है । बृहदारणयक उपनिषद् २।६।३ और ४।६।३ में लिखा है—पाराशर्यो जातूकर्ण्यात् । अर्थात्—पराशर पुत्र व्यास ने जातूकर्ण्य से विद्या सीखी ।

वायुपुराण के पूर्वोद्धृत दशम श्लोक के अनुसार यह जातूकर्ण्य वसिष्ठ का पौत्र था । जतूकर्ण शक्ति का नामान्तर था अथवा उसके भाई का, यह अभी अनुसंधान योग्य है । इसलिए ध्यान रखना चाहिए कि जातूकर्ण्य पराशर का भाई होगा । सहोदर भाई अथवा ताया या चाचा का पुत्र, यह हम अभी नहीं कह सकते । पाणिनि ने गर्गादिगण (४।१।१०५) में पराशर और जतूकर्ण दोनों पद साथ-साथ पढ़े हैं । इससे अनुमान होता है कि ये दोनों परस्पर सम्बन्धी थे ।

आश्रम—व्यास का आश्रम हिमालय की उपत्यका में था । शान्तिपर्व, अध्याय ३३७ में वैशम्पायन कहता है ।

गुरोर्मे ज्ञाननिष्ठस्य हिमवत्पाद आस्थितः ॥१०॥
शुशुभे हिमवत्पादे भूतैर्भूतपतिर्यथा ॥१३॥

पुनः अध्याय ३२७ में लिखा है—

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् । मरौ गिरिवरे रम्ये सिद्धचारणसेविते ॥२०॥

---

१ तुलना करें—महाभारत शान्तिपर्व, ३३२।२२॥ भीष्म जी शुक के विषय में कहते हैं—
उत्पन्नमात्रं तु तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः । उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा ॥

पुन: अध्याय ३३५ में एक श्लोकार्द्ध है—

विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः ॥२६॥

अर्थात्—पर्वतों में श्रेष्ठ, सिद्ध और चारणों से सेवित मेरु पर्वत पर, जो हिमालय की उपत्यका में था, व्यास का आश्रम था।

अन्यत्र इसे ही बदरिकाश्रम या बदर्याश्रम कहा हैं।

सात्वत शास्त्र की जयाख्यसंहिता १।४५ के अनुसार इसी बदर्याश्रम में वास करते हुए शाण्डिल्य ने मृकण्ड, नारद आदिकों को सात्वत शास्त्र का उपदेश किया था। ईश्वर संहिता प्रथमाध्याय के अनुसार यह उपदेश द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ में किया गया था।

वेदव्यास और बनारस—कूर्म पुराण ३४।३२ के अनुसार बनारस की प्रसिद्धि के कारण व्यास जी वहां भी रहते थे। काशी से लगभग तीन कोस पर गंगा के दूसरे तट पर व्यास का स्थान आज भी प्रसिद्ध है।

शिष्य और पुत्र—इसी बदर्य आश्रम में व्यास के चारों शिष्य और अरणीसुत पुत्र शुक रहते थे। चार शिष्यों के नाम सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन और पैल थे। अरणीपुत्र होने से शुक जी को आरणेय भी कहते थे। पिता की आज्ञा से शुक जब किसी विदेह जनक से मिलकर और सांख्यादि ज्ञान सुन कर आश्रम से लौट आया, तो उन दिनों वेद व्यास जी चारों शिष्यों को वेदाध्यन कराया करते थे। इसके कुछ काल उपरान्त व्यास अपने शिष्यों से बोले—**भवन्तो बहुलाः सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम् ॥४४॥**[1]

अर्थात्—तुम्हारे शिष्य प्रशिष्य अनेक हों और तुम्हारे द्वारा वेद का शाखा प्रशाखा रूप में विस्तार हो। तब व्यास-शिष्य बोले—

शैलादस्मान्महीं गन्तुं काङ्क्षितं नो महामुने।
वेदाननेकधा कर्तुं यदि ते रुचितं प्रभो ॥३॥ अध्याय ३१४।

अर्थात्—हे महामुने व्यास जी अब हम इस पर्वत से पृथ्वी पर जाना चाहते हैं और आपकी रुचि हो, तो वेदों की अनेक शाखाएं करना चाहते हैं।

तब वे शिष्य उस पर्वत से पृथ्वी पर उतर कर भारत में फैले। ऐसे समय में नारदजी व्यास-आश्रम में उपस्थित हुए। वे व्यास से बोले—

भो भो महर्षे वासिष्ठ ब्रह्मघोषो न वर्तते।
एको ध्यानपरस्तूर्ष्णीं किमास्ते चिन्तयन्निव ॥१३॥ अध्याय ३१५।

अर्थात्—हे वसिष्ठ-कुलोत्पन्न महर्षे अब आपके आश्रम में वेदपाठ की ध्वनि सुनाई नहीं देती। आप अकेले चिन्तन करते हुए के समान ध्यान मग्न क्यों बैठे हैं।

तब व्यास जी बोले कि हे वेदवादविचक्षण नारद जी—मैं अपने शिष्यों से वियुक्त हो गया हूं। मेरा मन प्रसन्न नहीं। जो मैं अनुष्ठान करूं वह आप कहें। तब नारद ने कहा कि महाराज आप अपने पुत्र सहित ही वेदपाठ किया करें। तब व्यास जी शुक सहित ऐसा करने लगे।

परमर्षि वेद व्यास—भगवान् व्यास परमयोगी, सत्यवादी, तपस्वी तथा भूत, भव्य और भविष्य का ज्ञान रखने वाले थे। अपने परम तप से उन्होंने ये दिव्य गुण प्राप्त किये थे। वे दीर्घजीवी

---

१ महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ३१४।

थे। उनका जन्म भीष्म जी के जन्म से दस, बारह वर्ष पश्चात् हुआ। भारत युद्ध के समय भीष्म जी लगभग १७० वर्ष के थे। तब व्यास जी लगभग १६० वर्ष के होंगे। पुनः युधिष्ठिर राज्य ३६ वर्ष तक रहा। तत्पश्चात् परीक्षित ने २४ वर्ष तक राज्य किया। परीक्षित की मृत्यु के समय व्यास जी लगभग २२० वर्ष के थे। पुनः जनमेजय के सर्पसत्र से वैशम्पायन को महाभारत कथा सुनाने का आदेश कर रहे हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत इस सर्पसत्र के सदस्य होकर वे पुत्र और शिष्यों की सहायता भी कर रहे हैं।[1] इस प्रकार प्रतीत होता है कि व्यास जी की आयु २५० वर्ष से अधिक ही थी। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् इस बात को कदाचित् अभी न समझ सकें, परन्तु इसमें हमारा या ऋषियों का दोष नहीं है।

वेद-शाखा-प्रवचन काल
कलि आरम्भ से लगभग १५० वर्ष पूर्व

कृष्ण द्वैपायन के अस्तित्व पर योरोप का प्रहार—महाभारत संहिता प्राचीन इतिहास का अद्वितीय और विस्तृत भण्डार है। महाभारत प्रमाणित करता है कि आर्य लोग कृतयुग के आरम्भ से भारतवर्ष में रहते थे। महाभारत सिद्ध करता है कि योरोप की सम्पूर्ण वर्तमान जातियां दैत्य और दानवों की सन्तान में हैं। महाभारत सारे योरोप पर कभी संस्कृत का साम्राज्य मानता है। महाभारत साक्ष्य देता है कि जब से वेद था तभी से लोकभाषा संस्कृत भी संसार में प्रचलित थी। महाभारत आर्य राजाओं के वंश क्रम को सुरक्षित रख कर सत्य इतिहास का परिचय देता है। इसलिए यहूदी और ईसाई घोर पक्षपाती लेखकों को महाभारत के विरुद्ध एक चिढ़ थी। इसलिए मोनियर विलियम्स के काल (सन् १८७६) से लेकर विण्टरनिट्स के काल (सन् १९२७) तक अनेक पाश्चात्य लोगों ने महाभारत की ऐतिहासिकता और उसके व्यास रचित होने के विरुद्ध एक आंधी चलाई।[2] पर अंग्रेजी द्वारा संस्कृत पढ़े हुए दो-चार ब्रिटिश सरकार के वेतन भोगी अध्यापकों के अतिरिक्त संस्कृतज्ञों ने उनकी कल्पना की पूरी अवहेलना की।

द्वैपायन व्यास का ऐतिहासिक अस्तित्व भदन्त अश्वघोष सदृश प्रकाण्ड बौद्ध पंडित भी मानते हैं। भारतीय अनवच्छिन्न परम्परा के विपरीत योरोप की ऐसी कल्पनाओं का दो कौड़ी मूल्य भी नहीं है।

युधिष्ठिर राज्य की समाप्ति पर कलि का आरम्भ माना जाता है। युधिष्ठिर राज्य तक द्वापर अथवा उसका २०० वर्ष का सन्धिकाल था। सब शास्त्रों का समान मत है कि शाखा प्रवचन द्वापरान्त में हुआ। अतः शाखा प्रवचन युधिष्ठिर राज्य अथवा उस से कुछ पूर्व हुआ। ईश्वर का धन्यवाद है कि महाभारत आदिपर्व ६६।१४—२२ में शाखा प्रवचन का काल मिलता है। वहां लिखा है कि विचित्रवीर्य की पत्नियों में नियोग करने से पूर्व व्यास जी शाखा-विभाग कर चुके थे। उसके चिरकाल पश्चात् महाभारत की रचना हुई। तब पाण्डव आदि स्वर्ग को चले गए थे। भारत रचना में

---

१ आदिपर्व ४८।७॥ तथा ५४।७॥

२ देखें—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २८४। वहां योरोप्पियन लेखकों के मूल वचन उद्धृत किए गए हैं।

व्यास जी को तीन वर्ष लगे थे। तत्पश्चात् वेदों के समान महाभारत कथा भी व्यास जी ने अपने चारों शिष्यों और शुक्र जी को पढ़ा दी थी। भारत-कथा पढ़ने से पहले व्यास-शिष्य वेद और उनकी शाखाओं का विस्तार कर चुके थे। गुरु के पास भारत कथा पढ़ने वे दूसरी बार गए होंगे। भारत बनने से बहुत पहले ही शुक्र जी जनक से उपदेश लेकर आ गए थे। यदि इस जनक का नाम धर्मध्वज ही माना जाए, तो उसका काल भी निश्चित हो सकता है। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३३५।३३६ में व्यास शिष्यों के वेदाध्ययन मात्र का कथन है, परन्तु अध्याय ३४९ में वेदों के साथ महाभारत पढ़ने का भी उल्लेख है। अतः इन सब बातों को ध्यान में रखकर हम स्थूल रूप से कह सकते हैं कि वेद शाखा प्रवचन कलि से लगभग १५० वर्ष पूर्व हुआ। शाखा प्रवचन के समय व्यास जी लगभग ५० वर्ष के थे।

व्यास और बादरायण—महाभारत आदि में तो व्यास नाम प्रसिद्ध ही है। तैत्तिरीय आरण्यक १।९।३५ में भी व्यास पाराशर्य नाम मिलता है। अनेक लोग ऐसा भी कहते हैं कि बादरायण भी इसी पाराशर्य व्यास का नाम था। पं० अभयकुमार गुह ने यही प्रतिपादन किया है कि ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।[1] दूसरे लोग इसमें सन्देह करते हैं। हमें अभी तक सन्देह के लिए अधिक कारण नहीं मिले।[2] सम्भव है बदर्याश्रम में वास करने के कारण नाम हो।

वेद-प्रवचन विषयक पार्जिटर और प्रधान के मत—पार्जिटर का मत है कि व्यास जी ने शाखा प्रवचन भारत युद्ध से एक चौथाई शती पूर्व समाप्त कर दिया था।[3] सीतानाथ प्रधान का मत है कि व्यास ने खाण्डव दाह के पश्चात् वेद संकलन किया।[4]

अश्वघोष और व्यास—मन्जुश्री मूलकल्प की उपलब्धि के पश्चात् अश्वघोष का काल अब सुनिश्चित ही समझना चाहिए। वह काल विक्रम की पहली शताब्दी से पूर्व का है। उस काल में भी व्यास एक ऐतिहासिक व्यक्ति समझा जाता था और उसका शाखा-प्रवचन करना भी एक ऐतिहासिक सत्य ही था। बुद्धचरित १।४२ में अश्वघोष कहता है।

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवान् शक्तिः॥

अर्थात्—सारस्वत ने नष्ट वेद का पुनः प्रवचन किया, जिसको उसके वृद्ध पूर्वज देख न सके तथा उसी प्रकार जो काम वसिष्ठ और शक्ति न कर सके, वह उन्हीं के वंशज व्यास ने किया।

जब अश्वघोष सदृश विद्वान् व्यास और उसके कुल को जानता है, और व्यास को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मानता है, तो कुछ पश्चिमीय लोगों के कहने मात्र से हम यह नहीं मान सकते कि व्यास कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था ही नहीं।

व्यास और उनके शिष्यों ने जिन शाखाओं का प्रवचन किया, उन शाखाओं का स्वरूप आदि अगले अध्याय में लिखा जाएगा।

★

---

1 Jivātman in the Brahma Sutras, 1921.
२ मत्स्य पुराण १४।१६ में कहा है कि वेदव्यास का वादरायण भी एक नाम था।
३ एनशेण्ट इ्ंडियन हिस्टोरिकल ट्रैडिशन।
४ क्रोनोलोजी आफ एनशेण्ट इण्डिया, पृ० १६८।

दशम अध्याय

चरण, शाखा और अनुशाखा

त्रयी का अनादित्व—शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—**सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् तत् आण्डं समवर्तत।६।१।१।१०॥**

अर्थात्—वह (महान्) इस त्रयी विद्या के साथ 'अपः' में प्रविष्ट हुआ। (आपः में उसने संक्षोभ उत्पन्न किया)। उससे अण्ड उत्पन्न हुआ।

अण्ड के भेदन के समय त्रयी-विद्या व्यक्त रूप में प्रकट हुई। अव्यक्त रूप में त्रयी-विद्या उससे पूर्व भी विद्यमान थी। मानव सृष्टि के उत्पन्न होने पर कृत युग के अन्त में उस त्रयी-विद्या अथवा वेद के चरण बने।

चरण

चरण शब्द सामान्यतया अनेक अर्थों का वाचक है। परन्तु वैदिक वाङ्मय में चरण शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस पारिभाषिक चरण शब्द का प्रयोग निरुक्त १।१७॥ पाणिनीयाष्टक २।४।३॥ महाभाष्य ४।२।१०४,१३४॥ और प्रतिज्ञा परिशिष्ट आदि ग्रन्थों में हुआ है।

शाखा

इसी प्रकार शाखा शब्द भी उत्तर मीमांसा २।४।८॥ परिशिष्टों और महाभाष्य आदि में विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

पारिभाषिक चरण और शाखा शब्दों का अर्थ—चरण और शाखा शब्द अति प्राचीन हैं। मूल में निश्चय ही इन दोनों में भेद रहा होगा, परन्तु काल के अतीत होते जाने पर जन-साधारण में इनका एक ही अर्थ रह गया। जहां तक हमारा विचार है शाखा चरण का अवान्तर विभाग है। जैसे शाकल, वाष्कल, वाजसनेय, चरक आदि चरण हैं। इनकी आगे क्रमशः पांच, चार, पन्द्रह और बारह शाखाएं हैं। इस विचार का पोषक एक पाठ है—

जमदग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकण्वशाखाध्यायिने।[1]

अर्थात्—जमदग्नि प्रवर, वाजसनेय चरण और याजुष काण्व शाखाध्यायी के लिये निरुक्त १।१७॥ में लिखा है—**सर्वचरणानां पार्षदानि** अर्थात् सब चरणों के पार्षद्।

---

१ भोजवर्मा (लगभग १२वीं शताब्दी) का ताम्रपत्र। इन्सक्रिप्शनूज आफ बंगाल, भाग ३, पृष्ठ २१। वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, द्वारा प्रकाशित, सन् १९२९।

कात्यायन कृत वाजसनेय पार्षद् माध्यन्दिन, काण्व आदि सभी पन्द्रह शाखाओं का है। माध्यन्दिनों का पृथक् और वैजवाप का पृथक् पार्षद नहीं है। इसी प्रकार शौनक प्रोक्त ऋक्पार्षद सब शाकल शाखाओं से सम्बन्ध रखता है। अत: प्रतीत होता है कि चरणों का अवान्तर विभाग शाखाएं हैं।

अनुशाखा

विष्णुपुराण ३।४।२५।। में पाठ है – इत्येताः प्रतिशाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम। अर्थात्—इन प्रतिशाखाओं से भी अनुशाखाएं हुईं।

श्रीधर स्वामी इस वचन की व्याख्या करता हुआ लिखता है—अनुशाखा अवान्तरशाखाः। अर्थात्—अनुशाखा अवान्तर शाखाएं कहाती हैं।

विष्णुपुराण के उपर्युक्त वचन में 'प्रतिशाखा' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है।

अनुब्राह्मण शब्द का अर्थ—अनुब्राह्मण शब्द का प्रयोग पाणिनीयाष्टक ४।२।६२ में उपलब्ध होता है। काशिका-कार ने इसका अर्थ लिखा है—ब्राह्मणसदृशोऽयं ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम्। अर्थात्—ब्राह्मण सदृश ग्रन्थ अनुब्राह्मण कहाता है।

ब्राह्मण शब्द का निर्देश करके निदान सूत्र में अनेक वचन उद्धृत हैं। हमारे विचार में अनुशाखा के समान अनुब्राह्मण भी ब्राह्मणों के अवान्तर विभाग के इस विषय पर अधिक विचार ब्राह्मण ग्रन्थों के इतिहास में है। इसी प्रकार अनुकल्प, अनुस्मृति, अनुतंत्र और अनुशासन आदि शब्द द्रष्टव्य हैं।

सौत्र शाखाएं

अनेक शाखाएं इस समय केवल सौत्र शाखाएं हैं। यथा भारद्वाज, सत्याषाढ़ आदि शाखाएं। इन्हें कोई विद्वान् चरणों में नहीं गिनता। न इनकी वर्तमान में स्वतन्त्र संहिता है और न ब्राह्मण। बहुत सम्भव है किसी काल में इनकी स्वतन्त्र शाखाएं थीं।

महाभारत में लिखा है—पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिकम् ॥२॥[2]

अर्थात्—राक्षस ने उस ब्राह्मण से उसका गोत्र, चरण, शाखा और ब्रह्मचर्य पूछा। स्वाध्याय का अर्थ यहां शाखा प्रतीत होता है और चरण से यह पृथक् गिना गया है।

शाखाएं क्या हैं

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये चरण और शाखा क्या हैं। इस विषय में दो मत उपस्थित किये जाते हैं। प्रथम मत है कि शाखाएं वेद के अवयव हैं। सब शाखाएं मिलकर चरण बनता है। सब चरण मिलकर पूरा वेद बनता है। दूसरा मत है कि शाखाएं वेद व्याख्यान हैं। अब इन दोनों मतों की परीक्षा की जाती है।

---

१ पृ. १-८, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, १९७४।
२ अध्याय १७०, शान्तिपर्व, कुम्भघोण संस्करण।

प्रथम मत— शाखाएं वेदावयव हैं—इस मत के पूर्णतया मानने में भारी आपत्ति है। यदि यह मत मान लिया जाए तो निम्नलिखित दोष आते हैं—

१. हम अभी कह चुके हैं कि कई विद्वानों के अनुसार अनेक शाखाएं सौत्र शाखाएं हैं। यदि शाखाएं वेदावयव ही मानी जाएं, तो अनेक सूत्र ग्रन्थ भी वेद बन जाएंगे। यह बात वैदिक विचार के सर्वथा विपरीत है।

२. यह पहले भी अनेक विद्वानों को अभिमत नहीं रहा। नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद् प्राचीन उपनिषद् प्रतीत नहीं होती, पर शंकर आदि आचार्यों से पूर्व ही मान्यदृष्टि से देखी जाती थी। उसमें लिखा है—

ऋग्यजु.सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति ।१।२।।

अर्थात्—ऋग, यजु, साम और अथर्व चार वेद हैं। ये साथ अंगों के और साथ शाखाओं के चार पाद होते हैं। यहां शाखाओं को वेद से पृथक् कर दिया है।

३. बृहज्जाबालोपनिषद् के आठवें ब्राह्मण के पांचवें खण्ड में लिखा है—

य एतद्बृहज्जाबालं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽगिंरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते।

यहां भी शाखा और कल्पादिकों को वेदों से पृथक् गिना है।

४. इसी प्रकार यदि सब शाखाएं वेदावयव ही होतीं तो विश्वरूप बालक्रीडा १।७।। में यह न लिखता—न हि **मैत्रायणीशाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा**। अर्थात्—मैत्रायणी शाखा काठक से बहुत भिन्न नहीं है। सम्भवतः विश्वरूप ने यह भाव पतञ्जलि से ग्रहण किया है। वह लिखता है– **अनुवदते कठः कलापस्य।**[1]

अर्थात्—कठ कलाप का अनुवाद (=उत्तर कालीन प्रवचन) है।

दूसरा मत—शाखाएं वेद-व्याख्यान हैं—इस मत के पोषक अनेक प्रमाण नीचे लिखे जाते है।

१. वायु आदि पुराणों में लिखा है।

सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा ।।५९।। अध्याय ६१

अर्थात्—उस चतुष्पाद एक पुराण की अनेक संहिताएं बनीं। उनमें पाठान्तरों के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं था। यह पाठान्तरों का भेद वैसा ही था जैसा कि वेद शाखाओं में है।

इस वचन से ज्ञात होता है कि मूल पुराण के पाठान्तर जिस प्रकार जान-बूझकर व्याख्यानार्थ ही किए गए थे, वैसे ही वेद संहिताओं के पाठान्तर भी जान-बूझ कर व्याख्यानार्थ ही किए गए। अब इन पाठान्तरों वाली संहिताओं का नाम ही शाखा है।

२. इसी विचार की पुष्टि में पुराणों का दूसरा वचन है—

प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः।। वायु पुराण ६१।७५।।

अर्थात्—प्रजापति=हिरण्यगर्भ से उत्पन्न श्रुति नित्य है, पर शाखाएं उसका विकल्पमात्र हैं।

---

१ २।४।३।।

३. पाणिनीय सूत्र तेन प्रोक्तम् ४।३।१०१।। पर टीका करते हुए काशिका-विवरण पंजिका का कर्ता जिनेन्द्रबुद्धि लिखता है—तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते। अर्थात्—व्याख्या करने अथवा पढ़ाने को प्रवचन कहते हैं। शाखा प्रोक्त हैं। अतः व्याख्यान या अध्यापन के कारण ये ऐसा कहाती हैं।

इसी सूत्र पर महाभाष्यकार पतञ्जलि का भी ऐसा ही मत है—

न हि च्छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि च्छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सानित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति।

अर्थात्—छन्द कृत नहीं है। छन्द नित्य हैं। यद्यपि अर्थ नित्य हैं, पर वर्णानुपूर्वी के भेद से काठक, कालापक, आदि भेद हो गए हैं।

स्पष्ट है कि वर्णानुपूर्वी अनित्य कहने से पतञ्जलि का अभिप्राय शाखाओं के पाठान्तरों से ही है। परन्तु क्योंकि वह अर्थ को नित्य मानता है, अतः पाठान्तर एक ही मूल अर्थ को कहने वाले व्याख्यान हैं।

४. महाभाष्य ४।१।३९।। में आए हुए छन्दसि क्नमेके वचन का यही अर्थ है कि शाखाओं में कई आचार्य असिक्न्यस्योषधे पाठ पढ़ते हैं। अन्य असितास्योषधे पढ़ते हैं। प्रातिशाख्यों में भी यही नियम पढ़ा गया है। इसका अभिप्राय भी यही है कि शाखाओं के अनेक पाठ अनित्य हैं। वेद का मूल पाठ ही नित्य है।

५. याज्ञवल्क्य का निर्णय—भगवान् याज्ञवल्क्य इस विषय में एक निर्णयात्मक सिद्धान्त बतलाते हैं। माध्यन्दिन शतपथ १।४।३।३५।। में उनका प्रवचन है—

तदु हैकेऽन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुष ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवा-ऽनुब्रूयाद्......।

अर्थात्—अमुक यज्ञ में शाखा के पाठ न पढ़े। कुछ लोग ऐसा करते हैं। ऐसा पाठ मानुष है और यज्ञ की सिद्धि का बाधक है। अतः जैसा ऋचा=मूल ऋग्वेद में पाठ है, वैसा पढ़े।

मूल ऋक् पाठ की रक्षा का याज्ञवल्क्य को कैसा ध्यान था। विद्वान् लोग इस पर गम्भीर विचार करें।

६. इस मत को स्पष्ट करने वाला एक और भी प्रमाण है। भारत नाट्यशास्त्र का प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य अभिनवगुप्त लिखता है—

तत्र नाट्यशास्त्रशब्देन चेदिह ग्रन्थस्तद्ग्रन्थस्येदानी करणं न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूपं करणाद्भिन्नम्। कठेन प्रोक्तमिति यथा।

अर्थात् यदि नाट्यशास्त्र शब्द से यहां ग्रन्थ का ग्रहण है, तो उसका कर्तृत्व अभिप्रेत है, प्रवचन नहीं। प्रवचन व्याख्यान होता है और करण से पृथक् होता है, जैसा काठक प्रवचन कठ का व्याख्यान है।

अभिनवगुप्त का यहां स्पष्ट यही अभिप्राय है कि शाखा प्रवचन और व्याख्यान समानार्थक शब्द हैं।

शाखाओं के पाठान्तर

शाखाओं में पाठान्तर करके उनके व्याख्यान के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

क. ऋग्वेद में एक पाठ है— सचिविदं सखायं १०।७१।६। इसी का व्याख्यान तैत्तिरीय आरण्यक में है—सिखिविदं सखायं १।३।१।। २।१५।१।।

ख. यजुर्वेद में एक पाठ है—भ्रातृव्यस्य वधाय १।१८।। इसी का व्याख्यान काण्व संहिता में है—द्विषतो वधाय १।३।।

ग. अगला मन्त्रभाग यजुर्वेद ९।४०।। १०।१८।। काण्व संहिता ११।३।३, तैत्तिरीय संहिता १।८।१०।१२, काठक संहिता १५।७ और मैत्रायणीय संहिता ११।६।९ में क्रमशः उपलब्ध है—

एष वोऽमी राजा	यजुर्वेद
एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा	काण्व संहिता
एष वो भरता राजा	तैत्तिरीय संहिता
एष ते जनते राजा	काठक संहिता
एष ते जनते राजा	मैत्रायणीय संहिता

यजुः पाठ मूल पाठ है।[1] उसके स्थान में प्रत्येक शाखाकार अपने जनपद का स्मरण करता है। काठक और मैत्रायणी शाखाएं गणराज्यों में प्रवचन की जाने लगी थीं। अतः उनका पाठ 'जनते' है। वहां जनता ही सर्व प्रधान थी।

यही पाठान्तर हैं, जो एक प्रकार का व्याख्यान हैं। इन्हीं पाठान्तरों के कारण अनेक शाखाएं बनी हैं। इनके अतिरिक्त कुछ शाखाओं में और विशेषतया ऋग्वेदीय शाखाओं में, दो चार सूक्तों की न्यूनता वा अधिकता दिखाई देती है। यथा शाकलों में कई बालखिल्य सूक्त नहीं हैं, परन्तु बाष्कलों में ये मिलते हैं। मूल ऋग्वेद में ये सारे समाविष्ट हैं।

७. उच्चारण भेद से शाखाभेद—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार अनेक शाखाएं उच्चारण भेद से बनी हैं। एक मन्त्रांश के तीन पाठ उपलब्ध होते हैं। यथा—

सरद् ढ वा अश्वस्य। सरद् ह वा अश्वस्य। सरद् ढ् ह वा अश्वस्य।[2]

लुप्त ऋचाएं

ब्राह्मण उपनिषद् और श्रौत सूत्रों में अनेक ऋचाएं हैं, जो वर्तमान ऋग्वेद में नहीं मिलतीं, परन्तु उनमें से कुछ एक उपलब्ध शाखाओं में मिल जाती हैं। यथा ऐतरेय ब्राह्मण में प्रतीक-पठित अनेक ऋचाएं हैं। उनकी स्थिति किस प्रकार से निर्णीत होगी, यह गम्भीर प्रश्न है।

शाखा विषय अत्यन्त जटिल है। वेदों की अधिकांश शाखाएं उपलब्ध होने पर ही उससे अधिक लिखा जा सकता है। अनुपलब्ध शाखाओं के अन्वेषण का पूर्ण प्रयत्न होना चाहिए।

★

---

१ माध्यन्दिन पाठ क्यों मूल यजुः पाठ है, यह आगे लिखेंगे। २ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, ५।३८-४०।।

एकादश अध्याय

ऋग्वेद अथवा शाकल-संहिता

सम्प्रति जो ग्रन्थ ऋग्वेद के नाम से प्रसिद्ध है उसे प्राय: शाकल वा शाकलक-संहिता कहते हैं। यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से चली आयी है। कात्यायन अपनी ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी के प्रारम्भ में लिखता है—अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके सूक्तप्रतीक ऋक्संख्य[1] ऋषिदैवच्छन्दांस्यनुक्रमिष्यामः।

अर्थात्—शाकलक ऋग्वेदाम्नाय में इत्यादि। तदनुसार आर्यावर्त्तीय पण्डित इसे शाकल-संहिता कहते आये हैं। शाकल शब्द के साथ शाखा शब्द का प्रयोग प्राचीन नहीं प्रत्युत मध्यकालीन है। दक्षिण कालेज पूना के हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रह के संख्या १ में यह प्रयोग आया है। यह हस्तलिपि शारदा अक्षरों में है। इसमें भी ऋग्वेद की समाप्ति पर यह पाठ नहीं है। वहां "ऋग्वेदाम्नाये शाकलके" पाठ है। आरण्यक के अन्त में जहां सारा ग्रन्थ समाप्त होता है, लिखा है—' इति श्री ऋग्वेदं शाकलके शाखायां दशममण्डले ऋग्वेदः खिलसहितस्संहितारण्य सहितश्च सम्पूर्णस्समाप्तम्"। पाश्चात्य लेखक तथा अनेक एतद्देशीय विद्वान् ऋग्वेद को शाकल-शाखा कहते हैं। इन सबके मतानुसार कठ, कालाप, पिप्पलादादि शाखाओं के समान उपलब्ध ऋग्वेद शाकल शाखा का है।

शाकल शाखा का प्रवचनकर्ता शाकल ऋषि था। यथा—

I अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति। १४।५॥ ऐतरेय ब्राह्मण।

II शाकलाद्वा। अष्टाध्यायी ४।३।१२८॥

III पाणिनि से कुछ काल पीछे होने वाले व्याडि ने अष्टाध्यायी की व्याख्या "संग्रह" नामक ग्रन्थ में की है, उसके मंगलाचरण में शाकल और शाकल्य को भिन्न-भिन्न रूप से नमस्कार किया है—नमामि शाकलाचार्यं शाकल्यं स्थविरं तथा।

IV सर्वानुक्रमणी-भाष्य में षड्गुरुशिष्य ने लिखा है—शाकलस्य संहितैका बाष्कलस्य तथापरा।

V आश्वलायन श्रौतसूत्र-भाष्य में लिखा है—शाकलस्य बाष्कलस्य चाम्नायद्वयस्यैतदाश्वलायनसूत्रं नाम प्रयोगशास्त्रमित्यध्येतृप्रसिद्धं संबंधविशेषं द्योतयति॥

---

१ निर्णयसागरादि से प्रकाशित ग्रन्थों में 'संख्या' पाठ छपा है। मद्रास राजकीय पुस्तकालय के प्राय: हस्तलिखित पुस्तकों में भी यही पाठ है। पूना संग्रह के किसी-किसी ग्रन्थ में "संख्य" पाठ है। कात्यायन की शैल्यनुसार चाहिए भी यही।

VI विकृतिवल्ली १।४।। की टीका में भट्टाचार्य गंगाधर लिखता है—

शाकलस्य शतं शिष्या नैष्ठ्य ब्रह्मचारिणः ।।
पञ्च तेषां गृहस्थास्ते धर्मिष्ठाश्च कुटुम्बिनः ।।
शिशिरो वाष्कलः शाङ्खो वातस्यश्चैवाश्वलायनः ।।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखा-भेद-प्रवर्तकाः ।

ऐसे ही श्लोक भागवतादि पुराण ग्रन्थों में आये हैं।

I प्रथम प्रमाण के सम्बन्ध में लेखकों की सम्मति भिन्न-भिन्न है। सायणाचार्य ऐतरेय-ब्राह्मण के भाष्य में लिखता है—शाकलशब्दः सर्पविशेषवाची। शाकलनाम्नोऽहेः सर्पविशेषस्य यथा सर्पणं गमनं तथैवायमग्निष्टोमः।

अर्थात्—शाकल शब्द सर्प-विशेष-वाची है। इसी शब्द पर वैदिक इण्डैक्स में लिखा है—

Śākala in the Aitareya Brāhmaṇa denotes the teaching of Śākalya according to the St. Petersburg Dictionary. But Bohtlingk seems right in taking it as a kind of snake iin that passage.[1]

माधवकृत ऋग्वेदानुक्रमणी में लिखा है—अहेरिव—आद्यन्तयोर्मण्डलयोः समानसंख्यानां सूक्तानां सद्भावात् न ज्ञायते कतम आदिः कतमो वा अन्त इति। ५।८।६।।

स्वामी हरिप्रसाद इस वचन का अर्थ करता है "जैसा इसका उपक्रम वैसा इसका उपसंहार जैसा उपसंहार वैसा उपक्रम, सूर्य के समान शाकल की गति का उपक्रम और उपसंहार एक सा होने से भेद नहीं जाना जाता।"

सायण शाकल का अर्थ सर्प-विशेष करता है। इस स्थल को छोड़कर अन्यत्र यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। प्रतीत होता है अहिः शब्द को देखकर सायण ने सर्पवाची अर्थ कर दिया है। अहिः शब्द मेघ और सर्पादि अर्थों में आता है। उणादि सूत्र आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च ४।१३८।। से पाणिनि मुनि इसे बनाते हैं। अर्वाचीन काल में यह ज़न्द, अज़ि, फारसी, अफ़ि आदि में सर्प अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु निघण्टु में उपर्युक्त अर्थ मेघ १।१० के साथ इसका उदकार्थ १।२।। भी दिया है। मेघार्थ स्वयं वेद से ही सिद्ध है। वृत्रेण यत अहिना बिभ्रत् (ऋ० १०।११३।३।।) अर्थात् आच्छादक मेघ से इत्यादि। आरम्भ में शाकल का अर्थ सर्प नहीं प्रयुक्त हुआ। अतः सायण का अर्थ त्याज्य है।

Bohtlingk ने सायण का अर्थ देखकर ही इधर-उधर हाथ पैर मारे हैं। इसी का समर्थन मैकडानल और कीथ ने किया है। परन्तु सायणवत् यह अर्थ निस्सार ही है। राथ ने शाकल का अर्थ शाकल्य की शिक्षा किया है। यह कुछ ठीक है।

स्वामी हरिप्रसाद ने अहि का अर्थ सूर्य किया है। अर्वाचीन कोशों में यह शब्द अवश्य मिलता है। मोनियर विलियम्स के कोषानुसार सूर्य अर्थ में अहि का प्रयोग कहीं साहित्य में नहीं मिला, हरिप्रसाद शाकल का अर्थ ऋषि विशेष करता है। ऐसा अर्थ करके वह इसी शाकल को शाखा का प्रवचन-कर्ता

---

1 p. 368, Vol II, Macdonell A. A, and Keith A. B.

मानता है। यह अर्थ सत्य नहीं। अन्यत्र महाभाष्य में शाकलस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ऐसा वचन आया है।[1] यहां शाकल का अर्थ शाकल्य की शिक्षा, शिष्य वा सूत्रादि है। यही अर्थ पूर्वोक्त गाथा में आया है। यथा—

स वा ऐषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमस्तं यदस्तुवंस्तस्मादग्निस्तोमस्तमग्निस्तोमं सन्तमग्निष्टोम इत्याचक्षते।

स वा ऐषोऽपूर्वोऽनपरो यज्ञक्रतुर्यथा रथचक्रमनन्तमेवं यदऽग्निष्टोमतस्तस्य यथैव प्रायणं तथोदयनम्। तदेषाभि यज्ञगाथा गीयते। यदस्य पूर्वमपरं तदस्य यद्वस्यापरं तद्वस्य पूर्वम्। अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति यतरत्परस्तादिति।

अर्थात्—वह निश्चय यह अग्नि ही (है) जो अग्निष्टोम (है) उसकी जो स्तुति की, इस कारण अग्निस्तोम। अग्निस्तोम होते हुए अग्निष्टोम, यह कहते हैं।

वह निश्चय यह अपूर्व=आरम्भ रहित, अनपर=अन्तरहित यज्ञक्रतु (है)। जैसे रथचक्र अनन्त (है) ऐसे जो अग्निष्टोम (वह भी अनन्त) है। उसका जैसा ही प्रायण=आरम्भ, वैसा उदयन=अन्त। तो यह यज्ञगाथा अच्छे प्रकार गायी जाती है। जो इसका पूर्व, अपर वही इसका। अथवा जो इसका अपर वही इसका पूर्व। मेघ के समान गति शाकल्य की शिक्षा को नहीं जानते हैं।

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि शाकल कोई ऋषि विशेष सिद्ध नहीं होता।

II (क) शकलाद्वा पर भट्टोजी दीक्षित सिद्धान्त कौमुदी में लिखता है—

"अण् वोक्तेर्थे। पक्षे चरणत्वाद् वुञ्। शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलास्तेषां सङ्घोऽङ्को घोषो वा शाकलः। शाकलकः। लक्षणे क्लीवता।

(ख) काशिका-विवरणपंजिका में जिनेन्द्रबुद्धि (७००-७५०) का लेख है—

वुञोऽपवाद इति। चरणलक्षणस्य शाकलशब्दस्य चरणलक्षणत्वात्। शाकला इति। शाकलस्य शब्दाद् गर्गादियञन्तात् कण्वादिभ्यो गोत्र (४।२।१११) इतिप्रोक्तार्थेऽण्। आपत्यस्य च तद्धितेनातीति (६।४।१५१) यलोपः। शाकल इति स्थिते तदधीते तद्वेदेत्यण् (४।२।५९)। तस्य प्रोक्ताल्लुक (४।२।६४) शाकलाः। तेषां सङ्घः शाकलः शाकलक इति वा।

(ग) मिताक्षरा में अन्नं भट्ट लिखता है—

अस्मादण्वा स्यात्सङ्घादिषु। शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलाः। तेषां सङ्घादिः शाकलः शाकलको वा। चरणत्वात् वुञ्।

(घ) काशिका में जयादित्य का लेख है—

शाकल शब्दात्संघादिषु प्रत्ययार्थविशेषणेषु वाण्प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन्विषये। वुञोपवादः। शाकलेन प्रोक्तमधीयते, शाकलाः तेषां संघः, शाकलः। शाकलकः। शाकलोऽङ्कः। शाकलकोऽङ्कः। शाकलकं लक्षणम्। शाकलकं लक्षणम्। शाकलो घोषः। शाकलको घोषः॥

(ङ) पदमञ्जरी में हरदत्त (११४० ईसा) ने लिखा है —

वुञोपवाद इति। शाकलशब्दस्य चरणशब्दत्वात्, तद्दर्शयति। 'शाकलेन प्रोक्तमिति'॥[2]

---

१ ६।१।१२७।   २ काशी संस्करण।

(च) इस सूत्र पर दयानन्द सरस्वती ने अपने लेख में उपर्युक्त मतों का खण्डन किया है—

शकलात्।५।१। वा। प्राप्तविभाषेयम्। शकल शब्दो गर्गादिषु पठ्यते। तस्माद्यञन्तान्नित्येऽणि प्राप्ते विभाषाऽऽरभ्यते। षष्ठीसमर्थाद्गोत्रप्रत्ययान्ताच्छकल प्रातिप्रदिकाद्विकल्पेनाण्[1] प्रत्ययो भवति। पक्षे च गोत्र चरणादिति वुञ्। शाकल्यस्य संघोऽङ्को लक्षणं घोषो वेति शाकलः शाकलकः। अस्मिन् सूत्रे जयादित्य भट्टोजिदीक्षितादयः कौमुदीकारास्तत् पाठिनश्च वदन्ति। "शाकलाद्वा"। ईदृशं सूत्रं लिखित्वा व्याख्यां कुर्वन्ति। शाकल शब्दात्प्रोक्तेऽर्थेऽण्। शकलेन प्रोक्तमधीयते ते शाकलाः। तेषां संघः अंकः, घोषो वा शाकलः। शाकलकः। पक्षे चरणत्वाद्वुञ्। लक्षणे क्लीवता इति। तदेतत् सर्वमसंगतमेवास्ति। कथम्। यदि शाकलाद्वेति सूत्रं न्याय्यं तर्हि तेषां मते शाकलं प्रातिपदिकं चरणवाचकम्। पक्षे चरणत्वाद्वुञित्युक्तत्वात्। चरणाद्धर्माम्नययोरिति वार्तिकनियमात् संघादिषु तद्धितोत्पत्तिः कथं स्यात्। एतत्तु तेषां कथनं पूर्वापरं विरुध्यते। यदि ते शाकलशब्दं चरणवाचकं न मन्येरन् तर्हि प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यागोत्रत्वात्तद्धितोत्पत्तिः स्यादेव न, गोत्रचरणादित्यधिकारात्। अथास्मिन् विषये महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिमुनिः "इकोऽसवर्णे शाकल्यक्ष्य ह्रस्वश्च," "संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे," "लोपः शाकल्यस्य" इत्यादि सूत्रव्याख्यानावसरे शाकल्यस्येमानि लक्षणानि सूत्राणि शाकलानीति मत्वा शाकलं न प्रसज्यत इत्यादि कथनं बहुषु स्थलेषु करोति। तेन ज्ञायते शाकलाद्वेति सूत्रं नास्ति। यदि शाकल शब्दचरणवाची स्यात्तर्हि शाकलशब्दाद्धर्माम्नाययोरभि धेययो रेवाण् प्रत्ययः स्यात् पुनस्तेषां मते शाकलं सूत्रस्य नाम कथं स्यात्। तस्मात्तेषां शाकलाद्वेत्यस्य व्याख्यानं साद्भिर्वैयाकरणैर्नादरणीयम्। स्त्रीलिङ्गप्रकरणे 'सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्य इत्यत्रोक्तम्। कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते। पूर्वोत्तरौतदन्तादीष्काणौ तत्र प्रयोजनम्॥१२६॥[2]

इस प्रकार शाकल्य के गोत्र में होने वालों को शाकल कहा गया है। शाकल्य के छात्र भी शाकल कहे जाते हैं। सारांश यह है कि शाकल्य का संघ, अंङ्क, लक्षण और घोष शाकल वा शाकलक कहा गया है। अतएव यह सूत्र वा शाकल शब्द चरण वाची न रहा।

(छ) न्यास में लिखा है—शाकलस्य इमे छात्राः शाकलाः।४।१।१८॥

(ज) रामचन्द्र कृत प्रक्रिया कौमुदी की प्रसाद नामक टीका में विट्ठल ने लिखा है—

सङ्घादिषु प्रत्यार्थविशेषणेष्वस्मादण्। चरणलक्षणावुञोपवादः। शाकल्येन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा शाकलाः। तेषां सङ्घादि शाकलः। पक्षे चरणत्वाद्वुन्। शाकलकाः।[3]

(झ) भाष्यकार पतञ्जलि ने भी शाकल्य शब्द पर अपनी सम्मति लिखी है—

१. सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः पर कात्यायन की सम्मति उद्धृत करके निम्न भाष्य किया है।[4] यथा—

लोहितादिषु शाकल्यस्योपसंख्यानम्—लोहितादिषु शाकल्यस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। शाकल्यायनी। यदि पुनरयं शकल शब्दो लोहितादिषु पठ्यते। नैवं शक्यम्। इह हि शाकल्यस्य च्छात्राः शाकलाः कण्वादिभ्यो गोत्रे (४।२।१११) इत्यण्न स्यात्।

---

१ क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते महाभाष्यदामहायनान्ताच्च ४।१॥

२ अप्रकाशित ग्रन्थ से जो अब परोपकारिणी सभा अजमेर में सुरक्षित होना चाहिए।

३ पृष्ठ ७८५, पूर्वार्धं। ४ ४।१।१८॥

यहां पतञ्जलि का अभिप्राय है कि कात्यायन की सम्मति के अनुसार शकल प्रातिपदक से तद्धितसंज्ञक ष्फ प्रत्यय हो जावे। परन्तु शकल शब्द लोहितादिकों में न पढ़ा जाये। जहां यह पढ़ा है अर्थात् कण्व के पश्चात् वहां इसका प्रयोजन यह है कि शाकल्य के छात्र भी शाकल कहे जाते हैं।

२. पुनः अव्ययात्त्यप् (४।२।१०३) पर कात्यायन का वार्तिक तेभ्यष्ठञ्ञ्ठौ (३) देकर भाष्य कार ने अनेक उदाहरण दिये हैं। एक उदाहरण यह है—शाकलं नाम वाहीकीग्रामस्तस्मादुभयं प्राप्नोति। शाकलिकी शाकलिका।

३. (क) दीर्घशाकलप्रतिषेधार्थम्॥ वार्तिक २॥ ६।१।७७॥

(ख) नित्ये च यः शाकल भावसमासे तदर्थमेतद्भगवांश्चकार।६।१।७७॥

(ग) किं चान्यत्प्राप्नोति। शाकलम् ।६।१।१२५॥

(घ) समासे शाकलं न भवति ।६।२।५२॥

(ङ) इदं तर्हि प्रयोजनं दीर्घशाकलप्रतिषेधार्थम्॥ ८।२।१०८॥

पूर्वोक्त पांच स्थलों में शाकल शब्द का प्रयोग शाकल्य की शिक्षा अथवा शाकल्य के सूत्रों के संबंध में आया है और इसका प्रमाण महाभाष्य में ही मिलता है।

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च[1] सूत्र पर पतञ्जलि कात्यायन की सम्मति उद्धृत करता है। यथा—सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधः ॥१॥

सिन्नित्यसमासयोः शाकल्यस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। अयं ते योनिर्ऋत्वियः (ऋ० ३।२९।१०)। प्रजां विन्दाम ऋत्वियाम्। वैयाकरणः सौवश्वः॥ नित्यग्रहणेन नार्थः। सित्समासयोः शाकलं न भवतीत्येव। इदमपि सिद्धं भवति। वाप्यामश्वो वाप्यश्वः। नद्यामातिर्नद्यातिः।

(ञ) इस वचन से स्पष्ट हो जाता है कि शाकल्य की शिक्षाको कात्यायन व पतञ्जलि शाकल शब्द से कहते हैं। इसी पक्ष का समर्थन मध्यम कालीन वैदिक साहित्य में भी मिलता है। सर्वानुक्रमणी पर वृत्ति लिखते हुए षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थदीपिका में लिखता है—तत्राम्नाये सम्यताम्यासयुक्ते खिलरहिते शाकलके। पुनः वह लिखता है—शाकल्योच्चारणं शाकलकम्। यहां पर कात्यायन प्रयुक्त शाकलक का अर्थ षड्गुरुशिष्य ने शाकल्य का उच्चारण किया है।

पाठ-भेद—वेदार्थदीपिका का जो हस्तलेख दक्षिण कालेज पूना के पुस्तकालय में संख्या ३४ में दिया हुआ है उस में यह पाठ है—तत्राम्नाये सम्यगभ्यासयुक्ते खिलरहिते। शाकल्येन दृष्टः। शाकलः शाकल एव शाकलकः।

यद्यपि इन दोनों लेखों में बड़ा अन्तर है और द्वितीय की अपेक्षा प्रथम शुद्ध है तथापि दोनों से किसी शाकल व्यक्ति का विशेष ऋषि होना खण्डित हो जाता है।

(ट) पूर्वोक्त पक्ष के समर्थन में ऋक्प्रातिशाख्य का कर्त्ता शौनक लिखता है—

तन्निमात्रे शाकला दर्शयन्त्याचार्यशास्त्रपरिलोपहेतवः। प्रथम पटल, सूत्र ६४

---

१ ६।१।१२७॥

इस पर टीका करते हुए उवट ने शाकलाः का अर्थ शाकल्य ऋषमतानुसारिणः किया है ।[१] इस सूत्र का अर्थ मैक्समूलर ठीक प्रकार नहीं समझ सका । वह लिखता है—

He mentions (1.65) the Śākalas as observing a certain peculiar pronunciation out of respect for their master, who seems to have sanctioned it in his own rules. Who this master was is difficult to say. But it is most likely the same who (1.52) is called the master, Vedamitra (friend of the Veda), and who (1.233.) is called Śākalyapitā, the father of Śākalya.[2]

इस का अभिप्राय यह है कि शाकल अपने आचार्य की श्रद्धा के कारण एक विचित्र उच्चारण मानते हैं । वह आचार्य कौन था ? यह कहना यद्यपि कठिन है तथापि वह वेदमित्र अर्थात् शाकल्यपिता = शाकल था । यह मैक्समूलर की सम्मति सत्य नहीं क्योंकि पूर्वोक्त और आगामी सब प्रमाणों से सिद्ध है और हो जाएगा कि शाकलों का आचार्य स्वयं शाकल्य ही है ।

(ठ) पूर्वोक्त सूत्र में यह उदाहरण है— न त्वा भीरिव विंदती । ऋ १०।१४६।१।।

मूल, पद-पाठ, और निरुक्त ९।३०।। में विंदती त्रिमात्र पाठ ही है । परन्तु निरुक्त के व्याख्यान में नहीं है । दूसरे आचार्य प्लुतोच्चारण नहीं करते थे । इस का प्रमाण तैत्तिरीय ब्राह्मण २।५।५।६।। में मिलता है । वहां यही मन्त्र ऐसा मिलता है—न त्वा भीरिव विंदती ।

(२) उकारश्चेतिकरणेन् युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन ।[३]

(अर्थ) और अपृक्त उकार इति से युक्त, अनुनासिक और दीर्घ होता है, शाकलमत से । यहां शाकल से अभिप्राय शाकल्य के नियम से है । इस का प्रमाण पाणिनीय सूत्र उञः ऊँ है ।[४] इस में शाकल्य की अनुवृत्ति ऊपर से आती है । (अर्थ) उञ की प्रगृह्य संज्ञा शाकल्य के मत में हो, अनार्ष इति परे होने पर । तथा उञ के स्थान में दीर्घ अनुनासिक ऊँ आदेश हो और वह भी प्रगृह्य हो । उदाहरण—उ इति, ऊँ इति । दूसरों के मत में विति होगा ।

(ड) इसी अभिप्राय के सूत्र शौनक चतुराध्यायिका में भी हैं—उकारस्येतावपृक्तस्य १।७२।।

U is nasalized when standing alone before इति. In the Pada text of the Atharvana as in those of the other Vedas, the particle U is always written ऊँ इति। In this rule its nasality in such a situation is noticed, in the rule next succeeding are taught its long quantity and its exemption from conversion into a semi vowel before the following vowel .

---

१ यद्यपि शौनक प्रदर्शित सब नियम ऋग्वेद में नहीं मिलते, तथापि सम्भव है कि वे आश्वलायन शाखा में मिल जाएं क्योंकि शौनक आश्वलायन का शिष्य था । मैक्समूलर ने भी यही लिखा है— There is not a single manuscript at present existing of the Ṛigveda in which the rules of one Prātiśākhya are uniformally observed, and the same applies to the manuscripts of the other Vedas.
सम्भव है यह नियम शैशिरी में मिलें ।

2 p. 136, History of Sanskrit Literature.

३ पृ० ५०

४ १।१।१७, अष्टाध्यायी ।

The term Apṛkta (अपृक्त) means 'uncombined with any other letter.' It is said also of the particles आ and ओ in rules I.79, IV. 113 : दीर्घं प्रगृह्यश्च ॥७३॥ In the same situation it is also long and प्रगृह्य ।[1]

(ढ) यजुः प्रातिशाख्य में भी यही नियम है उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम् ।[2] इति परे आने पर (सूत्र ६१ से) अपृक्त=अकेला उकार दीर्घ और अनुनासिक हो जाता है।

उकार के संबंध में तैत्तिरीयों का ऐसा नियम नहीं है। यथा -- वाममद्य सवितर्वाममु श्वः ।[3]

इस पर ऋग् तथा यजुः के पदपाठों में ऊँ ऐसा पद बन जाता है, परन्तु तैत्तिरीय शाखा में उ ही रहता है, इसीलिए पाणिनि ने सूत्र १।१।१७ में शाकल्य ग्रहण करके विकल्प किया है।

अनार्ष का अर्थ—प्रायः व्याख्याकारों ने यह ऋषिर्वेदः मान कर अनार्ष का अर्थ अवैदिक किया है। वे लोग ब्राह्मणादि ग्रन्थों को भी वेद मानते हैं। क्योंकि पाणिनि सूत्र १।१।१६ पर जो उदाहरण ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् आरम्भ से दिया जाता है वह ब्राह्मण का ही सम्भव है। यद्यपि अभी तक वैसा पाठ तो नहीं मिला परन्तु ब्रह्मबन्धविती पाठ ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है।[4] अतः जो लोग ब्राह्मण को वेद आर्ष मानते हैं उनके लिए शाकल्य संहिता आर्ष क्यों न होगी ? इस शाकल्य संहिता का आदर बहुत काल से होता आया है। महाभाष्य में लिखा है—

शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत ।.........
शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत् ।

इसका अर्थ है शाकल्य से भले प्रकार की गई संहिता की समाप्ति पर वर्षा हुई।

संहिता में आया हुआ इति पद उनके मतानुसार अवैदिक कैसे होगा ? हमारी समक्ष में जो समाधान आता है उसके अनुसार अन्य बहुस्थलवत् यहां भी आर्ष का अर्थ ऋषि=अनूचान प्रोक्त ही है। प्रतीत होता है कि शाकल्यादि ऋषियों के समय में साधारण जन सम्बोधन में आये वैदिक पदों के आगे इति शब्द प्रयोग में लाकर उन्हें प्रगृह्य माना करते थे। शाकल्य ने उनकी बात स्वीकार कर ली और अपनी संहिता में उन्हीं का प्रकार बता दिया। क्योंकि अन्य सब पदकार शाकल्य के समय के पश्चात् हुए हैं, अतः उन सब ने यह प्रकार स्वीकार कर लिया।

यह भी कहा जा सकता है कि शाकल्य संहिता आर्ष नहीं। यह उच्च स्थान नहीं रखती क्योंकि पतञ्जलि मुनि स्वयं इस संहिता के साथ सुकृतां का प्रयोग करके उसे साधारण ग्रन्थवत् तेन अधिकृत्य कृते ग्रन्थे के अनुसार लिखते है। ब्राह्मण प्रोक्ताधिकार में है। उत्तर यह है कि उनके मतानुसार तो प्रोक्ताधिकार में होता हुआ भी कल्प आर्ष नहीं अर्थात् वेद नहीं।

वेद संहिता में किसी प्रगृह्य की सन्धि नहीं हुई। 'उ' पद कई स्थलों पर प्रगृह्य है और कई स्थलों पर नहीं। यथा—

घृतम्वस्य धाम। ऋग्वेद २।३।११॥; घृतम्वस्य धाम। तैत्तिरीय संहिता १०।१०।२॥

---

1 p. 50. Tr: by Whitney, चौ. सं. सी. १९६२.
२ ४।९४॥
३ ऋग्वेद ६।७१।६। ; यजुर्वेद ८।६॥ तैत्तिरीय संहिता १।४।२३॥ तथा २।२।१२॥
४ ७।२७॥ काठक; संहिता, १०।५।६॥ में ब्रह्मबन्ध इत्यब्रवीत पाठ है।

उ इति के स्थान में ऊम् इति इस लिए है कि यरोनुनासिकेनुनासिको वा से विकल्प हो जाता है।[1] यह बात हरदत्त ने इस स्थल पर पदमंजरी में लिखी है।

(ण) संयुक्तं तु व्यञ्जनं शाकलेन।[2] संयुक्त व्यञ्जन दीर्घ से परे (६।१३) द्वित्व नहीं होता, शाकल विधान से। उदाहरणतया—

आ त्वाहार्षमंतरेधि। ऋग्वेद, १०।१७३।१॥
आ त्वाहार्षमन्तरेधि। तैत्तिरीय संहिता, ४।२।१।४॥
आ त्वाहार्षमन्तरेधि। मैत्रायणी संहिता, २।७।८॥
आ त्वाहार्षमन्तरेधि। अथर्ववेद, ६।८७।१।
आ त्वाऽहार्षमन्तरभूः। यजुर्वेद, १२।११॥

(त) लकार ऊष्मस्वपि शाकलेन।[3] लकार का अभिनिधान (६।१७) होता है, ऊष्मों (श, ष, स, ह) के आने पर भी शाकल मत से। उदाहरणतया—

पदपाठ—न अरायासो न जलहवः।
संहिता—न अरायासः न जलहवः। ऋग्वेद, ८।६१।११॥

अगले कई सूत्रों में भी शाकल शब्द का प्रयोग अनेक ऐसे नियमों में आता है।

(१) असंयुक्तं तु शाकलम्। पृ० १६१, (६००)
(२) सर्वत्रैके करणस्थानभेदे वा शाकलम्। (४०३)
(३) चतुः क्रमस्त्वाचरितात्र शाकलैः। पृ० २६३।११।१६॥
(४) असवर्णस्त्रिप्रभृतिष्वनेकशः स्मरन्ति संख्यानियमेन शाकलम्। ११।२१॥
(५) शाकलाः क्रमे। पृ० २६३ (६७३)

इन सूत्रों के उद्धृत करने का यही प्रयोजन है कि यहां भी शाकल शब्द से शाकल्य के नियमों या उसके मतानुयायियों अर्थात् शिष्यों से अभिप्राय है। प्रथम प्रमाण में उवट ने भी यही अर्थ किया है। इससे हमारा ही मत पुष्ट होता है।

उपर्युल्लिखित शाकल्य के अन्य प्रमाण निम्न हैं—

(१) इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च।
उदात्त पूर्व रूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत ॥१३॥[4]

(अर्थ) ह्रस्व इकार की अवस्था में प्रश्लेषे, क्षैप्र और अभिनिहित संधियों में उदात्त पूर्व और अनुदात्त उत्तर रूप आने पर (एवम्) ऐसे स्वरित करें। उदाहरण—

(१) स्रुचीव घृतम्। ऋ० १०।९१।१५॥ प्रश्लिष्ट सन्धि
(२) योजान्विन्द्र ते हरी। ऋ० १।८२।१॥ क्षैप्र सन्धि

---

१ ८।४।४४।
२ पटल ६।१४, पृष्ठ १५७, पदादि ६।१२॥
३ पटल ६। पृष्ठ १६०, (३९६)
४ पृ. ११७, तृतीय पटल।

(३) तेऽवर्धन्त । ऋ० १।८५।७॥ अभिनिहित सन्धि

(२) नियमं कारणादेके प्रचयस्वर धर्मवत् ।
प्रचयस्वर आचारः शाकल्यान्तरेययोः । प. ३।३२॥ पृ. १२०

(३) सर्वैः प्रथमैः स्पर्शैरुपधीयमानः शकारः ।
शाकल्य पितुर्मतेन छकारमापद्यते ॥४॥ प. ४।४। पृ. १२७ (२२३)

(अर्थ) सब प्रथम स्पर्शों से उपधीयमान शकार शाकल्य के पिता के मत से छकार को प्राप्त होता है। यथा—

(१) शृंगेव नः प्रथमागंतमर्वाक् शफाविव । ऋ० २।३९।३ संहिता
शृंगाऽइव नः प्रथमा गन्तम् अर्वाक् शफौऽइव । ऋ० २।३९।३ पदपाठ

(२) विपाट् छुतुद्री । ऋ० ३।३।१ विऽपाट् शुतुद्री ।

(३) तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमं । ऋ० ३।३५।६॥

उवट का उद्धृत यह (शश्वत्तमं) पाठ किसी सम्प्राप्य शाखा में नहीं मिलता ।

(४) वर्धनेव वज्रिञ्छ्नथिह्यमित्रान् । ऋ० १।६३।५॥

यहां छकार है और यह मन्त्र केवल ऋग्वेद में ही है । मूल ऋग्वेद में शाकल्य के पिता (शकल) के अनुसार पाठ है ।

(५) न शाकल्यस्य ॥१३॥ पटल ४।१३ पृ. १३०

(अर्थ) शाकल्य के मत में छकार नहीं होता । यथा—घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि । ऋ० १।६३।५॥ तच्छंयोः । ऋ. १०।१९१।५॥

(६) समापाद्यं नाम वदंति षत्वं तथा णत्वं सामवशांश्च संधीन् ।
उपाचारं लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्यलिशाकल्यगार्ग्याः ॥३१॥ पटल १३, पृ० ३०८

(७) यजुः प्रातिशाख्य में शाकल्य—अविकारं शाकल्यः शषसेषु ॥१०॥ अध्याय ३ परभूत श, ष, स, में संहिता' में शाकल्य विसर्जनीय के विकार को नहीं मानता । यथा—

आशुः शिशानः । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद
अदितिः षोडषाक्षरेण ।
देवो वः सविता । यजुर्वेद १।१॥

(८) निरुक्त में शाकल्य—'वने न वायो न्यधायि चाकन् । ऋ. १०।२९।१॥ इस पर निरुक्त ६।२८ में लिखा है—वन इव वायो वेः पुत्रश्चायन्निति वा कामयमान इति वा । वेति च य इति च चकार शाकल्यः उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः ।

अर्थात्—शाकल्य ने वायो का जो वा, यः पदपाठ बनाया है वह युक्त नहीं ।

यह मन्त्र अथर्ववेद का २०।७६।१। है । वहां भी पदपाठ में वा । यः ही लिखा है ।

(९) लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९॥ सर्वत्र शाकल्यस्य ८।४।५०॥

(अर्थ) 'जो अवर्ग से परे और अश् प्रत्याहार के पूर्व यकार वकार हो तो उनका विकल्प करके लोप होता है, शाकल्य आचार्य के मत में ।

जहां-जहां द्विवंचन कह आये हैं वहां-वहां शाकल्य आचार्य के मत से नहीं होना चाहिये।

(१०) कार्तकौजपादयश्च। अष्टाध्यायी ६।२।३७॥

इस सूत्र पर जो गण है उस में शाकलशुनकाः तथा शाकलसणकाः दो गण दिये हैं। यहां भी शाकल का अर्थ शाकल्य के शिष्यों से है।

पूर्वोक्त प्रातिशाख्यों की तुलना से स्पष्ट है कि यह शाकल्य सबसे प्रथम पदपाठकार प्रतीत होता है, क्योंकि इस के नियम प्रायः दूसरे पदकारों ने ले लिए हैं।

पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों में भी शाकल शब्द शाकल्य के नियम का द्योतक है। शाकल्य के नियम ऋग्वेद में मिल जाते हैं। एक स्थल पर शाकल्य के पिता का नियम भी ऋग्वेद प्रातिशाख्य में विद्यमान है। परिणाम यह निकलता है कि ऋग्वेद पहले वर्तमान था, जब शाकल्य ने इसका पदपाठ करके अपनी संहिता बनाई तो ऋग्वेद पर उसकी छाप होने से इसे शाकल वा शाकलक कहा गया। शाकल्य के पिता का मत भी ऋग्वेद में मिल जाने से सिद्ध है कि जहां मूलवेद में शाकल्य के नियम प्रयुक्त थे, वहां अन्य नियम भी प्रयुक्त हैं। अपेक्षतः शाकल्य के नियम अधिक प्रयुक्त हैं।

शाकल्य कितने हुए हैं

शाकल्य और शाकल का सम्बन्ध जानने के अनन्तर यह जानना आवश्यक है कि शाकल्य कितने हुए हैं?

स्थविर शाकल्य

शाकल्य के अतिरिक्त एक स्थविर शाकल्य का उल्लेख भी मिलता है। इसके सम्बन्ध में ऐतरेय आरण्यक के अनुवाद में कीथ लिखता है[1]—

Geldner considers that Śākalya must be identical with Vidagdha Śākalya mentioned in the Śatapatha Brāhmaṇa XI.6.3, XIV.6.9 (see Weber, Indian Studies, IX.277 sq, Indian Literature, p.33) and identified with the maker of the Padapāṭha by the Vāyu Purāṇa, LX, 58...........I would lay stress on the fact that in the Āraṇyaka he is Sthavira Śākalya,[2] (a) in the Brāhmaṇa Vidagdha. These names are too distinct to permit of identification. The Śākalya of the Prātiśākhya is likewise Sthavira and must be the same as the man here (b)[3].

मैकडालन और कीथ का भी ऐसा ही लेख है।[4]

---

1 p. 240

2 It is true that Sthavira does not occur in III.1.2. Śākalya of this passage is not different from that mentioned in III.2.1.6. as considered by Weber in his History of Indian Literature, p. 50.

3 See also pp. 7 ff, Rigveda Prātiśākhya, Max Muller.

4 p. 368, Vol. II, Vedic Index.

"शाकल्य descendant of शाकल is the patronymic (गोत्र नाम, अपत्य वाचक) of Vidagdha in the ऐतरेय and शाङ्खायन आरण्यक.

नामविशेष के साथ स्थविर का प्रयोग—(१) हन्त पूर्वेषामाचार्यं स्थविरं जातूकर्ण्यं पृच्छामीति ।[1] तं ह पप्रच्छ ।

(२) प्राच्यपञ्चाल उपधानिभोदयाः शाकल्यस्य स्थविरस्य ।[2]

स्थविर शब्दवत् युवन् शब्द भी नामों के साथ लगता है ।

कौशिक सूत्र ६।११ में युवा कौशिक नाम आता है और यह कौशिक से भिन्न व्यक्ति का नाम है क्योंकि ६।१० में पूर्वया कुर्वीत विधि में कौशिक नाम आ चुका है । और युवा कौशिक की सम्मति अन्यतरया कुर्वीत है ।

विदग्ध शाकल्य

शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में याज्ञवल्क्य तथा विदग्ध शाकल्य का सम्वाद वर्णित है । शाकल्य, देवमित्र शाकल्य और विदग्ध शाकल्य तीनों एक ही व्यक्ति हैं ।[3] पुराने ग्रन्थों में स्थविर और युवन् विशेषण देकर भिन्न-भिन्न व्यक्ति कहे गये हैं । यह पूर्वोद्धृत प्रमाणों से ज्ञात हो चुका है, अतः शाकल्य और स्थविर शाकल्य के भिन्न-भिन्न मानने में कोई दोष नहीं ।[4]

III नमामि शाकलाचार्यं शाकल्यं स्थविरं तथा । यह पाठ विवादास्पद है । यथा—

सर्वज्ञन्तं जगत्सेतुं परमात्मानमीश्वरम् ।......तं सर्वज्ञं
वन्दे नारायणं देवं निरवद्यं निरञ्जनम् ॥
नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वन्दे महानिधिम् ।
मुनीन्द्रं सर्ववेदज्ञं ब्रह्मज्ञं लोकविश्रुतम । . .. वेदज्ञं
नमामि शौनकाचार्यं शाकल्यं स्थविरन्तथा ।......शाकलाचार्यं
ब्रह्मविद्या गुरुं श्रेष्ठं भारद्वाजं बृहस्पतिम् ॥
शैशिरीये समाम्नाये व्यालिनैव महात्मना । ......महर्षिणा
जटाद्या विकृतीरष्टौ वक्ष्यन्ते नातिविस्तरम् ॥

उपर्युक्त श्लोक विकृतिवल्ली ग्रन्थ में हैं । ये श्लोक मद्रास गवर्नमेंण्ट पुस्तकालय के सूची के संख्या ६५८ के नीचे उद्धृत किये गये हैं । यह ग्रन्थ सत्यव्रत सामश्रमी ने छपवाया भी है । वहां जो पाठ मिलते हैं वे उपर ही पाठभेद में दे दिये गये हैं । इनमें शाकल का अर्थ गंगाधर भट्टाचार्य टीकाकार ने ऐसे किया है—

शाकलाचार्यं नमामि, शकल एव शाकलः स्वार्थेऽण प्रत्ययः, स चासावाचार्यश्चेति । पृ० ३

---

१ २६।५।। कौषीतकि ब्राह्मण ।

२ पटल २।८१ ऋक् प्रातिशाख्य ।

३ देखें पृ० १५४, वै. वा. इ., दूसरा भाग १९७६ ।

४ मूल लेखक का यह मत अधिक अन्वेषण के पश्चात् बदल गया था और देवमित्र शाकल्य, विदग्ध शाकल्य, स्थविर शाकल्य तथा शाकल्य एक ही व्यक्ति हैं ।

दक्षिण कालेज पूना के नवीन सूची पत्र संख्या ५४ में लिखा है—On page 40, beside, begins a different work forming rather a supplement to the Prātiśākhya with these Verses :—

ॐ तं सर्वज्ञजगत्सेतुं परमात्मानमीश्वरं ।
वन्दे नारायणं देवं निरवद्यं निरंजनं ॥१॥
नत्वादौ शाकलाचार्यं शाकल्यस्थंचिरं (स्थविरं ?) तथा ।
ब्रह्मविद्या गुरुं श्रेष्ठं भारद्वाजं बृहस्पतिं ॥२॥
शैशिरीये समाम्नाये व्याडिनैव महर्षिणा ।
जटाद्या विकृतीरष्टौ लक्ष्यंते नातिविस्तरं ॥३॥

The work ends thus :

पदद्वयमनुक्रम्य व्युत्क्रमात्क्रमसंधिवत् ॥
स्वरं लक्षण संयुक्ता सा जटेत्यभिधीयते ॥१९॥ इति जटापटलं समाप्तं ॥

यह ग्रन्थ निश्चय ही विकृतिवल्ली है । मुद्रित ग्रन्थ में २३ श्लोक हैं और इसमें १९ हैं । इस का अन्तिम अर्थात् उन्नीसवां श्लोक वहां २२ वां है । इसके आरम्भ में नत्वादौ शौनकाचार्यं वाला श्लोक लुप्त है । इस छोटी सी पुस्तक में भी अत्यन्त पाठभेद हो गया है । इस पुस्तक के व्याडिर चित होने में भी सन्देह है, क्योंकि पूर्वोक्त श्लोकों में व्याडिनैव महर्षिणा पद में एव और महर्षि शब्द ध्यान देने योग्य हैं । एव शब्द पर गंगाधर टीकाकार ने लिखा है—

शौनकाचार्याणं मते जटाद्यष्टविकृति लक्षणस्य व्याडिप्रणीतस्यवेष्टत्वान्न माण्डूकेय प्रोक्तस्य जटालक्षणस्येत्येवाभिप्रायार्थं एवकारः ।

अर्थात्—माण्डूकेय प्रोक्तलक्षणादि से भिन्नता दिखाने के लिए यह एवकार है । परन्तु स्वयं व्याडि को यह कहने की आवश्यकता न थी पुनः स्वनाम के साथ महर्षि पद का प्रयोग इसे अन्य रचित बताता है । सम्भवतः व्याडि प्रोक्त कोई विकृति-लक्षण-संबंधी ग्रन्थ के विकृत यह श्लोक रह गये हैं । यह पुस्तक स्वयं व्याडि रचित नहीं है ।

नमामि शौनकाचार्यं शाकल्यं स्थविरं तथा, यदि ऐसा पाठ न भी हो तो शाकलाचार्यं वाला पाठ नवीन काल का है और दूसरे प्रमाणों के सम्मुख इसका कोई आदर नहीं ।

IV सर्वानुक्रमणी-भाष्य में षड्गुरु शिष्य ने लिखा है—शाकलस्य संहितैका बाष्कलस्य तथापरा । पूर्वपक्षी इस वचन से ऋग्वेद की दो शाखाएं मानता है, अर्थात् शाकल और बाष्कल शाखा । यह वाक्य बहुत पुराना नहीं अर्थात् उसी काल का है जब कि ऋग्वेद को शाकल-प्रोक्त भी मानने लग गए थे ।

इसी क्रम में आश्वलायन-गृह्यसूत्र का भी एक वचन विचारणीय है । सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन में चरणव्यूह के टीकाकार महीदास के प्रमाण से आश्वलायन-गृह्यसूत्र ३।४ में आए हुये कुछ ऋषियों के नाम तीन गणों में बांट दिये हैं ।[१] यथा—

१ पृ० १३१, कलकत्ता १९०६ ।

माण्डूकेय गण—जानन्ति, बाहवि, गार्ग्य, गौतम, शाकल्य, बाभ्रव्य, माण्डव्य।
शांखायन गण—कहोल, कौषीतक, महाकौषीतक, पैङ्ग्य, महापैङ्ग्य, सुयज्ञ।
आश्वलायन गण—ऐतरेय, शाकल, बाष्कल, सुजातवक्त्र, औदवाहि, महौदवाहि, सौजामि, शौनक।

उपर्युक्त तीन गणों में बाईस ऋषि गिने गये हैं। तृतीय गण में शाकल वर्णित है। क्या यही शाकल आधुनिक शाकल-संहिता का प्रवचनकर्त्ता हुआ है। प्रथम गण में शाकल्य का नाम आ चुका है। पूर्वोद्धृत कई श्लोकों से ज्ञात है कि शाकल्य के शिष्य ही शांखायन और आवश्लायन थे। इन्हीं दोनों का सम्बन्ध द्वितीय और तृतीय गणों से है। शिष्य गुरु से निश्चय ही उत्तर-कालीन हैं। उन्हीं शिष्यों और प्रशिष्यों की परम्परा में शाकल एक है। यह शाकल कदापि शाकल-संहिता का प्रवचनकर्त्ता नहीं हो सकता। शाकल-संहिता (शाकल्य के पदपाठ वाली संहिता) तो बहुत पूर्व बन चुकी थी, तथा उसका क्रमपाठ भी हो चुका था। ऋग्वेद के क्रमपाठ का कर्त्ता बभ्रुपुत्र सुप्रसिद्ध है—इति प्र बभ्रव्य उवाच च क्रमम्।[1] अर्थात् बाभ्रव्य ने क्रमसंहिता का प्रवचन किया। यह बाभ्रव्य पूर्वोक्त प्रमाण में प्रथमगणीय और शाकल्य के निकटवर्त्ती है। अतएव तृतीय गणस्थ ऋषियों से बहुत पहले शाकल्य था। उसकी संहिता पदपाठ रूप में थी। उसी के शिष्यों प्रशिष्यों में कोई व्यक्ति उसका बहुत प्रचार करने वाला हुआ है जिसका गुणनाम शाकल हुआ वही तृतीय गण में गिना गया है। पाठक इतने लेख से निश्चय कर चुके होंगे कि यह शाकल, शाकल-संहिता का प्रवचनकर्त्ता कभी नहीं हो सकता। वह गौण नामधारी तो अन्य ही था। देखो उसका समीपवर्त्ती शौनक अनुवाकानुक्रमणी में क्या कहता है—

ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायां यथाक्रमम्। प्रमाणामनुवाकानां सूक्तैः शृणुत शाकलाः।६।

इन्हीं शाकलों में से एक व्यक्ति विशेष शाकल बना। आश्वलायन गृह्यसूत्र के विषय में एक ही बात विस्मय में डालती है। अर्थात् उसके साथी शांखायन के गृह्यसूत्र ६।१ में दो चार और नामों के साथ शाकल नाम का भी अभाव है।

v आश्वालयन श्रौतसूत्र १।१।१ के भाष्य में गार्ग्यगारायण ने जो शाकलस्य बाष्कलस्य चाम्नायद्वयस्य लिखा है, यह उसने पूर्वप्रदर्शित बातों पर ध्यान न देकर ही लिखा है। अन्य नवीन लोगों के समान उसका मत भी प्रामाणिक वा सम्मान योग्य नहीं है।

vi विकृतिवल्ली की टीका में गंगाधर का प्रमाण—

शाकलस्य' शतं शिष्या नैष्ठिक ब्रह्मचारिणः।
पञ्च तेषां गृहस्थास्ते धर्मिष्ठाश्च कुटुम्बिनः ॥१॥
शिशिरो बाष्कलः शांखो वातस्यश्चैवाश्वलायनः।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेद प्रवर्तकाः ॥२॥

उसने इसका अर्थ किया है कि शाकल ऋषि के एक सौ शिष्य थे। परन्तु यह श्लोक इस रूप में कहीं नहीं मिलता। विकृतिवल्ली का जो संस्करण गंगाधर की टीका सहित सत्यव्रत द्वारा सम्पादित हुआ है उसमें शाकलस्य के स्थान में शाकल्यस्य, शिशिरः के स्थान में शैशिरः, शांख के स्थान पर साङ्ख्या पाठ मिलता है। उस ग्रन्थ में इसके आगे एक श्लोक ऐसा है—

---

१ ११।६५॥ ऋक् प्रातिशाख्य।

ऋग्वेदादि महाशाखा कल्पाख्या वेतरा मता । शाकलाः शौनकाः सर्वे कल्पं शाखां प्रचक्षते ।।३।।

सत्यव्रत ने ऐतरेयालोचन के प्रथम श्लोक में शाकल्य पाठ ही लिखा है ।[1] मद्रास की सूची में भी यही श्लोक उद्धृत हैं ।[2] वहां भी "शाकल्य" और "शैशिरः" पाठ ही आया है । यद्यपि यह श्लोक पुराणादि में आये हैं और अधिक प्रामाणिक नहीं, तथापि यहां तो शाकल्य का नाम ही मिलता है । इस नाम से भी हमारा पूर्वोक्त कथन ही सिद्ध होता है, अर्थात् शाकल-संहिता शाकल्य के पदपाठ से कहायी जाने लगी थी, शाकल के प्रवचन से नहीं ।

१. ब्रह्माण्ड पुराण का जो उद्धरण अष्टविकृतिविवृतिः में मधुसूदन सरस्वती ने दिया है वहां शाकल्यस्य पाठ है, पृ० ८ ।

२. संख्या ९५८, पृ. ६९४, द्वितीय भाग, वैदिक साहित्य, १९०४ ।

द्वादश अध्याय

अपौरुषेय ऋग्वेद

पूर्व-पक्ष—ऋग्वेद किसी एक व्यक्ति का बनाया नहीं है। भिन्न-भिन्न काल में पुराने गायकों ने कई भाव कविता रूप में कहे थे, वही पिछले काल में एक ग्रन्थ के रूप में संगृहीत हुए हैं। उन्हें ही ऋग्वेद नाम दिया गया। इस का प्रमाण उन्हीं कवियों के अपने शब्दों में मिलता है। उन का उत्तर-वर्ती आर्य इतिहास भी इसी बात की साक्षी देता है। ऐसी धारणा के प्रमाण क्रमशः यह हैं—

मन्त्रकृत शब्द (१) ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन्गिरः। ऋ० ६।११४।२॥

(२) शिशुर्वा आंगिरसो मन्त्रकृतां मन्त्र कृदासीत्।
सपितृन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत॥ ताण्ड्य ब्राह्मण, १३।३।२४॥

(३) देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः। ते ह पाप्मानं नापजघ्निरे तान्होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्। ऐतरेय ब्राह्मण, ६।१॥

(४) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादु-र्माहमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम्। तैत्तिरीय आरण्यक, ४।१।१॥

(५) मन्त्रकृतो वृणीते। 'यर्षिं मन्त्रकृतो वृणीत'—इति विज्ञायते। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, २४।५।६॥

(६) अथ येषामु ह मन्त्रकृतो न स्युः स पुरोहितप्रवरास्ते प्रवृणीरन्। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, २४।१०।१३॥

(७) विज्ञायते च। ऋषेर्ऋषेर्वा एता निर्मिता यत्सामिधेन्यः। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, २४।११।१०॥

(८) इत ऊर्ध्वान्मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते। "यर्षिं मन्त्रकृतो वृणीत" इति विज्ञायते। सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र, २।१।३॥

(९) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, ८।१४॥

(१०) दक्षिणतः उदङ्मुखो मन्त्रकारः। मानव गृह्य सूत्र, १।८।२॥

(११) दक्षिणतस्तिष्ठन्मन्त्रवान् ब्राह्मण आचार्यायोदकांजलि पूरयेत्। खादिर गृ० सू० २।४।१०॥

(१२) उत्तरेणाग्निमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् तर्पयामि। बौधायन गृह्य सूत्र, पृ० ८४॥

(१३) यावन्तो वा मन्त्रकृतः । कात्यायन श्रौत सूत्र, ३।२।८ ।। पृष्ठ १९२ तथा पृष्ठ २११।
(१४) मन्त्रकृतस्य । जैमिनी गृह्य सूत्र, पृष्ठ २७ ।।
(१५) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः । शाङ्खायन आरण्यक, पृष्ठ २६ ।
(१६) श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसर्षीणां मन्त्रकृतां बभूव । काठक गृ०सू० ४१।११।।
(१७) बौधायन श्रौत सूत्र के प्रायश्चित्त सूत्र की प्रथम पंक्ति में यही शब्द प्रयुक्त है ।
(१८) तैत्तिरीय संहिता, २।५।७।३।। में भी ऐसा ही प्रमाण है ।
(१९) एक अन्य ऐसा ही प्रमाण सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र, ३।१।। पृष्ठ २७७ में है ।
(२०) सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः । अष्टाध्यायी, ३।२।८९ । इस सूत्र में उदाहरण हैं सुकृत । कर्मकृत । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यकृत् । पूर्वोद्धृत उद्धरणों के आधार पर मैकडानल और कीथ ने लिखा है—

Mantra-kṛt in the Rigveda and the Brāhmaṇas denotes a poet as a "maker of Mantras."[1]

उत्तर पक्ष—उपर्युक्त मन्त्रकृत् शब्द के प्रयोग को देखते ही वेदादि शास्त्रों के साधारण पाठक बल पूर्वक कहते हैं कि पुराने काल में आर्य लोग मन्त्रों को बनाया करते थे। ऐसा आग्रह निर्मूल है।

सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः का अर्थ है कि स्वादिक उपपद हों तो कृञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय हो । **मन्त्रंकृतवान्, मन्त्रकृत । भूते** से भूतकाल की अनुवृत्ति इस सूत्र में भी चली आती है इस का प्रयोजन यह है कि स्वादिक उपपद हों तो भूतकाल ही में क्विप् हो अन्यकाल में नहीं। अर्थात् **मन्त्रङ् करोति करिष्यति वा**, में क्विप् नहीं हुआ ।

साधारण रूप से तो **मन्त्रकृत** का अर्थ है जिसने **मन्त्र=विचार** को किया हो । पर पूर्वपक्षी कहता है कि ऋग्वेद और ब्राह्मणों में मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्रों को बनाने वाला है । यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों वाला अर्थ ही श्रौतसूत्रों में भी आया है । पूर्वोक्त आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के पांचवे प्रमाण में—**इति विज्ञायते** कह कर ब्राह्मण का पाठ उद्धृत किया गया है। वहां मन्त्रकृत शब्द आया है जिसे श्रौतसूत्रकार ने उसी अर्थ में प्रयुक्त किया है ।

श्रौतसूत्रों के बनने से बहुत पूर्व ही सब मंत्र विद्यमान थे। मैक्समूलर के अनुसार मंत्रकाल व्यतीत हो चुका था । अतः मंत्रकृत् के पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तुत अर्थ के अनुसार सूत्रकाल में भी मंत्रकृत् ऋषि हो जायेंगे। पांचवें, छठे तथा आठवें उद्धरण में यज्ञों में उनके वरण का उल्लेख है। अतएव इस शब्द का यह अर्थ इन स्थलों में सुसंगत नहीं ।

सायण मत की भूल—नम ऋषिभ्यः........आदि तैत्तिरीयारण्यक चतुर्थ उद्धरण का सायण ने अर्थ किया है—

"मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्रं कुर्वन्तीति मन्त्रकृतः ः यद्यप्यपौरुषेयेवेदे कर्तारो न सन्ति, तथापि कल्पादावीश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृत् इत्युच्यन्ते ।"

सायण के विचारानुसार कल्प के आदि में ही मन्त्रकृत् ऋषि हुए थे। श्रौतसूत्रकार यज्ञों में मन्त्रकृत् का वरण लिखते हैं । मन्त्रकृत् व्यक्ति उस काल में और उन से उत्तरवर्ती काल में भी हो सकते हैं,

---

1. p. 131, Vedic Index, Macdonell and Keith, Delhi, 1958

अतएव कल्प के आदि में ही उनका मानना सायण की भारी भूल है। पूर्वपक्ष के तीसरे प्रमाण में उद्धृत ऐतरेय ब्राह्मण के वचन का सायण ने यह अर्थ किया है—

ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत्करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः। ६।१॥

यहां पर सायण ने धात्वर्थ देकर आपत्ति को हटाना चाहा है। परन्तु क्या आपत्ति हट गयी? ऐसे अर्थ से सब युगों में मन्त्रद्रष्टा ऋषि हो जावेंगे, और यह बात सायण के सिद्धान्त-विरुद्ध है।

मन्त्रकृत शब्द का सत्यार्थ—मन्त्रकृत शब्द के तुल्य प्रत्ययमात्र में भेद रखने वाला मन्त्रकार शब्द है। इसका प्रयोग मानव गृह्य सूत्र से उद्धृत दसवें प्रमाण में आया है।

दक्षिण दिशा में उत्तराभिमुख मन्त्रकार बैठे। गृह्यसूत्र में इस शब्द का प्रयोग श्रौतसूत्र और ब्राह्मणादि में प्रयुक्त मन्त्रकृत् शब्द के समान है। मन्त्रकृत् तथा मन्त्रकार शब्द की प्रवृत्ति वेद से लेकर गृह्यसूत्रों के काल तक एकार्थ में हुई है। भट्ट भास्कर ने विशद विवेचन किया है—

अथ नम ऋषिभ्यः द्रष्टृभ्यः मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः। दर्शनमेव कर्तृत्वं, वेदस्य कर्तुरस्मरणात्।

कार अन्त वाले अनेक शब्द—भाषा में स्वर्णकार, चर्मकार, लोहकार आदि अनेक शब्द हैं। उनका अर्थ है स्वर्ण, चर्म, लोह आदि पदार्थों को लेकर जो पुरुष रूपान्तर कर देते हैं, वही इन शब्दों से पुकारे जाते हैं। वे लोग स्वर्ण आदि को बनाते नहीं, प्रत्युत विद्यमान् स्वर्ण का रूप परिवर्तन कर देते हैं। इसी प्रकार ग्रन्थकार, चित्रकार, सूत्रकार आदि शब्द हैं। ये शब्द स्थूल रूप से साधारण पुरुष को यही ज्ञान देते हैं कि कोई नूतन-रचना की जाती है, परन्तु वास्तविक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो संसार में नूतन पदार्थ कोई है ही नहीं। सब पदार्थों में रूप का परिवर्तन मात्र किया जा रहा है। परन्तु उन नूतन प्रतीत होने वाले पदार्थों के कर्त्ता वस्तुतः उन-उन पदार्थों का जोड़ तोड़ कर रहे होते हैं। इसी भाव को लेकर पतञ्जलि ने लिखा था—**करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः। ६।१।६॥**

अर्थात्—कृञ् धातु अभूत=अप्रसिद्ध के प्रादुर्भाव=प्रसिद्ध होने में (ग्रन्थों में प्रयुक्त) देखा जाता है।

इसी प्रकार मन्त्रकार के स्पष्ट अर्थ हैं—

(१) **मन्त्र तथा मन्त्रार्थ अध्यापक;**

(२) **मन्त्रों को लेकर विनियोग का बताने वाला;**

(३) **यज्ञादि में मन्त्रों के प्रयोजन का निर्देश करने वाला;**

(४) **प्राचीन मन्त्रों को लेकर उनका नया जोड़-तोड़ कर उनका विशेष भाव बताने वाला; तथा**

(५) **यज्ञार्थ विचारक**

उपर्युक्त अर्थों में ही मन्त्रकृत् शब्द पूर्वपक्ष के सारे प्रमाणों में आया है। ताण्ड्य महाब्राह्मण वाले दूसरे प्रमाण में ही आगे कहा है—**ते देवा अब्रुवन्नेषवाव पिता यो मन्त्रकृदिति।**[1]

---

१. १३।३।२५॥

इसी का अर्थ मनुस्मृति में किया है--

देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् । २।१५२।।
अज्ञो भवति वै बाल: पिता भवति मन्त्रदः । २।१५३।।

यहां मन्त्रदः=मन्त्र देने अर्थात् पढ़ाने वाला ही मन्त्रकृत् बताया गया है । इस अर्थ में किसी को आपत्ति न माननी चाहिए क्योंकि प्रकरणानुसार आचार्य=वेदाध्यापक की स्तुति की जा रही है । मन्त्रदः का अर्थ पुनः मनुस्मृति में स्पष्ट है—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ २।१४६।।

ब्रह्मदः=वेदाध्यापक पिता अर्थात् आचार्य, उत्पादक पिता से बड़ा है ।

क्विप् प्रत्ययान्त अन्य अनेक शब्द जो ऋग्वेदादि में आये हैं, उन से भी यही परिणाम निकलता है । यथा—

वषट्कृति १.१४.८	सुकृततरः १.३१.४	तनूकृत् १.३१.९
ऋषिकृत् १.३१.१६	ज्योतिष्कृत् १.५०.४	पुरकृत् १.५३.३
मासकृत् १.१०५.१८	पथिकृत् २.२३.६	ब्रह्मकृतः ७.३२.२
स्तेयकृत् ७.१०४.१०	भद्रकृत् ८.१४.११	पितृकृत्तरेभ्यः १०।७६।५

इन शब्दों में गुण अथवा द्रव्य के प्रकट करने का भाव मिलता है । इन शब्दों का यदि यह अर्थ न समझें, तो पूर्व पक्ष वाले गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्रों के काल में मन्त्रकार का होना कैसे नहीं मानेंगे ।

द्वितीय पूर्वपक्ष—मन्त्रद्रष्टा शब्द—ऋषि ही मन्त्रों के रचने वाले हैं, वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये ही उन्हें मन्त्रद्रष्टा नाम दिया है, वस्तुतः वे मन्त्रों के रचयिता थे । उन्हीं की एकत्रित स्तुतियों से ऋग्वेद बनाया गया है ।

उत्तरपक्ष—जो पाठक, आर्येतिहास पढ़ कर उसे काल्पनिक कह देते हैं, उन्हीं के मन में ऐसी शंकाएं उत्पन्न होती हैं । आर्य सभ्यता के अति निकट जैन तथा बौद्ध विद्वान्, जिन्होंने वेदादि शास्त्रों के उन्मूलन में विशेष प्रयत्न किया तथा जो पाश्चात्य लेखकों की अपेक्षा अधिक संस्कृतज्ञ और सूक्ष्मदर्शी थे, वे भी तो वेदों का कर्ता कोई मनुष्य नहीं बताते । यदि मन्त्रों का कर्ता एक मनुष्य अथवा बहुत से मनुष्य होते, तो पाश्चात्य लेखकों के अनुसार वैदिक काल से सात सौ वर्ष पीछे होने वाले जैन तथा बौद्ध विद्वान् अवश्य ही उनके नामादि लिख देते । ऐसी धारणा के विरुद्ध लिखा है—

तै० सं० ३।१।९

मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्सनाभानेदिष्ठं ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभजत्स आगच्छत्सोऽब्रवीत् कथा मा निरभागिति न त्वा निरभाक्ष मित्यब्रवीदङ्गिरस इमे सत्र-

मै० सं० १।५।८

मनोर्वै दश जाया आसन् दशपुत्रा नवपुत्रा अष्टपुत्रा सप्तपुत्रा षट्पुत्रा पंचपुत्रा चतुष्पुत्रा त्रिपुत्रा द्विपुत्रैकपुत्रा ये नवासंस्तानेक उपसमक्राम

ऐ० ब्रा० ५।१४

नाभानेदिष्ठं शंसति । नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजंत्सो ऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभाक्तेत्येतमेव निष्ठावमववदितार-

मासते ते ॥२९॥ सुवर्गं लोकं न प्रजानन्ति तेभ्य इदं ब्राह्मणं ब्रूहि ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषां पशवस्तां स्ते दास्यन्तीति तदेभ्योऽब्रवीत्ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषां पशव आसन्तानस्मा अददुस्तं पशुभिश्चरन्तं यज्ञवास्तौ रुद्र आऽगच्छत्सो ब्रवीत् मम वा इमे पशव इत्यदुर्वै ॥३०॥

३द्धे ऽष्टौ तान्द्वौ ये सप्ततांस्त्रयो ये षट् तांश्चत्वारो ऽथ वै पंचैव पंचासं स्ता इमाः पंच दशत इमान्पंच निरभजन्यदेव किंच मनोः स्वमासीत्तस्मात्ते वै मनुमेवोपाधावन्मना अनाथन्त तेभ्य एता; समिधः प्रायछत्ताभिर्वै ते तान्निरदहं स्ताभिरेनान्पराभावयन्परा पाप्मानं भ्रातृव्यं भावयति य एवं विद्वानेताः समिध आदधाति ।

मित्य ब्रुवंस्तस्मात्धाप्येर्त्तांहि पितरं पुत्रा निष्ठावो ऽववदितेत्येवाचक्षते । स पितरमेत्याब्रवीत् त्वां ह वाव मह्यं तता भाक्षुरिति तं पिता ऽब्रवीन्मा पुत्रक तदादृथा अंगिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते । ते षष्ठं पष्ठमेवाह रागत्य मुह्यंति । तानेते सूक्ते षष्ठे ऽहनि शंसय तेषां यत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं तत्ते स्वर्यंतो दास्यंतीति ।

दोनों कथाओं का सारांश—मैत्रायणी संहिता में वर्णित कथा में अलंकार भाग मिश्रित है । यह उसकी शैली से स्पष्ट है । परन्तु तैत्तिरीय संहिता और ऐतरेय ब्राह्मणान्तर्गत कथाएं ऐतिहासिक हैं । इन दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है । दोनों में मूल कथा का कुछ-कुछ भाग है । कथा अति प्राचीन है तथा ब्राह्मणकार ने अपने वेद सम्बन्धी इतिहास को ले लिया है और संहिता के ब्राह्मण भाग में ब्राह्मण रूप के किसी वाक्य का कथन किया गया है ।

'पिता की आज्ञा से मनु-पुत्रों ने पिता की सम्पत्ति बांट ली । उनका कनिष्ठ भ्राता नाभानेदिष्ठ अभी ब्रह्मचर्य वास कर रहा था । घर लौटकर उसने पिता से अपना भाग मांगा । अन्य द्रव्य-वस्तु के अभाव में पिता ने दो सूक्त और एक ब्राह्मण दिए । ये ऋग्वेद के दशम मण्डल के सुप्रसिद्ध सूक्त ६१, ६२ हैं । ब्राह्मण कौन सा था ? भट्ट भास्कर मिश्र ने अपने तैत्तिरीय संहिता भाष्य में इसका उल्लेख किया है—

किं पुनस्तदब्राह्मणम् । उच्यते—'अवाप्यानि सन्तीति द्रप्सा अनुमन्त्रणीया अच्छावाकयास्स्तोत्रियांश्शस्त्रियास्सत्यवदनश्रद्धाहोमादिनादिति ।'

स्पष्ट है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के ६१ और ६२ सूक्त मनु को ज्ञात थे । उसी ने ये सूक्त अपने पुत्र को दिए । ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में कात्यायन लिखता है—**इदमित्था सप्ताधिका नाभानेदिष्ठो मानवो वैश्वदेवं तत ।**[1] अर्थात् **इदमित्था**—प्रतीक वाले ६१वें सूक्त का नाभानेदिष्ठ ऋषि है । ६२वें सूक्त के १०वें मन्त्र में यदु तथा तुर्वशु वर्णित हैं । महाभारत के अनुसार ये दोनों नाभानेदिष्ठ की छठी पीढ़ी में हुए थे ।[2] यद्यपि नाभानेदिष्ठ इन दोनों सूक्तों का ऋषि है और ६१वें सूक्त के १८वें मन्त्र में उसका नाम भी आता है, तथापि वह इन सूक्तों का निर्माता नहीं । ये सूक्त तो उससे पहले भी विद्यमान थे ।

---

१. १०. ६१

२. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ९५, श्लोक ७-९।

नाभानेदिष्ठ का काल—यह कथा अति प्राचीन है। इसकी साक्षी इस मन्वन्तर के आरम्भ में मिलती है। वैवस्वत मनु के नव पुत्र और एक कन्या थी। नाभानेदिष्ठ उन सब में से छोटा था। महाभारत में लिखा है—

वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ॥१८॥
कारुषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम्।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ॥१९॥
नाभानेदिष्ठं दशमान्मनोः पुत्रान्प्रचक्षते।[1]

अन्य प्रमाण—(१) तान्वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्। एवात्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र। ऋ० ४।१९; ४।२२; ४।२३।

(२) तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत। गो० ब्रा०, उत्तर भाग, ६।१

(३) ऐतरेय ब्राह्मण ६।१८ में भी कुछ भेद के साथ यही वाक्य आया है।

इन सम्पात ऋचाओं को विश्वामित्र ने पहले देखा। यह ऋग्वेद के ४।१९ आदि सूक्त हैं। तत्पश्चात् इन्हीं सम्पात ऋचाओं को वामदेव ने जन साधारण में फैला दिया। ऋग्वेदानुक्रमणी के अनुसार इन ऋचाओं का ऋषि वामदेव है विश्वामित्र नहीं।

(१) अनेक ऋचाएं वा सूक्त ऐसे हैं जिन्हें कई ऋषियों ने देखा। 'प्रथमम्' शब्द से ब्राह्मणकार का स्पष्ट यही अभिप्राय है कि वामदेव ने भी उन ऋचाओं को देखा था, पर सब से पूर्व विश्वामित्र ने ही उन्हें देखा।

(२) मन्त्रों के ऊपर जो ऋषि लिखे हैं उनका नाम मंत्रार्थ द्रष्टा होने से ही नहीं लिखा गया, प्रत्युत सबसे पहले मन्त्रार्थ प्रचारक होने से भी लिखा गया है।

इसी प्रकार के निम्न अन्य प्रमाण हैं :—

(१) स एष कवषस्यैव महिमासूक्तस्य चानुवेदिता हश्चाद्वेदिता। कौषीतकि ब्राह्मण, १२।३

(२) सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के पहले मण्डल के २४ से ३० सूक्त का शुनःशेप आजिगर्ति कृत्रिम वैश्वामित्र देवरात ऋषि है। यही ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित है—

स (यूपबद्धः शुनः शेपः) प्रजापतिमेव प्रथमं देवतानामुपससार 'कस्य नूनं कतमस्यामृता मित्येतयर्चा' ॥ ऐ० ब्रा०, अध्याय ३३, खण्ड ४।

वररुचि निरुक्त समुच्चय के चतुर्थ कल्प में कस्यनूनं (ऋ० १।२४।१) का व्याख्यान करता हुआ लिखता है—

अजीगर्तो नाम ब्रह्मर्षिः सुवचसस्य सूनुः पुत्रदार सहितो दुर्भिक्ष क्षुधया पीड्यमानो निरतिशयतपो महाभाग्ययुक्तः प्राधान्यात् प्रजापतिमेव देवानां मध्ये प्रथमं प्रार्थयते। ४।९८॥

(३) त्रितः कूपेऽवहितः [ऋ० १।१०५।१७] इत्यस्य त्रितः कुत्सो वा—ऐतिह्यपक्षे कथं कुत्सो ऋषिः ?

---

१. आदिपर्व, अध्याय ६९।

स्वामी दयानन्द ने यही भाव और कदाचित् ऐसे ही ब्राह्मण वाक्यों को ध्यान में रखते हुए एक निरुक्त वाक्य का अर्थ किया था,—जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा जाता है।[1]

इन प्रमाणों से निश्चित है कि मन्त्रकार ऋषि मंत्रों के बनाने वाले न थे, प्रत्युत वेदमंत्र तो उनसे पहले भी विद्यमान थे। वात्स्यायन ने स्पष्ट कहा है—**आप्ता खलु साक्षात् कृतधर्मा**[2]—अर्थात् धर्म को साक्षात् किये हुए आप्त होते हैं।

यही भाव पुनरेव अधिक स्पष्ट किया है—'**य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च**[3]—अर्थात् जो ही आप्त वेदमंत्रों के अर्थद्रष्टा और उनके प्रवचनकर्ता हैं। निश्चित ही मंत्रद्रष्टाओं को मन्त्रार्थ द्रष्टा और मंत्रार्थ प्रवचनकर्ता जानना चाहिये, न कि मंत्रकार अथवा मंत्र बनाने वाले।

इसकी पुष्टि में और प्रमाण—ऋग्वेद में अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनके दो, तीन अथवा चार ऋषि हैं। उदाहरणार्थ १।१०५; २।२६; ३।२३; ३।५४;४।४३; ५।२४; ५।४४; ८।१४; ६।६८, १०।२४ आदि। क्या प्रत्येक ऋषि ने एक समान सूक्त बनाए? उनमें से प्रत्येक ऋषि ने एक-एक दो-दो मन्त्र बनाए और उन सब का नाम सूक्त के ऊपर लिख दिया गया।

यह मत मान्य नहीं है। जिस-जिस ऋषि ने जिस-जिस मन्त्र का अर्थ देखा, उस-उस मन्त्र के साथ उसका नाम सदा से लिखा चला आता है। उपर्युक्त सूक्तों में तो प्रत्येक ऋषि सूक्त के सारे मन्त्रों का द्रष्टा है। सब ऋषि मन्त्रार्थ देखने वाले तो माने जा सकते हैं परन्तु मन्त्र बनाने वाले नहीं। समाधि द्वारा शब्द ब्रह्म को प्रत्यक्ष करके यदि कोई पुरुष अर्थ प्रकाशित करे तो उसे ऋषि स्वीकार करके उस सूक्त के साथ उसका नाम अन्य ऋषि लगा देंगे।

एक अन्य आक्षेप है कि जहां सूक्तों पर दो, तीन अथवा चार ऋषि दिये हैं, वहां सन्देहार्थक 'वा' का प्रयोग है। अतः अनुक्रमणी बनने के काल में सूक्तों का इतिहास विस्मृत था। यह ज्ञात न था कि निश्चय रूप से किस सूक्त का कौन द्रष्टा है? अतएव 'वा' शब्द का प्रयोग दर्शाता है कि उस काल तक ऐतिह्य की शृंखला टूट चुकी थी और संशय होने उत्पन्न हो गये थे।

'वा' का प्रयोग विचारणार्थ में आता है। अनुक्रमणीकार का अभिप्राय संदेह से नहीं है। यहां 'वा' का प्रयोग समुच्चयार्थ में है। ऐसा अर्थ निरुक्त में आया है।[4]

किरणावली में भी प्रयोग है—**अथ वेति वा शब्दः समुच्चये**।[5] सर्वानुक्रमणी में '**वा**' एक परि-

---

१. पृष्ठ २१४, सप्तम समुल्लास, सत्यार्थप्रकाश।

२. १।१।७ ।। न्याय दर्शन

३. २।२।६७ ।। वही

४. १।४

५. पृ. २८८

भाषा है और कात्यायन ने अपने परिभाषा प्रकरण में इसका प्रयोजन स्पष्ट कर दिया है। उसका सूत्र है—ऋषिश्चान्यस्मादृषेरवाविशिष्टः।[1] अर्थात् 'वा' से पिछले ऋषि की एक सूक्त में अनुवृत्ति आती है। वेदाभ्यास में ऋषि आदि का जानना परमावश्यक है। स्वयं कात्यायन ने कहा है—न ह्येतज्ज्ञानमृते श्रौतस्मार्तकर्मप्रसिद्धिः।[2] नहीं ऋषि आदि के ज्ञान बिना श्रौत, स्मार्त कर्म की सिद्धि। अतएव श्रौत स्मार्त कर्म में सूक्तों का प्रयोग करते हुये जहां अनेक ऋषि वर्णित हैं, वहां किसी एक का ज्ञान पर्याप्त है। इतिहास को सुरक्षित रखने के लिए कात्यायन के लिये यह आवश्यक था कि जितने भी ऋषियों ने किसी एक सूक्त का अर्थ देखा वह उन सब के नाम दे देता। कात्यायन का 'वा' कर्म-प्रयोग में किसी एक ऋषि के सम्वन्ध में विकल्प करने से है, उनके अर्थद्रष्टा होने से सन्देह को प्रकट करने के लिए नहीं है।

ऋग्वेद ९।९८ से यही विचार पुष्ट होता है। इस सूक्त के ऋषि के संबंध में कात्यायन का वचन है—अम्बरीष ऋजिश्वा। आर्षानुक्रमणी में शौनक का भी श्लोक है—

अम्बरीषोऽभि नः सूक्ते मान्धातृतनयस्तथा।
भारद्वाज ऋजिश्वा च तावेतौसहितावृषी ।।३५।।

इन दोनों स्थलों में 'च' निश्चय ही समुच्चयार्थक है। पुनश्च ऋग्वेद ८।४ के अनुक्रमणी में दो ऋषि कहे हैं—**गौषूकत्यश्व सूक्तिनौ काण्वायनौ**। अर्थात् कण्वगोत्री गोषूक्ति और अश्वसूक्ति। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के सूक्त चौदह के प्रथम और पंचम मन्त्र सामवेद पूर्वाचिक प्र० २।३ के ७ और ८ हैं। इनके ऋषि भी यही दोनों हैं। इसी विषय में आर्षेयब्राह्मण २।१२२ की साक्षी भी विद्यमान है—**'गौषूक्तं चाश्वसूक्तं च**। अर्थात् इन दो ऋषियों ने भी यह दो मन्त्र देखे।

अनुक्रमणी की साक्षी—ऋग्वेद १।१०० में उन्नीस मन्त्र हैं। उनके पांच ऋषि हैं। उनके नाम हैं—ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान तथा सुराधा। ये सब महाराज वृषागिर के पुत्र थे। ये सब नाम इसी सूक्त के १७ वें मन्त्र में आते हैं।

एतत्यत्त इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभिगृणन्ति राधः। ऋजाश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः।।१७।।

इस मन्त्र से कई परिणाम निकल सकते हैं, जिन में से दो प्रमाण निम्नलिखित हैं—

(१) यदि ये ऋषि इस सूक्त के बनाने वाले थे तो उन में से प्रत्येक ने कुछ मन्त्र बनाये होंगे। पुनः सब ने सम्मति करके एक मन्त्र में अपने नाम अपने पिता के पते सहित दे दिये। भ्राता होने के कारण सब ने यही निश्चय किया होगा कि हम सब ही इस सूक्त के ऋषि बनें, अन्यथा पांच पुरुषों द्वारा एक ही वाक्य की रचना असम्भव है। एक ही रचना में चार सम्मति तो दे सकते हैं।

(२) वे भ्राता सदा ऐसा नहीं करते थे। पूर्वोद्धृत ९।९८ के अम्बरीष, ऋजिश्वा दो ऋषि हैं। यह अम्बरीष भी वृषागिर का पुत्र है। यहां इसका साथी ऋजिश्वा है। ऋज्राश्व और ऋजिश्वा एक नहीं हैं। मन्त्रों में दोनों शब्द भिन्न-भिन्न हैं।

---

१. १२।१।।
२. १।१।।

इन परिणामों की परीक्षा—ऋज्राश्व, भयमान आदि शब्दों को वेद में अन्यत्र देखकर निश्चय हो जाता है कि ये व्यक्तिगत नहीं हैं। ऋग्वेद १।११६।१६ में लिखा है—**ऋज्राश्वं तं पितान्धं चकार।**' यह है जो पूर्वपक्षी इस मन्त्र का अर्थ करेगा—उस ऋज्राश्व को पिता ने अन्धा किया। क्या मन्त्र-द्रष्टा पुत्र को ऐसा दण्ड देगा। इतना कहना पर्याप्त है कि मन्त्रों में ये नाम व्यक्ति विशेषों के नहीं है। अपितु वेद तो वृषागिर आदि सम्राटों से बहुत पूर्व विद्यमान थे।

एक तीसरा परिणाम भी निकलता है। किसी वृषागिर राजर्षि ने अपने पुत्रों का ऋज्राश्व आदि क्रमशः नाम रखे। उनमें से प्रत्येक इस सूक्त का द्रष्टा बना अथवा उन पांच वार्षागिरों ने मन्त्रार्थ देखने के पीछे अपने ये भी नाम रख लिये। यही बात इतिहास में सुरक्षित है।

एक सूक्त के सौ ऋषि—ऋग्वेद ९।६६ के सम्बन्ध में अनुक्रमणी का वचन है—**पवस्व शतं वैखानसाः**—अर्थात् 'पवस्व' प्रतीक वाले इस सूक्त के सौ वैखानस ऋषि हैं। इस सूक्त में कुल तीस मन्त्र हैं। परिणाम यही निकलता है कि किसी विखनस मुनि के शिष्य परम्परा में आने वाले वैखानस नाम के ऋषि भिन्न-भिन्न समयों पर इस सूक्त के अर्थ-द्रष्टा हो चुके हैं। इन वैखानस नामक वानप्रस्थों का वर्णन मनुस्मृति आदि अनेक आर्षग्रन्थों में आ चुका है। आर्षानुक्रमणी में भी लिखा है—

असिद्धगोत्रास्तु पवस्वसूक्तं वैखानसा नाम शतं विदुस्ते ॥१६॥

सम्भव है यहां 'शतं' शब्द बहुसंख्या वाचक हो। सौ व्यक्तियों के सदृश वाक्य-रचना करना असम्भव है। तथाच दो-चार ने वाक्य-रचना की हो और सौ या बहुत से व्यक्तियों ने सम्मति दी हो, यह इतिहास से प्रमाणित नहीं होता है।

एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न ऋषि—जहां ऋग्वेद में एक सूक्त के दो वा अधिक ऋषि हैं, वहां भिन्न-भिन्न मण्डलों और सूक्तों में आने वाले मन्त्रसमूहों वा एक-एक सदृश मन्त्र के भी भिन्न-भिन्न ऋषि हैं। हम ऐसे कतिपय उदाहरण ब्लूम फील्ड रचित 'ऋग्वेद रैपीटीशन्स' के द्वितीय भाग के आरम्भिक पृष्ठों में से देते हैं—

१।२३।२१—२३	मेधातिथि	१०।९।७—९	त्रिशिरा तथा सिंधुद्वीप
३।४।८—११	विश्वामित्र	७।२।८—११	वसिष्ठ
६।४७।१२, १३	गर्ग	१०।१३१।६, ७	सुकीर्ति
१।१००।१९	ऋज्राश्व आदि भ्राता	१।१०२।११	कुत्स
३।१।२३	विश्वामित्र	३।१५।७	उत्कील
१।१३।९	मेधातिथि	८।५।८	वसुश्रुत

यहां प्रश्न होता है कि क्या भिन्न-भिन्न ऋषियों ने सदृश मन्त्र-रचना की? हम तो कहेंगे नहीं, क्योंकि ऋषि मन्त्र रचयिता नहीं, प्रत्युत मन्त्रार्थ-द्रष्टा थे।

पुनरुक्तियों द्वारा प्रदर्शित अनुक्रमणी-विवरणों की अप्रमाणता—"सर्वानुक्रमणी के विवरण सबसे अधिक पुनरुक्तियों के विषय में अपने प्रमाण की सन्देहपरता प्रकट करते हैं। जैसा सामान्यतया ज्ञात है सूक्तों के रचयिताओं का इतिवृत्त, वैदिक कवियों की प्रधान कुलों के सम्बन्ध में, सत्य ऐतिह्य के अल्प कोश पर कुछ अंशों में आश्रित हैं। उनके अधिक निश्चित विवरण अधिकांश में कल्पनायें हो

जाती हैं। अनुक्रमणी में निरपेक्षता से एक ही ऋचा के दो या अधिक रचयिता अथवा दो या अधिक देवता वर्णित हैं, चाहे, वह ऋचा एक ही मण्डल या दूसरे मण्डल में किसी भी सम्बन्ध में आयी हो। आप्रीमन्त्र (३।४।८—११ तथा ७।२।८—११) तीसरे मण्डल में विश्वामित्र गाथिन के कहे गये हैं, परन्तु सातवें मण्डल में वसिष्ठ मैत्रावरुणि के। ऐसा ही अन्य अनेक स्थलों में मिलता है।

ऋचाओं में कहे हुए रचयिता—नामों का समालोचक दृष्टि से महत्व—ऐसी दशा में अनुक्रमणी के दिखावटी ऐतिहासिक विवरण पुनरुक्तियों के काल या सापेक्षा मूल्य के निर्णय में सहायता नहीं देते। पुनरुक्ति वाक्यों में आये हुए रचयिताओं के नाम कई बार उनके सापेक्ष काल पर भी प्रकाश डालते हैं। ६।२५।६ का उत्तरार्ध भारद्वाजाः नाम का वर्णन करता है। यह शब्द १०।८६।१७ के विश्वामित्र सूत्र में गौण रूप से विश्वामित्राः में बदला गया है।[1]

ऐसी ही सम्मति समस्त पाश्चात्य वेद-विषयक लेखकों की है। इसका कारण भी है। ऐसा लेखक वेदमन्त्र के अनेक ऋषि होने के कारण उन्हें समझ नहीं सका है। ब्लूमफील्ड लिखता है—

(१) सर्वानुक्रमणी के प्रमाण होने में बहुत संदेह है; सबसे अधिक सन्देह पुनरुक्तियों के विवरण विषय में है।

(२) अनुक्रमणी में सूक्तों के रचयिता दिये हैं।

(३) वैदिक कवियों के प्रथम कुलों के संबन्ध में कात्यायन का लेख कुछ-कुछ सत्य ऐतिह्य पर आश्रित है।

(४) कात्यायन के अधिक निश्चित विवरण बाल-कल्पनाएं हैं।

(५) अनुक्रमणीकार कात्यायन जानबूझ कर एक ही ऋचा के दो वा अधिक रचयिता बताता है।

(६) **आप्रीमन्त्र** ३।४।८—११=७।२।८—११ तीसरे मण्डल में **विश्वामित्र गाथिन** के कहे गये हैं, सातवें मण्डल में वसिष्ठ **मैत्रावरुणि** के।

(७) वेद-मन्त्रों में भी मन्त्र-रचयिताओं के नाम हैं।

(८) जहां वे पुनरुक्त वाक्यों में आते हैं, वहां मन्त्रों के काल निरूपण करने में सहायता देते हैं, जैसे ६।२५।६ और १०।८६।१७ में **भारद्वाजाः** और **विश्वामित्राः** क्रमशः नाम आये हैं।

इस विषय में हमारा मत—ऐसा लेख निराधार कल्पना-मात्र है। ऋषि परम्परा के विषय में निश्चित है कि सर्वानुक्रमणी के कर्ता कात्यायन ने सारा इतिहास ब्राह्मण ग्रन्थों से प्राप्त किया था, जिनमें मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के काल से ही इतिहास की अटूट शृंखला चली आती थी।

(१) सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन श्रौतसूत्रकर्ता वा वैयाकरण हो या न हो, सर्वानुक्रमणी की भाषा में उस ने कुछ वैदिक प्रयोग क्यों न किये हों, ब्राह्मणों को उद्धृत करने के कारण वह उनसे पीछे का ही है। उसने ऋषियों का इतिहास ब्राह्मणों से लिया है। जहां कहीं उस इतिहास में मत भेद था, वह उसने स्वयं दर्शा दिया है। यथा—

---

१. यह अंश, ऋग्वेद रैपीटीशन्स, पृष्ठ ६३४ से है।

मोषु (ऋ० ७।३२) सप्ताऽधिकासौदासैरग्नौ प्रक्षिप्यमाणः शक्तिरंत्यं प्रगाथमारेमे । सोऽर्धर्चे उक्ते ऽदह्यत । तं पुत्रोक्तं समापयतेति शाट्यायनकम् । वसिष्ठस्य हतपुत्रस्यार्षमिति तांडकम् ।

अर्थात् ७।३२ में सत्ताईस ऋचा हैं। सुदास के पुत्रों से अग्नि में फेंका गया शक्ति अन्त्य प्रगाथ—बृहति छन्द वाली ऋचाओं को देखता हुआ। वह आधी ऋचा के कहने पर जल गया। पुत्र से कही हुई उस आधी ऋचा को पिता वसिष्ठ ने समाप्त किया। वह शाट्यायनक मानते हैं। हतपुत्र वसिष्ठ ही इन का ऋषि है यह ताण्डिन मानते हैं।

कात्यायन के उपर्युक्त वचन पर षड्गुरुशिष्य ने एक श्लोकबद्ध इतिहास दिया है। उस इतिहास वा कात्यायन के वचन का मूल मिलना चाहिये। कात्यायन को जहां कहीं ब्राह्मण ग्रन्थों के कथन में मत-भेद मिला, वहां उसने उसे निःसंकोच दे दिया। यदि अन्यत्र भी कहीं ऐसा होता तो वह उसे अवश्य प्रकट करता। ऊपर लिखा है कि कुछ सम्पात ऋचाएं विश्वामित्र ने देखी थीं। उनका प्रचार वामदेव ने कर दिया। अतएव उनका ऋषि भी वामदेव ही हुआ। शक्ति के जलने आदि के संबंध में अभी हम कुछ नहीं कहते, पर सम्भव है पिता वसिष्ठ और पुत्र शक्ति ने दो भिन्न स्थानों में एक ही काल में इन ऋचाओं का अर्थ दर्शाया हो। एक देश वाले शाट्यायनकों ने एक बात लिखी हो और अन्य देशीय ताण्डिनों ने दूसरी। कात्यायन ने दोनों बातें लिखकर विकल्प दिखा दिया है। यदि ऋग्वेद के सम्पूर्ण ब्राह्मण उपलब्ध होते तो कदाचित् अनुक्रमणी की ऋषियों संबंधी सब बातें हमें उन में मिल सकतीं। ऐतरेय ब्राह्मण के पाठक जानते हैं कि सर्वानुक्रमणी की बहुत सी बातें वहां से ले ली गयी हैं। कौषीतकी ब्राह्मण में भी इस संबंध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

सर्वानुक्रमणी के आधार ब्राह्मणों की प्राचीनता—ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण कितने प्राचीन हैं, इस विषय पर चिर काल से विवाद चला आता है। काशिकाकार जयादित्य आदि का मत है कि शतपथ ऐतरेयादि ब्राह्मणों में नवीन हैं। भाष्यकार पतञ्जलि, दयानन्द सरस्वती और बूहलर की सम्मति में ऐतरेय शतपथादि सब ब्राह्मण प्रायः समकालीन हैं। दोनों का आधार महाभाष्य का एक वार्तिक है।

पाणिनीय सूत्र **पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु** (४।३।१०५) पर भाष्यकार के वार्तिक **याज्ञवल्क्या-दिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यादिकालत्वात्** पर दयानन्द सरस्वती अष्टाध्यायी की वृत्ति में लिखते हैं—**जयादित्यो जानाति याज्ञवल्क्यानि पुराणप्रोक्तानि न सन्ति । तदिदं को मर्षयेत् । यदा याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि, तदैव तदैव शाट्यायनादिभिरपि ।** अर्थात् भाल्लवि, ऐतरेय, शाट्यायन, शतपथादि ब्राह्मणों का समकाल में प्रवचन हुआ है। बूहलर ने कहा है—

I understand Kātyāyana to say that the Brāhmaṇas proclaimed by Yajñaval-kya, etc.,......are not,......, modern works but are as old as those which Pāṇini had in view.[1]

इस विचार को अब प्रायः विद्वान् मानते हैं, अतः दोनो पक्षों की युक्तियां नहीं दी गई हैं।

सब ब्राह्मण लगभग समकालीन हैं। उनका मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के काल से कितना अन्तर है ? मैकडानल प्रभृति पाश्चात्य लेखक एक स्वर से कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों से बहुत पिछले काल के हैं। ब्राह्मणों के निर्माण काल में तो ऋषि प्रदर्शित अर्थ भी बहुत सा भूल चुका था।

---

1. p. 11, Introduction, Vol. II, Mahābhāshya.

ऋषियों के इतिहास का ज्ञान लुप्त हो रहा था, इत्यादि। क्या यह सत्य है ? हम कहेंगे, नहीं। ब्राह्मण में लिखा है—जब याज्ञवल्क्य गार्गी के दूसरे प्रश्न के प्रथम भाग का उत्तर दे चुके तो वह वाचक्नवी पुनः बोली **कस्मिन्न्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ?** अर्थात् आकाश किस में ओत और प्रोत है ? तब वे ब्रह्म-निष्ठ भगवान् याज्ञवल्क्य बोले—**स हो वाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्य स्थूलम्**।[1] अर्थात् हे गार्गि। ब्रह्मवेत्ता उसे ही अक्षर कहते हैं जिसमें आकाशादि सब कुछ ओत-प्रोत है। जो अस्थूल इत्यादि है।

यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण में गार्गी और याज्ञवल्क्य के सम्भाषण का मूल यजुर्वेद के एक मन्त्र में मिलता है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्रविश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥३२।८॥

इस मन्त्र के अन्तिम शब्द ही ब्राह्मण के कथन में मिलते हैं। यजुर्वेदीय सर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का ऋषि स्वयम्भू ब्रह्म कहा गया है। **सर्वमेधं ब्रह्मस्वयंभ्वैक्षत**—अर्थात् सर्वमेध यज्ञ सम्बन्धी इन मन्त्रों को ब्रह्म स्वयम्भू ने देखा। यह स्वयम्भू ब्रह्म शतपथ ब्राह्मण की ऋषि परम्परा का मूल है। उसी से यह विद्या क्रमशः याज्ञवल्क्य तक पहुंची। याज्ञवल्क्य ही शतपथ ब्राह्मण का प्रवचनकर्ता माना जाता है। अतः शतपथ ब्राह्मण के प्रवचनकर्ता के पास वैदिक ऋषियों के काल से वैदिक ऐतिह्य की अटूट शृंखला गुरु परम्परा द्वारा चली आ रही थी। ऐसी स्थिति में सर्वानुक्रमणियों की साक्षी को संदेहास्पद कहना वैदिक साहित्य को पक्षपातान्ध होकर भ्रष्ट करने की चेष्टा करना है।

(२) ब्लूमफील्ड का कथन है कि **'सर्वानुक्रमणी में सूक्तों के रचयिता (आथर्स) दिये हैं।'** हमें तो इसका कोई प्रमाण मिला नहीं, सम्भव है उनकी दृष्टि में आया हो। सर्वानुक्रमणी के एक वाक्य से साधारण पाठकों को भ्रांति हो सकती है—**यस्य वाक्यं स ऋषिः**।[2] अर्थात् जिसका (दृष्ट) वाक्य हो वह ऋषि होता है। दृष्ट हमने इसलिए प्रयुक्त किया है कि कात्यायन इसका यही अर्थ करता है—**"गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत।"** गृत्समद ने दूसरा मण्डल देखा। वाक्यार्थ कर्ता के अभिप्रायानुकूल होना चाहिये, अतः पूर्व वाक्य में दृष्ट शब्द अभिप्रेत है। कात्यायन ने अन्य बातों के समान यह बात भी ब्राह्मणों से ली है—

(क) **स (प्रजापतिः) एतामृचमपश्यदापोरेवतीरिति।** ऐतरेय ब्राह्मण २।१६ अर्थात् १०।३०।१२ को प्रजापति ने देखा।

(ख) **एतत कवषः सूक्तमपश्यत्पंचदशर्चं प्रदेवत्रा**—अर्थात् कवष ने प्रदेवत्रा (१०।३०) पंद्रह ऋचा वाला सूक्त देखा।

(ग) **"जनिष्ठा उग्रः......गौरिवीतिर्ह वै शाक्त्य......एतत्सूक्तमपश्यत्**—ऐतरेय ब्राह्मण ३।१९ अर्थात् १०।७३ सूक्त को शक्ति के पुत्र गौरिवीति ने देखा।

(घ) **महीं गामिति कण्वो हैनां ददर्श।** ६।२।२।३८, श० ब्रा०

(ङ) **यास्सेना अभीत्वरीति...ते देवा ऐता ऋचोऽपश्यन्।** १९।१० काठक संहिता

---

१. १४।६।७।८, शतपथ ब्राह्मण। २. २।४॥

(च) ते देवा एतद्यजुरपश्यन्नजोऽसि सहोऽसि । १०।७ काठक संहिता

(छ) उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदिति शुनश्शेपो वा एतामाजीगर्तिर्वरुणगृहीतोऽपश्यत् । १६।११ काठक संहिता

(ज) स एतं कसर्णीरः काद्रवेयो मन्त्रमपश्यत् । ११५।४, मैत्रायणी संहिता—सार्पराज्ञी ऋचा ।

(झ) स वामदेवः उख्यमग्निमबिभतमवैक्षत स एतत्सूक्तमपश्यत्कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम् इति । १०।५ काठक संहिता

(ञ) इन्द्र एतत् सप्तर्चमपश्यत् ६।२।२।१, श० ब्रा०

(ट) गौरिवीतिर्ह वै शाक्त्यो...एतत् सूक्तमपश्यत् । ३।१६ । ऐतरेय ब्राह्मण

(ठ) बृहदुक्थो ह वै वामदेव्यो अश्वो वा समुद्रिः अश्वस्याप्रीर्ददर्श । १३।२।२।१४, श० ब्रा० यजुर्वेद २६।१ ।

(ण) अगस्त्यस्यैतत्सूक्तं कयाशुभीयम् । १०।११।। काठक संहिता

कात्यायनादि सर्वानुक्रमणीकार और महीदासादि ब्राह्मण-प्रवचनकर्ता सर्वत्र वेद मन्त्रों का देखा जाना ही मानते हैं। महीदास ने तो वेदमन्त्रों को छोड़कर किसी शाखा के मन्त्र के संबंध में भी यही लिखा है—एतां बृहस्पतिर्द्विपदामपश्यन् न यारोषाति न प्रभदिति ।[1] अर्थात् बृहस्पति ने इस द्विपदा को देखा । यास्क भी ऋषिर्दर्शनात् (२।११) ऋषि देखने से होता है, यही कहता है। उसने किसी पुरातन ब्राह्मण की भी यही सम्मति दी है।

पतञ्जलि ने भी यही लिखा है—न हि च्छन्दांसि क्रियन्ते ।[2] अर्थात् छन्द=वेद और शाखाओं के मन्त्र बनाये नहीं जाते । पाणिनी ने भी—दृष्टं साम (४।२।७) से यही सिद्धांत प्रकट किया है। इन सब प्रमाणों से यही ज्ञात होता है कि कात्यायन कालीन लेखक और उनसे बहुत पूर्व के प्रवचन कर्ता मन्त्रों के आर्थस-रचयिता नहीं मानते थे। वे ऋषियों को द्रष्टा मानते थे। आधुनिक लेखक जो इच्छा हो मानें पर उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे अपने विचारों को पुराने लोगों के नाम मढ़ें।

(३) 'वैदिक कवियों की प्रधान कुलों के सम्बन्ध में कात्यायन का लेख सत्य ऐतिह्य पर आश्रित है।' पाश्चात्य लेखक दूसरे से सातवें मण्डलों को कुल-मण्डल कहते हैं, कारण कि वे 'चिरकाल तक पृथक् रूपेण कुलों में ही परंपरा से चले आये।'[3] दूसरों के संबंध में कात्यायन के पास पूर्ण ऐतिह्य था। इस काल के अनेक प्रमाण ऊपर दिये गए हैं। मैकडानल का कहना है कि ये मण्डल चिरकाल तक विभिन्न कुलों में चले आये सर्वथा अशुद्ध है। वामदेव और विश्वामित्र समकालीन थे। हम पूर्व दिखा चुके हैं कि वामदेव ने विश्वामित्र-द्रष्ट ऋचाओं का प्रचार किया। अतः इस समय भी एक कुल वाला दूसरों के मन्त्रों को फैलाता था।

पाश्चात्य लेखक स्वयं ही इस भ्रम में नहीं पड़े, प्रत्युत इन्होंने दूसरों को भी इस भ्रान्ति में डाला कि दूसरे से सातवां मण्डल बहुत पुराने काल के हैं और प्रथम तथा दशम मण्डल उनकी अपेक्षा बहुत नवीन हैं। सर्वानुक्रमणी की साक्षी प्रामाणिक सिद्ध होने पर निम्न परिणाम निःसंकोच निकलतेहैं—

---

१. ४ १० । ऐतरेय ब्राह्मण । २. ४।३।१०१ ।
३. पृ० ४१, Macdonell, History of Sanskrit Literature.

(१) कुशिक	अङ्गिरस	ब्रह्मा
(२) गाधी	राहूगण	वसिष्ठ
(३) विश्वामित्र	गोतम	शक्ति
(४) मधुच्छन्दा	वामदेव	पराशर
(५) जेता	बृहदुकथ्य	व्यास

भिन्न-भिन्न कुलों के यह पांच-पांच नाम वंश क्रम से लिखे गये हैं। इनमें से कतिपय तीसरे, चौथे, और सातवें मण्डल के द्रष्टा हुए हैं। इन्हीं के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र वा पिता, पितामह आदि प्रथम और दशम मण्डल के सूक्तों के भी द्रष्टा हैं। अतः दूसरे से सातवें मण्डल पहले तथा दशम मण्डल से पहले के नहीं हैं।

ऐसे ही प्रमाणों से भयभीत होकर पाश्चात्य लेखकों ने अनेक निस्सार कल्पनाएं की हैं। यदि ऋषिवंशों का शुद्ध इतिहास कात्यायनादि को विदित न होता, तो वह पिता, पुत्र के क्रम से इनका उल्लेख कभी न करता। ब्लूमफील्ड के वचन कुछ-कुछ सत्य ऐतिह्य पर आश्रित हैं। उसे इतिहास का सर्वथा अस्वीकार करना बड़ा कठिन प्रतीत हो रहा था। यदि वह अधिक विचार करता तो संभवतः वह भी सत्य परिणाम पर पहुंच जाता।

(४) **'कात्यायन के अधिक निश्चित विवरण'** का हमें अभिप्राय ही विदित नहीं होता। क्या उस के कुछ कम निश्चित विवरण भी हैं? उस की दृष्टि में तो हो नहीं सकते, क्योंकि उस ने सन्देह प्रकट नहीं किया। वस्तुतः यह भी निर्मूल भ्रम है।

(५) **'अनुक्रमणीकार जानबूझ कर एक ही ऋचा के दो वा अधिक रचयिता बताता है।'** हम दिखा चुके हैं कि अनुक्रमणी का आधार ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और ब्राह्मणों में ऐतिह्य की अटूट श्रृंखला चली आ रही है। कात्यायन तो प्राचीन ऐतिह्य का संग्रह करने वाला है। यद्यपि आज सैंकड़ों ब्राह्मणों में से कुछ ही मिलते हैं तो भी यत्न करने पर अनुक्रमणी के मूल उन में ढूण्ढे जा सकते हैं। अतएव अधिक से अधिक ब्राह्मणों के प्रवचनकर्ताओं पर ब्लूमफील्ड संदेह कर सकता था। ऋग्वेद १।९१।३ का ऋषि गोतम राहूगण है। यही ऋचा ९।८८।८ है। वहां ऋषि उशन काव्य है। ब्लूमफील्ड कल्पित पुनरुक्ति की सूक्ष्म परीक्षा निम्न है—

(क) यदि प्रारम्भ में मन्त्र एक ही था, तो कात्यायन, तथा उसके पूर्ववर्ती शाकल्य के काल से भी वहुत पूर्व यह ऋग्वेद के दोनों मण्डलों में मिलता था। ऋषियों की यह कल्पना यदि कात्यायन की है तो ब्लूमफील्ड आदि लेखकों के अनुसार वेद में ऋषियों के नाम आते हैं। वे ऋषि व्यक्ति विशेष थे। हमारे समान वे इन शब्दों को यौगिक नहीं मानते। अस्तु, वेद का स्वाध्याय करने वाले जानते हैं कि एक ही ऋषि के सूक्त यदि वह किसी मण्डल के बहुत सूक्तों का द्रष्टा है, प्रायः साथ-साथ आते हैं। यथा ऋग्वेद ९।८७ तथा ८९ दोनों सूक्तों का द्रष्टा (ब्लूमफील्ड के अनुसार कर्ता) उशन काव्य है। इस में संदेह नहीं है। एक अन्य मन्त्र—

ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीरं उशना काव्येन (९।८७।३) का ऋषि बन कर किसी व्यक्ति ने अपना नाम उशन काव्य रखा। पाश्चात्य लेखकों के अनुसार मन्त्र निर्माता ने अपना नाम मन्त्र में दे दिया। उशन काव्य ९।८७,८८,८९ का ऋषि है। यदि वही सूक्त-निर्माता था तो उस ने यह

मन्त्र स्वयं बनाया, या किसी अन्य के बनाये हुए को अपने काव्य में मिला लिया। वह इतना प्राचीन है कि यदि उस ने यह मन्त्र स्वयं न बनाया था तो उसे इस का निर्माता ज्ञात था। यदि वह जानता था तो उसकी कुल परम्परा द्वारा यह बात अन्य भी जान सकते थे। ऐसी अवस्था में इतिहास की माला टूट न सकती थी।

पूर्वोक्त युक्तियां ही गोतम के संबंध में, जो ऋग्वेद १।६१ का ऋषि है, स्पष्ट हैं। उस का नाम भी (पाश्चात्य विचारानुसार) १।८५।११ में आया है। यही गोतम ऋग्वेद १।७४।९३ का ऋषि है।

(ख) यदि गोतम ने उशन से मन्त्र लिया या उशन ने गोतम से तो भी इतिहास सुरक्षित रह सकता था और एक स्थान में मूल ऋषि का नाम आ जाता।

(ग) यदि मन्त्र इन दोनों से भी पुराना था, और वे मन्त्र निर्माता का नाम भूल चुके थे, तो इस में मूलहीन कल्पना के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं।[1] यदि मन्त्रों में मन्त्र-निर्माताओं का नाम मान लें तो विवश मानना पड़ेगा कि प्रायः सारा ऋग्वेद समकालीन है, तथा मन्त्र-रचयिताओं से बहुत पहले मन्त्र न थे। छठे मण्डल का प्रधान ऋषि बृहस्पति पुत्र भरद्वाज है। पूर्वपक्षानुसार वह स्वयं अपना नाम मन्त्रों में लेता है। यथा—भरद्वाजे नृवत इन्द्र १६।१७।१४। मैकडानल ने ओल्डनवर्ग की साक्षी पर लिखा है कि उस के संबंधी भी उस का नाम लेते हैं—

Judging by the tone of the references to भरद्वाज he can hardly be deemed to have been a contemporary of any of the hymns.[2]

भरद्वाज को कुत्स आंगिरस ऋषि स्मरण करता है। यथा—याभिर्विप्रं प्र भरद्वाजमावतम्[3] यही कुत्स अपना वर्णन भी इसी सूक्त में करता है—याभिः कुत्सं श्रुतर्यं।[4] इसी का वर्णन भरद्वाज करता है "प्रतत्ते अद्या करणंकृतं भूत्कुत्सं।[5] ऐसे अनेक प्रमाण हैं।

इतने लेख से ज्ञात हो जाता है कि ब्लूमफील्ड आदि लेखक ने जिन बातों को अभी सिद्ध करना था, उन्हीं को साधन मान कर अपनी कल्पनाएं कर रहे हैं। सत्य तो यह है कि ऐसे ही तर्कों का विचार करके उन्होंने ऊपर से बड़ा युक्तियुक्त पर वस्तुतः सारहीन मार्ग पकड़ा।

(६) यह छठी बात एक रूप से पांचवीं के प्रमाण में थी। इसका खण्डन उसी में आ गया है।

(७) **'वेद-मन्त्रों में मन्त्र-रचयिताओं के नाम हैं'** इस का खण्डन 'वेदार्थ प्रकार' प्रकरण में आगे करेंगे।

(८) **'जहां वे (नाम) पुनरुक्त वाक्यों में आते हैं, वहां मन्त्रों के काल-निरूपण करने में सहायता देते हैं। जैसे—एवा न स्पृधः समजा समत्स्विन्द्र रारन्धि मिथतीरदेवी।**

---

1. These old blessings presumably contain prehistoric stock which passed on from ancient times to the Rishis of the ṚV, p. 17, Rigveda Repititions, Bloomfield.
2. p. 97, Vedic Index.
३. १।११२।१३, ऋ०
४. १।११२। ६, ऋ०
५. ६।१८।१३, ऋ०

विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो भारद्वाजा उत त इन्द्र नूनम् ॥ ६।२५।६॥
एवा ते वयमिन्द्र भुञ्जतीनां विद्याम सुमतीनां नवानाम् ।
विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो विश्वामित्रा उत त इन्द्र नूनम् ॥ १०।८९।१७॥

ये मन्त्र पूर्ण रूप से एक दूसरे से मिलते नहीं हैं। पिछले अर्धमान में ही मिलते हैं। पूर्व प्रदर्शित प्रमाणों की विद्यमानता में कोई भी संतोषजनक कल्पना नहीं की जा सकती। ब्लूमफील्ड ने सिद्ध किया है कि दशम मण्डल की ऋचा पीछे की है, यह उस का पूर्व-संस्कार मात्र है जो मिथ्या भाषा-विज्ञान द्वारा उस के मन पर पड़ चुका है।

ऋग्वेद में प्राचीन और नवीन ऋषि—मूर ने अनेक ऋचाएं देकर यह दर्शाने का यत्न किया था कि ऋग्वेद में नये और पुराने ऋषियों का वर्णन मिलता है।[1] ऋषि लोग स्वयं ही मन्त्र निर्माता थे। वे ऋचाओं में अपने पूर्वजों का स्मरण करते थे। ऐसा स्मरण कई स्थलों में नाम लेकर किया गया है और कई स्थलों में सामान्य रूप से।

इन का उत्तर विक्रम संवत् १९३३ में दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्थाली-पुलाकन्याय से दिया था। ऋग्वेद का मन्त्र है—**अग्निः पूर्वेभिऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।** १।१।२॥

मूर ने इस मन्त्र का प्रमाण देते हुए सायण-भाष्य का कुछ पाठ उद्धृत किया है। सायणानुसार पुरातन ऋषि भृगु, अंगिरा आदि हैं और नूतन मधुच्छन्दा आदि। सायण-प्रदर्शित यही भ्रान्ति थी जिस में न केवल सायण स्वयं ही उलझ गया प्रत्युत जिस से पाश्चात्य में सारा वेदाध्ययन ही पलट गया। राथ आदि स्कालर कहते रहे कि हम सायण से विभिन्न और अधिक सत्यार्थकरते हैं, पर इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं कि उनके लेखों पर संस्कार सायण ही का है।

अस्तु, प्रकृत विषय यह है कि 'पूर्व' और 'नूतन' पदों का क्या अर्थ है? यह पद निस्सन्देह सापेक्ष हैं। सापेक्ष और निरपेक्ष का ज्ञान वेद में भी पाया जाता है—**ये अर्वाञ्चस्तां उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्तां उ अर्वाच आहुः।**[2]

जो निम्नगति पदार्थ हैं उन्हीं को परे पहुंचे हुए कहते हैं। जो परे गये पदार्थ हैं उन्हें ही नीचे जाने वाले कहते हैं। भावार्थ यह है कि एक ही पदार्थ स्थानभेद से दो नामों से पुकारा जाता है। इसी प्रकार किसी एक की अपेक्षा दूसरा पूर्व है। और किसी अन्य की अपेक्षा वही नूतन है। 'पूर्व' शब्द काल की अपेक्षा को प्रकट करता है तथा पूर्णता की सीमा को भी प्रकाशित करता है।[3] मनु का प्रमाण है कि बालक अंगिरा भी अपने बड़ों का पिता, उन से बड़ा, स्थविर, और उन की अपेक्षा पूर्व था। ऋग्वेद में ही प्रमाण है—**न ते पूर्वे मघवन्नापरासो न वीर्यं। नूतनः कश्चनाप ॥** ५. ४२. ६.

'हे श्रेष्ठ-धन-युक्त विद्वान्, वा राजन् तेरे पराक्रम को न पहले, न पिछले, न नया कोई भी व्याप्त होता है।' ग्रिफिथ ने अपरासः का अर्थ भूतकाल में ही रखा है, अर्थात् पूर्वों से कुछ पिछले। यह

1. Vol. III, Original Sanskrit Texts, J. Muir, 1861
२. १।१६४।१९, ऋ०
३. पृ० १७, ऋग्मन्त्र व्याख्या, भगवद्दत्त, १९१७।

अर्थ युक्त नहीं। इस मन्त्र में 'पूर्व' की तुलना में 'अपर' पद आया है, अतः अर्थ है इस का 'पिछले।' ऐसी अवस्था में 'आप' पद व्यत्यय से वर्तमान काल का हो जायगा। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि राजा ऐसा होना चाहिये जिसे राजनीति-विशारद=पूर्व, राजनीति पढ़ने वाले=नूतन, तथा पढ़ना आरम्भ करने वाले=अपर, व्याप्त न कर सकें।

ऐसा अन्य मन्त्र है—**प्र पूर्वजे पितरा नव्यसीभिर्गीर्भिः कृणुध्वं सदने ऋतस्य। ऋ० ७. ५३. २**

(हे विद्वानों!) नई से नई स्तुतियों से सत्य के स्थान में पूर्वज पितरों को करो। यहां भी पूर्व का अर्थ विद्यापूर्ण-अधीत ही है। यदि इस शब्द के अर्थ का संबंध भूतकालस्थ जनों से होता तो '**कृणुध्वम्** करो' क्रिया जो वर्तमान में है, न आती। इस लिये वेद में '**पूर्व**' '**ऋषि**' आदि पदों के एकत्र आने से यह नहीं समझा जा सकता कि इन स्थलों में किन्हीं भूतकालस्थ व्यक्तियों का वर्णन है।

एक और प्रमाण देकर हम इस विषय की समाप्ति करेंगे—**दध्यङ् ह मे जनुषं पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदुः। ऋ० १. १३९. ९**

"मेरे जन्म को दध्यङ्, पूर्व अंङ्गिरा, प्रियमेध, कण्व, अत्रि और मनु जानते हैं। वे मेरे पूर्व के, (यह) मनु (है) जानते हैं।" हम ने **दध्यङ्** आदि पदों का अर्थ नहीं किया। हमारा अनुवाद तो इन्हें यौगिक मान कर होगा। परन्तु जो पूर्वपक्षी है वह इन्हें पुरुष विशेष मानता है। इस मन्त्र में आये '**विदुः**' क्रियापद का अर्थ मूर ने "**नो-जानते हैं**" किया है। ग्रिफिथ ने '**न्यू**' अर्थात् '**जानते थे**' किया है। ग्रिफिथ को सत्यार्थ में आपत्ति प्रतीत हुई, अतः उस ने विना प्रमाण अर्थ बदला है। ग्रिफिथादि पाश्चात्य लेखक व्यत्यय तो मानते ही नहीं, इस लिए उसे ऐसा अर्थ करने का अधिकार किस ने दिया? इस का अर्थ वर्तमान काल में ही घट सकता है। ऐसा होने पर यह कहना कि 'पूर्व अंङ्गिरा आदि ऋषि मेरे जन्म को जानते हैं; सिद्ध कर रहा है कि वेद की परिभाषा में ये शब्द यौगिक हैं और पूर्व शब्द का '**ज्ञानपूर्ण**' भी अर्थ है। इस प्रकार वेद में इन शब्दों से यह कदापि निश्चय नहीं हो सकता कि मन्त्रों में काल की दृष्टि से ही इनका प्रयोग है।

मन्त्र-रचना में साक्षी वैदिक ऋषि—मूर ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में लिखा है— "ऋग्वेद-वचन जिन में ऋषि अपने आप को **मन्त्र-निर्माता बताते हैं**—

"इस विभाग में, प्रथमतः, मैं उन वचनों को उद्धृत करना चाहता हूं, जिन में ऋषि स्पष्टतया अपने को मन्त्र रचयिता कहते हैं। वे कोई ऐसा विचार प्रकट नहीं करते, जिससे विदित हो कि उन्हें किसी अलौकिक (सूपरनैचूरल) कारण से सहायता या सफूर्ति हुई। तब, मैं कुछ और वचन उपस्थित करूंगा......जिन से पाठक को विचार होगा कि ऋषि मन्त्रों को अपने ही मनों की उपज समझते थे।

"मैं उन उद्धरणों को, जिन में ऋषि स्पष्टतया रचयिता होने का कथन करते हैं, उस विशेष '**क्रिया**' के अनुसार क्रम दूंगा, जिस के द्वारा यह भाव प्रकट किया गया है। क्रियाएं ये हैं (१) '**कृ**'=बनाना, (२) '**तक्ष**'=तरतीब देना; (३) जन्=जन्म देना या उत्पन्न करना।"

मूर के उत्तरवर्ती लेखक जो पाश्चात्य लेखकों का अनुसरण करते हैं, इस विषय पर निरन्तर इन्हीं प्रमाणों को उद्धृत करते आये हैं। मूर ने स्वयं बहुत मन्त्र दिये हैं। सब में मूल बात एक ही सी है, अतएव कतिपय मन्त्र देकर ही भ्रान्ति का निराकरण किया गया है।

पूर्वोक्त तीन धातुओं के साथ मूर ने **'स्तोम,' 'ब्रह्म,' 'वाह,' 'मन्द्रा,' मन्त्र** और **'वाक्'** आदि शब्द दिये हैं। प्रथम प्रमाण में 'स्तोम' शब्द आया है। उस मन्त्र में आये स्तोम पद का क्या अर्थ है? मूर ने 'हिम'=सूक्त अर्थ किया है। ग्रिफिथ सौङ्ग आफ प्रेज=स्तुति गीत अर्थ करता है। मैकडानल ने 'वैदिक इण्डेक्स' में ग्रिफिथ वाला अर्थ प्रामाणिक माना है। वस्तुतः **"स्तौति येन स स्तोमः।"** जिससे स्तुति करे वही स्तोम, यही इस पद का मूल अर्थ है। इसी मूलार्थ में प्रशंसित व्यवहार, स्तुति कर्म आदि अर्थ भी आ जाते हैं।

ऋग्वेद का एक मन्त्र है—

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया। अकारि रत्नधातमः॥ ऋ० १.२०.१.

ऋषि=मेधातिथि काण्व, तथा देवता=ऋभवः है।

जब एक पाश्चात्य लेखक वेद में ऐसा मन्त्र पढ़ता है तो उस के हृदय में यह बात पहले से बैठी होती है कि वैदिक कवि बहुत पुरातन अर्धसभ्य काल में जो स्व-निर्मित गीत गाया करते थे उन्हीं का संग्रह मात्र यह ऋग्वेद है। ऐसी स्थिति में ऐसे वेद-वचनों का वह यही अर्थ करता है कि वैदिक ऋषि स्वयं अपने को इन गीतों का कर्ता बताते हैं।

हमारे संस्कार उन से विपरीत हैं। हम आरम्भ से ही मानते चले आये हैं कि मनुष्य में 'अहंभाव' का ही केवल स्वाभाविक ज्ञान है। प्रकृति वा उसका कार्य दृश्य जगत, ज्ञान शून्य है। फिर भी जो संसार में ज्ञान दिखाई देता है, उस का निमित्त चाहे पुरुष ही हो, पर मूल चेतन ज्ञानमय परमात्मा के बिना अन्य कोई नहीं। जब ऐसा भाव मन में आता है तो इन वाक्यों का अर्थ अन्य हो जाता है। ऐसा अर्थ कल्पित नहीं। तदनुसार इस मन्त्र का भाव होगा—'दिव्य गुणयुक्त जन्म के लिये यह स्तुति=व्यवहार मेधावियों से (किया गया-मूर) किया जाता है, इत्यादि। मूर ने अर्थ किया है, "यह धन-प्रदाता 'हिम'=स्तोम दैवी जाति के लिये मुनियों द्वारा मुख से बनाया गया है।" ग्रिफिथ अनुवाद करता है—"दैवी कुल के लिये यह स्तुति गीत जो अत्यन्त धन देता है, कवियों से ओष्ठों द्वारा बनाया गया था।"

सत्यार्थ का अन्वेषण—हमने दोनों संस्कारों की उपज मन्त्रार्थरूप में प्रस्तुत की है। पर विचार है सत्य तत्व की गवेषणा। सर्वानुक्रमणी के अनुसार, जिस की साक्षी पूर्व प्रमाणित हो चुकी है, इस मन्त्र का ऋषि मेधातिथि काण्व है। देवता है इस का **"ऋभवः"**। पाश्चात्य पक्षानुसार मेधातिथि कहता है कि 'यह स्तोम=स्तुति-गीत=मन्त्र कवियों से बनाया गया।' वे कवि=गायक कौन हैं? पाश्चात्य लेखकों के अनुसार वे ऋभु हैं। ग्रिफिथ ने विलसन की सम्मति उद्धृत करते हुए माना है कि 'शुभ कर्मों द्वारा वे देवता हो गये।' पूर्व-वत् पुनः प्रश्न है कि क्या तीन ऋभु भ्राता एक ही मन्त्र रचने लगे थे, वही मन्त्र फिर मेधातिथि काण्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ? जब उनके अनुसार **'अयं'** सर्वनाम का प्रयोग मेधातिथि के लिए है तो ऋभु इस के रचयिता न रहे। और यदि ऋभु रचयिता हैं, जो कि असंभव है, तो **'अकारि'** क्रिया का प्रयोग भूतकाल वाला होने से यह सत्य नहीं। पुनश्च मेधातिथि भी इनका बनाने वाला नहीं हो सकता क्योंकि **'विप्रेभिः... अकारि'** पद प्रयुक्त हैं। अतः पाश्चात्य अर्थ भद्दा शब्दार्थ तथा सर्वथा त्याज्य है। यदि कोई कहे कि **'अयं स्तोमः'** इस सारे सूक्त को प्रकट करता है तो उसे कृपया सारा सूक्त पढ़ जाना चाहिए जिसमें पदे २ पूर्वोक्त आपत्तियां आती हैं। स्तोम का सूक्त अर्थ हेर फेर से होगा।

(प्रश्न) "अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षु"। ऋ० १०.८०.७. The Ribhus fabricated prayer for Agni. (ग्रिफिथ) 'अर्थात् ऋभुओं ने अग्नि के लिये प्रार्थना विस्तृत की।' इस मन्त्र में तो स्पष्ट लिखा है कि ऋभुओं ने प्रार्थनाएं=ब्रह्म=मन्त्र बनाये।

(उत्तर) जो अशुद्धि पहले मन्त्रार्थ में है वही यहां पर है। ऋभु का अर्थ है मेधावी। और अग्नि परमात्मा का भी नाम है। इस प्रकार मन्त्रार्थ है—'परमात्मा के लिये मेधावी जन ब्रह्म=वेद का विस्तार करते हैं।' युक्ति युक्त अर्थ हमारा ही है। इस और अन्य ऐसे मन्त्रों में कहीं पर भी स्तोम (='सूक्त',मूर) अथवा वेद मन्त्रों के ऋषियों द्वारा रचे जाने की कथा नहीं है।

'ब्रह्म पद'—मूर ने 'ब्रह्म पद' का अर्थ सर्वत्र 'प्रार्थना' किया है। यही अर्थ ग्रिफिथ भी स्वीकार करता है। कई स्थलों पर वह इस का 'हिम'=सूक्त अर्थ भी करता है। इस अर्थ के करने में इन लोगों के पास कोई प्रमाण तो है नहीं, हां, कल्पना भले ही करें। इस के विपरीत ब्रह्म शब्द के निम्न अर्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं: (१) वेद (२) ईश्वर (३) घन (४) उदक (५) अन्न (६) वाणी, इत्यादि। इस प्रकरण में जो मन्त्र मूर ने प्रमाणरूपेण उद्धृत किये हैं, उन्हीं पर यदि ऋषि दयानन्द का भाष्य देखा जाय तो अर्थ दूसरा हो जाता है। वेदार्थ-प्रकार इस विषय में निर्णायक होगा। पाश्चात्य मत तथा सिद्धान्त सत्य नहीं हैं। यह संक्षिप्त लेख विषय को पूर्णतः स्पष्ट करता है।

ऋग्वेद एक शाखा-विशेष न सिद्ध हो सका इसके निर्माता ऋषि लोग नहीं हैं; इसके संबंध में आज तक बौद्ध, जैन और आर्य इतिहास में ऐसा प्रमाण नहीं है कि यह मनुष्य-कृति है; पाश्चात्य लेखकों के अनुसार यह ऐतिहासिक काल से भी पूर्व का है, तो प्रश्न होता है कि क्या ऋग्वेद में ही इसके बनने आदि के विषय में कुछ लिखा है वा नहीं ? मूर ने निस्सन्देह कई मन्त्र देकर यह भी दर्शाया है कि अनेक मन्त्रों में ऋषियों को दैवीसत्ता से संबंध रखने वाला कहा गया है। मूर के यह अर्थ मान्य नहीं हैं। ऋग्वेद में एक मन्त्र है —

अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥ ४।२।६१॥

ग्रिफिथ का अर्थ है—"मैं पहले मनु था, मैं सूर्य था, मैं हूं कक्षीवान् ऋषि, पवित्र गायक आर्जुनि-पुत्र कुत्स को वश में (मास्टर) कहता हूं। मैं कवि उशन हूं। मुझे देखो। इस और अगली दो ऋचाओं के संबंध में ग्रिफिथ ने यह टिप्पणी दी है, "इन्द्र पहली तीन ऋचाओं का कहने वाला है, यद्यपि यह अस्पष्ट है कि मैं कक्षीवान् और उशन हूं, कहने से उसका क्या अभिप्राय है। कदाचित् वह अपने को सारी सत्ता के साथ एक करना चाहता है।"

शाब्दिक अनुवाद का बेढंगापन अनुवादक को स्वयं ही खटक गया है। इस अर्थानुसार पूर्वोक्त ऋचा में पांच व्यक्ति-नाम क्रमशः आये हैं, मनु, सूर्य, कक्षीवान्, कुत्स, और उशन। इनमें से पहले दो नामों के साथ भूतकालस्थ क्रिया का संबंध है और पिछले तीन वर्तमान काल के साथ संबंध रखते हैं।

इन मन्त्रों पर सर्वानुक्रमणीकार लिखता है—**अहं मनुः सप्ताद्याभिस्तिसृभि रिन्द्रमिवात्मान-मृषिस्तुष्टा वेन्द्रो वात्मानं...............।**

इसी वचन को देकर सायण कहता है—'**आत्मानमिन्द्ररूपेण वामदेवः स्तुतवान्। यद्वा इन्द्र एवात्मानं स्तुतवान्। अतो वामदेववाक्यपक्षे वामदेव ऋषिरिन्द्रो देवता। इन्द्रवाक्यपक्षे त्विन्द्र ऋषिः परमात्मा देवता।**'

अर्थात्—'वामदेव ने इन्द्ररूप से अपनी स्तुति की। अथवा इन्द्र ने ही अपनी स्तुति की। अतः वामदेव के पक्ष में वामदेव ऋषि और इन्द्र देवता। इन्द्र के पक्ष में इन्द्र ऋषि और परमात्मा देवता है।'

ग्रिफिथ ने भी सायण का ही भाव नकल किया है, "दि डियटी आफ दि फर्स्ट थ्री स्टेन्जास इज सैड टु बी आईदर इन्द्र और परमात्मा।"

अनुक्रमणी के सतत अध्ययन से यह नहीं मिला कि अनुक्रमणी वचन से सायण ने दो पक्षों में दो देवता कैसे निकाले। बृहद्देवता में भी विशेष नहीं लिखा है—"अहमित्यात्मसंस्तावस्तृचे स्तुतिरिवास्य हि। ४.१३५॥

यहां 'अस्य' सर्वनाम इन्द्र का द्योतक है। भाव यही है कि इन्द्र के समान अपनी स्तुति में यह वाक्य है। यदि कोई सायण का भक्त, **इन्द्रमिवात्मानमृषि स्तुष्टावेन्द्रो आत्मानम्**, का यह अर्थ करे कि इन्द्र ने आत्मा=परमात्मा की स्तुति की तो हम कहेंगे कि यहां दो बार **'आत्मन्'** शब्द आया है। प्रकरण को विचारने से सत्यार्थ दोनों स्थलों पर एक ही प्रतीत होता है। यदि सायणानुसार इन्द्र ने परमात्मा की स्तुति की तो वामदेव ने भी उसी की स्तुति की। सायण का यह लिखना ही निरर्थक है कि 'इन्द्ररुप' से वामदेव ने आत्म स्तुति की। अन्यत्र **'ऐन्द्रोलव आत्मानं तुष्टाव'** (१०. ११६) और **पौलोमी शच्यात्मानं तुष्टाव** (१०.१५६) दोनों स्थलों पर **'आत्मानम्'** का अर्थ सायण ने भी **'स्वात्मानम्'** ही किया है।

सायण के भ्रम का कारण—अवैदिक-देवता वाद का अनुसरण करते हुए सायण के लिए यह कठिन था कि वह 'इन्द्र' शब्द का अर्थ यहां ईश्वर लेता। वह तो इन्द्र को एक देवता-विशेष मानता था। अतः उसे पूर्व-प्रदर्शित मिथ्या कल्पना करनी पड़ी। सर्वानुक्रमणी के वाक्य का सत्य अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आदि में इसी वा अगले दो मन्त्रों द्वारा इन्द्र=परमात्मा ने अपनी स्तुति की अर्थात् अपने यथार्थ गुण स्पष्ट किए, वैसे ही वामदेम ऋषि भी इन मन्त्रों के अर्थों को देखकर अपने आत्मा के गुण, कर्म, स्वभावों का जानने वाला हुआ, और इस मन्त्र द्वारा ही उसने इन्द्र अर्थात् परमात्मा के ही दिव्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया। देवता इन मन्त्रों का चाहे इन्द्र कहें अथवा आत्मस्तुति बात एक ही है।

ग्रिफिथ कहता है—'इन्द्र पहली तीन ऋचाओं का कहने वाला है।' अर्थात् कुछ भी हो, उसके मतानुसार इन्द्र देहधारी मनुष्य है। वह इन्द्र वामदेव से निश्चय ही पूर्वकाल का होगा। उसी ने यह मन्त्र कहा। अब यदि वह इन्द्र अनृतवादी नहीं, तो—

(१) 'मैं पुराकाल में मनु था, मैं सूर्य था।' इस कथन का क्या अर्थ है। **"अफोरटाईम**= पुराकाल में मैं मनु था, ऐसा वर्णन यही बताता है कि इन्द्र इस जन्म की बात नहीं करता। ग्रिफिथ ने **'अभवन्'** क्रिया का अर्थ **'पुराकाल में था'** किया है। तो क्या इन्द्र किसी पहले जन्म का वर्णन कर रहा है? ग्रिफिथादि पाश्चात्य लेखक वेद के काल में अभी सिद्धान्त रुप से पुर्नजन्म का कहीं चिन्ह-चक्र भी नहीं पाते। तो फिर इन्द्र के कथन का कुछ अर्थ भी है या नहीं? क्या एक ही जन्म में वह अपने नाम बदल रहा था?

ग्रिफिथ यहां चुप है। वह क्या, अन्य पाश्चात्य लेखक भी यहां मौन हो जाएंगे या इसे पुराने कवियों की मिथ्या-कल्पना ही कहेंगे।

(२) 'मैं कक्षीवान्, कुत्स, उशन हूं।' इसका पुनः क्या प्रयोजन है? ग्रिफिथ ने यहां स्पष्ट कह दिया है कि उसे इसका भाव पता नहीं लगा। उसने सम्भावना की है कि कदाचित् इन्द्र सब सत्ता के

साथ अपनी एकता बताना चाहता है। ऐसी सम्भावना पर अन्यत्र विवाद होगा कि क्या वैदिक काल में यह विचार कहीं था भी या नहीं ? क्या यही एकता बताते ग्रिफिथानुसार वह तीसरे मन्त्र में कहेगा कि—'आई डिमालिश्ड शम्बरस फोर्टस।' अर्थात् मैंने शम्बर के दुर्ग नष्ट किये। कहां 'सर्वसत्ता से एकता' प्रदर्शन और कहां यह नाश ?

मन्त्र-अनुवाद में ग्रिफिथ की भ्रान्ति— प्रथम मन्त्र के प्रथम पाद में **'अभवम्'** क्रिया है। और द्वितीय मन्त्र के प्रथम पाद में **'अददाम्'** क्रिया है। दोनों लङ्-लकार में हैं। व्यत्यय आदियों को न मानने वाले, अक्षरानुवादक पाश्चात्य लेखक **'अभवम्'** का अर्थ करता है 'पुराकाल में था' और 'अददाम्' का अर्थ करता है "मैंने दी है।" एक ही लकार में साथ साथ दो क्रियाएं, और इतना भिन्न अर्थ क्या यही है इस अर्थ की निष्पक्षता ?

यही नहीं, पाश्चात्य लेखकों के लिये तो और भी बड़ी कठिनाई है। वे शम्बर को देहधारी व्यक्ति मानते हैं। दिवोदास के साथ उसके युद्धों का वर्णन वे ऋग्वेद में पढ़ते हैं, यह घटनाएं उनके काल्पनिक काल-क्रमानुसार बहुत पहले की हैं, जब कि कुत्स और कक्षीवान् आदि ऋषि उत्पन्न भी न हुए थे। फिर प्रथम मन्त्र में इतनी पुरानी घटनाओं वाले इन्द्र के साथ उनका उल्लेख कैसे ? यदि वे कह दें कि मन्त्र वामदेव ने ही बनाये थे तो वे उस का शम्बर के साथ युद्ध कैसे सिद्ध करेंगे। वे समझते होंगे कि जैसे बुद्धि-शून्य जन आज इन का अनुकरण करके इनकी मिथ्या-कल्पनाओं को मान रहे हैं, वैसे ही वामदेव के काल के लोग वामदेव आदि की गप्पे मान लेते होंगे। अन्यथा पाश्चात्य लेखक ऐसी सारहीन बातें क्यों लिखते ?

सायण का अर्थ— सायण ने अर्थारम्भ में लिखा है—**इदमादिमन्त्रत्रयेण गर्भे वसन्वामदेव उत्पन्नतत्वज्ञानः सन् सार्वात्म्यं स्वानुभवं मन्वादिरूपेण प्रदर्शयन्नाह। अहं वामदेव इन्द्रो वा मनुरभवम्। सर्वस्य मन्ता प्रजापतिरस्मि। अहमेव सूर्यश्च सर्वस्य प्रेरकः सविता चास्मि।...कक्षीवान् दीर्घतमसः पुत्र एतत्संज्ञक ऋषिरप्यहमेवास्मि।** यहां पर सायण ने निम्नलिखित भूलें की हैं—

(१) मनु और सविता शब्दों को यौगिक बनाकर तो कुछ ठीक अर्थ किया था, पर आगे चल कर कक्षीवान् आदि पदों को ऋषियों का नाम बनाकर उसने पूर्वापर विरुद्ध अर्थ किया है। आर्य्येतिहास में सूर्य का पुत्र मनु कहा है। यहां मन्त्र में मनु नाम पहले था और सूर्य शब्द पीछे। इस उलझ से बचने के लिए उसने इन शब्दों का तो सामान्य धात्वर्थ कर दिया, पर अगली बात वैसी ही रही।

(२) सायण के अनुसार इन्द्र मनुष्य था वा देवता ? मनुष्य तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि तीसरे मन्त्र में वह यह कहता है कि 'मैंने शम्बर के नगर नष्ट किये'। उसके अनुसार वेद में अन्यत्र यह वर्णन देवता का ही है। यदि इन्द्र देवता है तो जब उसने यह मन्त्र बोला होगा तो क्या मनु, कक्षीवान् आदि ऋषि हो चुके थे ? दूसरे मन्त्र में **'आर्याय'** के साथ सायण ने **'मनवे'** जोड़ दिया है अर्थात् 'मैंने आर्य मनु को भूमि दी।' यह मन्वन्तर के आदि में हुआ होगा। तब कुत्स आदि न थे। फिर प्रथम मन्त्र में क्रिया का प्रयोग वर्तमान काल में है, और इन्द कहता है कि मैं कुत्स हूं। यह समस्या तो वैसी ही उलझी रही। यदि अज्ञान से यह कह दें कि सब मन्वन्तरों में वही व्यक्ति पुनः पुनः आते हैं और देवता सर्वज्ञ होने से सब कुछ जानते हैं तो इसमें कोई प्रमाण नहीं। वैसे भी यह असंभव है क्योंकि ऐसा होने पर किसी की मुक्ति ही न होगी।

(३) सायणानुसार यह ऋचाएं वामदेव ने गर्भ में बोली थीं। 'मन्दसानः=सोमेन माद्यन् के अर्थानुसार' गर्भ में उस वामदेव को सोम का मद कहां से चढ़ गया था। यदि कल्पना करें कि वामदेव को उस बात का ज्ञानमात्र हुआ था, तो इन्द्र को भी ज्ञान ही होना चाहिये। ऐसी अवस्था में पहले मन्त्र में 'अस्मि' अर्थात् 'मैं हूं कक्षीवान्' वर्तमान काल में कहना निरर्थक हो जाएगा। पाश्चात्य लेखकों और सायण का अनुकरण करने वालों को यहां बड़ी आपत्ति है।

दयानन्द सरस्वती का अर्थ—(१) मैं (ईश्वर) मननशील हूं (व्यत्यय से) और सर्व प्रकाशक, मैं सब सृष्टि की कक्षा=परम्परा से युक्त, मन्त्रार्थवित् मेधावी हूं। मैं सरल विद्वान् से उत्पन्न किये गये वज्र को सिद्ध करता हूं। मैं सब का हिती, पूर्ण विद्वान् हूं, मुझे (योग से) देखो।

(२) मैं धार्मिक राजा को भूमि देता हूं। मैं दानशील मनुष्यों के लिए दृष्टि प्राप्त कराऊं। मैं प्राण प्राप्त कराऊं। कामना करते हुए विद्वान् लोग, बुद्धि के लिए मुझे प्राप्त होते हैं।

(३) मैं आनन्दस्वरूप प्रथम, मेघ के असंख्य प्रवेशों में उत्पन्न निन्नावें पदार्थों को साथ प्रेरणा करूं। सब में मिलने योग्य(जगत् में) जो प्रकाशदाता अतिथियों को प्राप्त (उसकी) रक्षा करूं (उसे जानो)।

यह अर्थ पूर्वोक्त सब आक्षेपों से रहित है। इस पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। इस के अनुसार इन मन्त्रों की रचना किसी ऋषि की नहीं प्रत्युत यह रचना तो ऋषियों के ऋषि, परमर्षि परमात्मा की अपनी है।

(प्रश्न) गीता में भी तो इसी प्रकार की रचना है, क्या वह भी ईश्वर की ही है।

(उत्तर) भगवद्गीता तो अभी कल की पुस्तक है। व्यास इस के रचयिता थे। इस नये काल की तो वैदिक काल से तुलना ही नहीं हो सकती। और श्रीकृष्ण ने परमात्मा को जान कर अपने में परमात्मा की ओर से अहंभाव धारण किया था।

(प्रश्न) शतपथ ब्राह्मण में तो यही कहा है कि ऋषि वामदेव ने यह मन्त्र कहा था।

(उत्तर) शतपथ का सारा पाठ निम्न है—

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथऽर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ॥२१॥ तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे। अहंमनुरभवं सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। १४, प्र० ३, ब्रा० १

अर्थात् 'ब्रह्म ही इस सृष्टि के आरम्भ में था। वह अपने को सदा जानता हुआ, मैं ब्रह्म हूं। उसके सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ। विद्वानों में से अविद्या-निद्रा से उठ कर जो ब्रह्म को ऐसा जानता है वही उसका आनन्द पाता है। ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में से (जो अविद्या-निद्रा से जागता है, वह ब्रह्म सुख को प्राप्त होता है) उस ही ब्रह्म को देखता हुआ, वामदेव ऋषि उसे प्राप्त हुआ। वामदेव को यह ज्ञान भी प्राप्त हुआ कि) मैं मनु था, मैं सूर्य था। सो अब भी जिसे यह ज्ञान होवे कि मैं ब्रह्मस्थ हूं, वह इस सर्वज्ञान और सर्वसुख को पाता है।" यह है अर्थ ब्राह्मण की श्रुति का। यहां लिखा है कि वामदेव को ज्ञान हुआ कि मैं मनु था, मैं सूर्य था। वह पहले जन्म में इन नामों से प्रसिद्ध होगा। यहां सारा मन्त्र नहीं दिया। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में प्रतीक प्रायः अपने ही वेद वा शाखा की होती हैं। अन्य वेदों के मन्त्र सारे उद्धृत होते हैं। यह मन्त्र ऋग्वेद का है, पर यहां शतपथ में इसकी प्रतीक मात्र है। इसी से निश्चय होता है कि यद्यपि वामदेव ऋषि तो सारे मन्त्रों का था, पर अपने सम्बन्ध में उसे इतना ही ज्ञान उत्पन्न हुआ कि

मैं पहले जन्मों में मनु और सूर्य था। यदि याज्ञवल्क्य का अभिप्राय सारे मन्त्रस्थ पदों से होता। तो वह सारा मन्त्र देता। तथाच यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वामदेव को ज्ञानमात्र हुआ। यह वेद मन्त्र के कुछ शब्दों द्वारा प्रकट किया गया। वेद मन्त्रों के पदों को लेकर अनेक कार्य ऐसे ही चलाये जाते हैं। जैसे अब भी कोई कह देता है—**'सत्यं ब्रवीमि'** (ऋ० १०.११७.६) इति। मैं सत्य कहता हूं इत्यादि। **अहमेव स्वय-मिदं वदामि**। (१०.१२५.५) मैं ही स्वयं यह कहता हूं। न ही वामदेव ने यह मन्त्र बनाया और न सायणा-नुसार उसने इन्द्र रूप से स्तुति की।

(प्रश्न) यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अनादि वेद के अनुसार ही पहले दो जन्मों में उस का नाम हुआ।

(उत्तर) आश्चर्य नहीं है। नाम संसार में थोड़े से हैं। उन्हीं से सब काम चलाया जाता है। जहां-जहां आर्य्य सभ्यता है, वा थी वा होगी वहां-वहां ऐसे ही नाम होंगे। सो पिछले जन्मों में कभी-कभी उसके यह नाम हो गए, इस में कोई आश्चर्य नहीं।

(प्रश्न) ऐतरेय आरण्यक में वामदेव के सम्बन्ध में क्या लिखा है?

(उत्तर) **'तदुक्तमृषिणा। गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्** (ऋ०४. २७.१) **इति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच। स एवं विद्वान्.......... अमृतः समभवत्समभवत्॥"** २.५॥

"अर्थात् ऋषि=वेद परमात्मा से कहा गया। गर्भ में वर्तमान मैं इन पृथिव्यादिकों का विद्वानों के सब जन्मों को जानता हूं। अनेकों लोहमयी नगरियां मेरी रक्षा करती हैं। तदनन्तर मैं श्येन=वाज पक्षी के वेग के समान (इस शरीर से) निकलूं।" गर्भ में ही वास करते हुए वामदेव ऐसे बोला। वह (वामदेव)ऐसे जानता हुआ इस शरीर के क्षय होने पर अमृत हो गया।" यहां तो स्पष्ट पहले **'ऋषिणा'** और अन्त में **'वामदेव एवमुवाच'** कह कर भेद प्रकट कर दिया है कि वेद में ऐसा आया है। ऋषि का वेदार्थ सुप्रसिद्ध है। ऐसे प्रकरणों में जहां-जहां भी ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है वहां वेद वा परमात्मा के अभिप्राय से ही है। उसी वेदान्तर्गत तथ्य को वामदेव ने जाना, और जान कर वह भी उसी मन्त्र के द्वारा अपना भाव प्रकट करता है। अनेक लोगों का कहना है कि वामदेव को गर्भ में ही सब जन्म मरण सम्बन्धी रहस्यों का ज्ञान हो गया,[1] यह संभव हो वा न हो, परन्तु इतना तो सम्भव और सत्य है कि योग-शक्ति द्वारा कोई सिद्धयोगी अपने चित्त को किसी गर्भस्थ जीव के चित्त का स्वामी वना के गर्भ की सारी दशाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

यदि यह वाक्य वामदेव का रचा होता तो आरण्यक पाठ में दो बार पूर्व-प्रदर्शित **'उक्तम्'** और **'उवाच'** क्रियाएं न आतीं। वहां तो स्पष्ट यही कहा है कि जैसे वेद में कहा है, वैसे ही वामदेव बोला। इसी भाव से इस और **'अहं मनुरभवम्'** (ऋ० ४. २६. १) को ध्यान में रख कृष्णद्वैपायन व्यास ने कहा था—**शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्** (१.१.३०) अर्थात् इन मन्त्रों में उपदेश परमात्मा की ही ओर से है। ये मन्त्र वामदेव के रचे नहीं हैं।

इस मन्त्र पर कीथ की टीका और टिप्पणी—ऐतरेय आरण्यक का भाष्य करते हुए कीथ ने लिखा है—

---

१. सायण ने अथर्व १८.३.१५ में भी यही लिखा है—"गर्भावस्थ एव सन् उत्पन्नतत्वज्ञानः स्वस्य सार्वा-त्म्यम् अनुसंदधौ।"

A poet says (Rv. IV. 27.2) 'Within the womb, I learned all the races of these gods. A hundred brazen forts restrained me, but like a hawk I swiftly descended downward. Vāmadeva lying in the womb thus declared this. Knowing this ....he became immortal.

इसी मन्त्र पर कीथ की यह टिप्पणी है—"(तीन जन्मों के) प्रसंग में यह ऋचा बहुत अस्पष्ट है। शंकर, आनन्दतीर्थ और सायण ने कहा है कि इस मन्त्र में मुक्ति प्राप्ति से पूर्व के वामदेव के असंख्य जन्मों का वर्णन है। इस वाक्य से यह अर्थ नहीं निकल सकता। पूर्वापर प्रकरण से यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि वामदेव को आत्मा के तीन जन्मों का ज्ञान हुआ और वह अमृत हो गया। मुक्ति का सिद्धान्त तो इस उपनिषद् लिखने वाले को स्पष्ट ही अज्ञात है। यदि ज्ञात था, तो यह स्पष्ट किया जाता।"

यह है सम्मति कीथ की, जो इंगलैण्ड का उच्चकोटि का वैदिक विद्वान् समझा जाता है। वह यहां 'ऋषि' का 'पोइट' अर्थ करता है। वैदिक इण्डैक्स में भी उस ने यही अर्थ स्वीकार किया है। पर यह धात्वर्थ को जानता हुआ भी अपने अनार्ष संस्कार के कारण उसे छिपा रहा है।

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे(यजु०३४.५५) – इस वेद वचन का क्या अर्थ करेगा ? सर्वोत्तम द्रष्टा होने से परमात्मा का नाम भी ऋषि है। इस का विशेष व्याख्यान आगे किया जायगा। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं आरण्यक आदि ग्रन्थों में ऐसे स्थलों पर ऋषि शब्द का अर्थ परमात्मा वा वेद है।

आरण्यक के प्रकरण में यह ऋचा अस्पष्ट नहीं है। वहां यही कहा है कि आत्मा पुरुष (पिता) से निकल कर स्त्री (माता) के गर्भाशय में जाता है। यह आत्मा का प्रथम जन्म है। पुनः माता के गर्भ से बाहर आता है। यह दूसरा जन्म है। फिर सब कृत्य आदि करके आयु भोग कर चल देता है। चलते ही पुनः मनुष्य के वीर्य में भोजन आदि द्वारा प्रवेश करता है।

वेद में परमात्मा ने शिक्षा दी है—अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः।[1] अर्थात् एक शरीर को त्याग कर यह आत्मा जल वा प्राणों में जाता है, अथवा ओषधियों में जाता है। यहां से पुनः पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। यही इस आत्मा का तीसरा जन्म है। अपने और अन्य देवों= विद्वानों के इन्हीं सब जन्मों को वामदेव जानता गया। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है -- त्रिर्ह वै पुरुषो जायते।

वामदेव को इन सब बातों का ज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान योग द्वारा किसी गर्भस्थ बालक में चित्तस्थिति करके हो गया। और वह मुक्त हुआ। मुक्ति और पुनर्जन्म का वर्णन वेद और उपनिषद् आदि शास्त्रों में बड़े स्थलों पर आया है। ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य और उनके अन्य ग्रन्थों में भी इन विषयों का वेद प्रमाणों द्वारा प्रतिपादन किया है। जब तक उन के खण्डन का कोई साहस न करे, उसे इस विषय में कुछ कहना ही न चाहिये। कीथ आदि पाश्चात्य लेखकों का ऐसा लेख, कि (मुक्ति) का सिद्धान्त इस उपनिषद् लिखने वालों को स्पष्ट ही अज्ञात था, मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि वेद से लेकर अन्य आर्षशास्त्रों में अमृत होना मुक्ति का ही पर्याय है। अमृतत्वाय गातुम् में स्पष्ट मोक्ष प्राप्ति के लिये कहा है।[2] पुनश्च—शमी-भिरमृतत्वमाशुः में[3] कहा है कि शुभ कर्मों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। जीवात्मा तो वैसे भी अमृत है, पर

---

१. १०. १६. ३. ऋ०
२. १.७२.६. ऋ०
३. ४. ३४. ४. ऋग्वेद

जन्ममरण के बन्धन-मर्त्यावस्था से पृथक् होकर ब्रह्म में स्वेच्छा पूर्वक विचरने को अमृतावस्था वा मोक्ष कहा है।

ज्ञान-सूक्त

ऋग्वेद १०. ७१ सूक्त का विषय ज्ञान है। ज्ञान कहां से आया, ज्ञान का मनुष्य जीवन पर क्या प्रभाव है, ज्ञान का क्या फल है, इत्यादि विषयों का इस सूक्त में अत्यन्त सुन्दर और रुचिकर वर्णन है। चिरकाल से आर्य्य ऋषि इस सूक्त की महिमा गायन करते आये हैं। आर्य्य विद्वानों ने भी इस के अर्थ का गौरव अनुभव किया है।[1]

इस सूक्त के विषय में सर्वानुक्रमणी का वचन है - 'बृहस्पते बृहस्पतिर्ज्ञानं तुष्टाव नवमी जगती ॥

स्वामी हरिप्रसाद ने न जाने किस 'प्रज्ञासागर' के संस्करण से वेद सर्वस्व के पृ० १० पर सर्वानुक्रमणी का यह पाठ ऐसे उद्धृत किया है—"बृहस्पते, एकादश, बृहस्पतिर्ज्ञानं त्रिष्टुप्, नवमी जगती।" एकादश' मन्त्र संख्या की तो पिछले सूक्त से अनुवृति आती थी, तब भला इस को मूलपाठ में ठोसने की क्या आवश्यकता थी? पुनः "बृहस्पतिर्ज्ञानं त्रिष्टुप्।" इस का तो अर्थ ही नहीं बनता। सर्वानुक्रमणी की परिभाषा है, '(अनादेशे) त्रिष्टुप्छन्दः' (१२.६) अर्थात् 'जहां त्रिष्टुप् छन्द हो वहां कुछ नहीं कहा गया।' पुनः ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा के विरुद्ध पाठ देने से तो यही ज्ञात होता है कि उद्धृत करने वाले ने ध्यान से ग्रन्थ पढ़ा ही नहीं। पूर्व सूक्त से यहां मन्त्रों की संख्या की अनुवृत्ति आई है। अर्थात् '(इस सूक्त में ११ मन्त्र हैं)प्रथम पद् 'बृहस्पते' है। बृहस्पति नाम परमात्मा, और पश्चात् किसी देहधारी ऋषि ने इस सूक्त द्वारा ज्ञान-स्तुति की है। (अनुक्त छन्द होने से) 'त्रिष्टुप्' समझना, पर नवम मन्त्र 'जगती' छन्द वाला है।

प्रथम मन्त्र—बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानः।

यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ १०. ७१. १।

अर्थ—(बृहस्पते) हे वाणियों के स्वामिन् ईश्वर! (यत्) जिस (प्रथमम्) आदिम (वाचः) वाणी के (अग्रम्) मूल को (नामधेयम् ,दधानाः) नामादि रखते हुए (विद्वान्) (प्र ऐरत) उच्चारण करते हैं। (यत्) जो (एषाम्) इन सब से (श्रेष्ठम्) उत्तम (यत्) जो (अरिप्रम्) (दोषरहित) (आसीत्) है, (तत्) वह (एषाम्) इन (ऋषियों) की (गुहा) बुद्धि में (निहितम्) छिपी रहती है। (प्रेणा) (वही ईश्वर के साथ) प्रेम से (आविः) प्रकाशित होती है।

इस प्रथम मन्त्र में ज्ञान की प्रशंसा की गई है। ज्ञान यहां वाक्=ईश्वरीय वाक् का पर्याय है। अन्यत्र यजुर्वेद में परमात्मा कहता है—**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**[2] अर्थात् 'जैसे इस कल्याणी वाणी को मैं बोलता हूं, सब जनों के लिये।' जब-जब मनुष्यों को निर्मल और गम्भीर ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, जब-जब उन्हों ने संसारस्थ अनेक पदार्थों का नामकरण करना होता है, तभी वे इस ज्ञान को प्राप्त करते हैं। आदि में परमात्मा शब्दार्थसंबंधरूप से इस वाणी को ऋषियों के अन्दर प्रकाशित करता है और पीछे उसी का अर्थज्ञान कराता है। अब मन्त्रस्थ पदों को देखो। इस वाणी के यह गुण कहे हैं।

---

१. वर्तमानकाल में इस का असाधारण महत्व बताना पण्डित राजाराम ही के भाग्य में आता है। उन्होंने ही चार वर्ष हुए स्वव्याख्या सहित यह सूक्त मुझे सुनाया था।

२. २६.२. यजुर्वेद

(१) 'प्रथमम्' आदिम वाणी है ।

(२) 'वाचः, अग्रम्' आज जितनी मानव वाणियां संसार में हैं, उन सब का मूल है । वेदवाणी ही से सब भाषाए निकली हैं और वेद-वाणी का भी मूल 'ओ३म्' है ।

(३) आदि सृष्टि में जब पदार्थों के नाम रखने की आवश्यकता होती है, तब यही वाणी सहायकारी होती है ।

(४) 'श्रेष्ठम्' जो सर्वश्रेष्ठ वाणी है । बड़ी विस्तृत, बड़ी विशाल, मानव बुद्धि में आने वाले व्याकरण के संकुचित नियमों से कहीं परे, दिव्य रूपों में उपस्थित है ।

(५)'अरिप्रम्' दोषरहित है । सब संसार के लिये एक सी । किसी देश विशेष की भाषा नहीं ।

(६) 'गुहा, निहितम्' वह गुहा, ऋषियों की बुद्धियों में थी ।

(७) 'प्रेणा, आविः' अनेक जन्म जन्मान्तरों में जो परमात्मा के साथ प्रेम करते आये हैं इन के अन्तर से प्रकाशित होती है । उनकी अपनी बनाई नहीं ।

वेदवाणी का कितना दिव्य वर्णन है ? यह आन्तरिक साक्षी है, जिसकी कसौटी पर वेद मानव रचना से परे चला जाता है ।[1]

तीसरा मन्त्र इस बात को और भी स्पष्ट व्यक्त करता है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि संनवन्ते ।। ऋ० १०.७१.३

अर्थ—(यज्ञेन) परमात्मा की कृपा से (वाचः) वाणी की (पदवीयम्) प्राप्ति की योग्यता को (आयन्) (जब मनुष्य) प्राप्त होते हैं । (अर्थात् मानव जन्म धारण करके विचार के योग्य होते हैं) (ताम्) (तब) उस वाणी को (अनु, अविन्दन्) अनुकूलता प्राप्त करते हैं, (कहां से ? उत्तर,) (ऋषिषु प्रविष्टाम्) ऋषियों=वेदार्थ वेत्ताओं में प्रविष्ट हुई हुई को । (ताम्, आभृत्य) उस वाणी को लेकर, (वि अदधुः) फैलाते हैं (पुरुत्रा) बहुत=सब स्थलों में, (ताम्) उस वाणी को (सप्त, रेभाः) सात स्तोता (सम्, नवन्ते) स्तुति करते हैं ।

इस मन्त्र में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—

१. 'ऋषिषु 'प्रविष्टाम्' ऋषियों में प्रविष्ट हुई वाणी को उन्हों ने पाया । वह ऋषियों की अपनी वाणी न थी, प्रत्युत कहीं से उन में आ गई थी । उस वाणी में होने वाले वेद मनुष्य रचित कैसे हो सकते हैं ?

२. जब-जब ऋषि उत्पन्न होते हैं, तब-तब वेदार्थ स्पष्ट होता है, और वह सब मनुष्यों में फैला दिया जाता है । आदि सृष्टि से यह होता आया है ।

अब भी जब संसार में वेद का सत्यार्थ लुप्त हो चुका था, दयानन्द ऋषि ने आकर पुनः सत्यार्थ के फैलाने की चेष्टा की है । उसी महात्मा के परिश्रम के कारण मेरे जैसे साधारण व्यक्ति भी इस मार्ग में लग रहे हैं । हमें पूर्ण विश्वास है कि स्वल्पकाल में ही पूर्व और पश्चिम के पाठक जो सम्प्रति वेद का अनर्थ कर रहे है , सत्यार्थ को ग्रहण करेंगे और वेद पुनः सर्व स्थलों में फैला दिया जायगा ।

यह है वेद की एक दो आन्तरिक साक्षियां, जिन के सहारे पर कहा जा सकता है कि वेद की रचना मानव मन, कर्म और वाणी से परे है, हां बहुत परे है । ★

---

१. इस मन्त्र पर ऐतरेय आरण्यक १.३.३ में विचार किया गया है । पाठक उसे भी देख लें ।

त्रयोदश अध्याय

ऋग्वेद की शाखाएं

आचार्य पैल

व्यास मुनि से ऋग्वेद पढ़ने वाले शिष्य का नाम पैल था। पाणिनीय सूत्र के अनुसार पैल पिता और पैल पुत्र हैं।[1] एक अन्य पाणिनीय सूत्र के अनुसार माता पीला का पुत्र पैल है।[2] भगवान् व्यास महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय ऋत्विक् कर्म के लिए पैल को अपने साथ लाए थे। इस विषय में महाभारत में लिखा है—पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत्।[3] अर्थात् उस यज्ञ में धौम्य के साथ वसु का पुत्र पैल होता का कर्म कर रहा था।

इससे पता लगता है कि यह पैल वसु का पुत्र था। होता कर्म ऋग्वेदीय लोग करते हैं, अतः बहुत सम्भव है कि यह पैल व्यास का ऋग्वेद पढ़ने वाला शिष्य ही हो। पुराणों में लिखा है कि व्यास से ऋग्वेद पढ़कर पैल ने उसकी दो शाखाएं कीं। एक को उसने बाष्कल को पढ़ाया और दूसरी को इन्द्रप्रमति को। इन्द्रप्रमति की परम्परा में उसके चरण की आगे अनेक अवान्तर शाखाएं बनीं। इन्द्रप्रमति की संहिता माण्डूकेय को मिली। उससे यह सत्यश्रवा, सत्यहित और सत्यश्रिय को क्रमशः मिलती गईं। ये तीनों नाम भ्राताओं के से प्रतीत होते हैं। सम्भव है कि ये तीनों माण्डूकेय के शिष्य हों, परन्तु पुराणों में ऐसा नहीं लिखा। अनुशासन पर्व, अध्याय ८, श्लोक ५८-६७ तक गार्त्समद वंश का वर्णन है। उस वंश में वागिन्द्र के पुत्र का नाम प्रमति बताया गया है। उसके संबंध में वहीं लिखा है—

प्रकाशस्य च वागिन्द्रो बभूव जयतांवरः।
तस्यात्मजश्च प्रमति वेदवेदाङ्गपारगः॥ ६४॥

अर्थात्– वागिन्द्र का पुत्र प्रमति वेद-वेदाङ्ग पारग था। इस प्रमति का विशेषण वेदवेदाङ्ग पारग है। यही पैल का शिष्य प्रतीत होता है। यह सारी परम्परा निम्न तालिका से स्पष्ट है—

---

१. पैलादिभ्यश्च, २।४।५९॥
२. पीलाया वा, ४।१।११८॥
३. सभापर्व, अध्याय ३६, श्लोक ३५
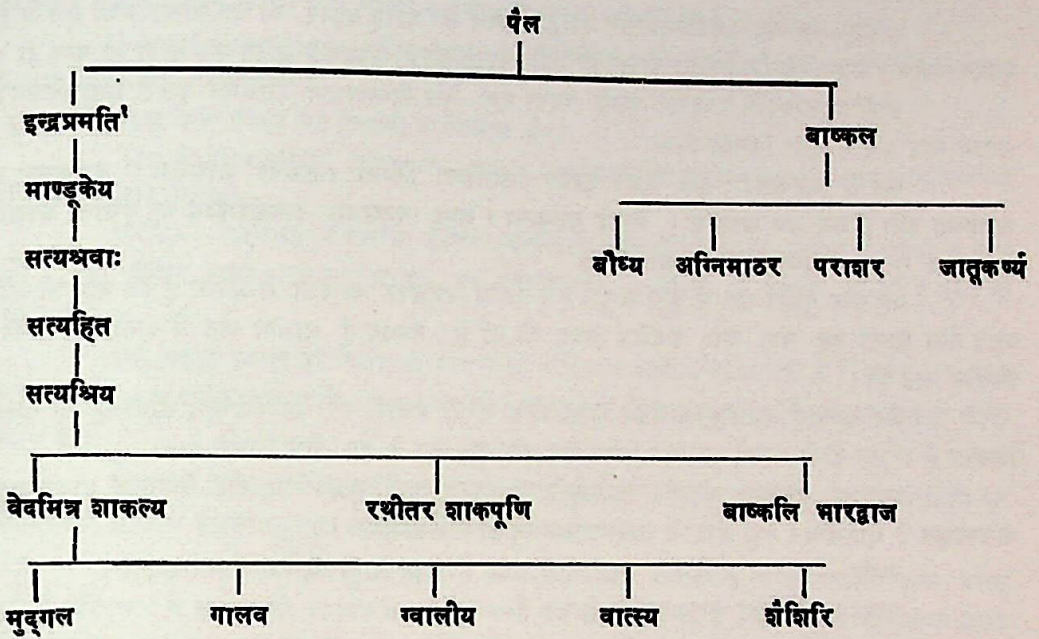
पैल का शिष्य इन्द्रप्रमति कहा गया है। एक इन्द्रप्रमति एक वसिष्ठ का पुत्र था। इसका दूसरा नाम कुणि भी था। ब्रह्माण्ड पुराण, तीसरे पाद के ८।९७ में लिखा है कि इन्द्रप्रमति का पुत्र वसु और वसु का पुत्र उपमन्यु था। एक उपमन्यु निरुक्तकार भी था। यद्यपि अधिक सामग्री के अभाव में सुनिश्चित रूप से अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना जान पड़ता है कि पैल, वसु, यह इन्द्रप्रमति और उपमन्यु आदि परस्पर सम्बन्धी थे। शाकपूणि और बाष्कलि भारद्वाज के शिष्य इस परम्परा में नहीं लिखे गए।

इन ऋषियों द्वारा ऋग्वेद की जितनी शाखाएं बनीं, अब उनका उल्लेख किया जाता है।

इक्कीस प्राचं शाखाएं

पतञ्जलि अपने व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में लिखता है—एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। अर्थात्—इक्कीस प्रकार का आम्नाय बह्वृच है।

प्रपञ्चहृदय के द्वितीय अर्थात् वेदप्रकरण में लिखा है—

बाह्वृच एकविंशतिधा। अथर्ववेदो नवधा। तत्र केनचित्कारणेन शतक्रतुना वज्रघातिता वेदशाखाः। तत्रावशिष्टाः सामबाह्वृचयोर्द्वादश द्वादश। बाह्वृचस्य—

ऐतरेय-बाष्कल-कौषीतक-जानन्ति-बाहवि-गौतम शाकल्य-बाभ्रव्य-पैङ्ग-मुद्गल-शौनकशाखाः।

---

१ विष्णु पुराण, षष्ठ अंश, अध्याय ८ में पुराण प्राप्ति की परम्परा का उल्लेख है। तदनुसार मुनि वेदशिरा ने प्रमति को पुराण दिया और प्रमति ने जातूकर्ण (=जातूकर्ण्य) को दिया। गीता प्रेस गोरखपुर के संवत् १९९० के संस्करण में महाभ्रष्ट पाठ है।

अर्थात्—ऋग्वेद इक्कीस प्रकार का है। उनमें से बारह प्रकार की वेद शाखा बची हैं। वे हैं ऐतरेय आदि। ध्यान रहे कि गिनती बारह की नहीं ग्यारह की है, सम्भव है मुद्रित पाठ भ्रंश हो गया हो।

इन्हीं शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाला एक लेख दिव्यावदान (संभवतः दूसरी शती विक्रम) नामक बौद्ध ग्रंथ में ऐसा मिलता है—

सर्वे ते बह्वृचाः पुष्प एको भूत्वा विंशतिधा भिन्नाः। तद्यथा शाकलाः। बाष्कलाः। माण्डव्या इति। तत्र दश शाकला। अष्टौ बाष्कला। सप्त माण्डव्या इत्ययंब्राह्मण बह्वृचानां शाखा पुष्प एको भूत्वा पंचविंशतिधा भिन्नाः।

यह पाठ मुद्रित ग्रंथ में बड़ा अशुद्ध है। इसकी अशुद्धता का इसी से प्रमाण है कि बह्वृचों की पहले बीस शाखा कह कर पुनः पच्चीस गिना दी गई हैं। सम्भव है प्राचीन पाठ में दोनों स्थानों पर इक्कीस पाठ हो।

जैन आचार्य अकलङ्कदेव अपने राजवार्तिक में दो स्थानों पर वेद की कुछ शाखाओं का नाम लिखता है।[1] उन दोनों स्थानों का पाठ मिला कर और शुद्ध कर के हम नीचे लिखते हैं—

शाकल्य बाष्कल कौथुमि सात्यमुग्रि चारायण कठ माध्यन्दिन मौद पैप्पलाद बादरायण अंबष्टकृत ? ऐतिकायन वसु जैमिनि आदीनामज्ञानदृष्टीनां सप्तषष्टिः।

अर्थात्—शाकल्य आदि ६७ शाखाएं हैं। इन में से प्रथम दो ऋग्वेद की शाखाएं हैं।

आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह में लिखा है—

तत्र ऋग्वेदस्य सप्तशाखा भवन्ति। तद्यथा आश्वलायनाः। शांखायनाः। साध्यायनाः। शाकलाः। बाष्कलाः। औदुम्बराः।[2] माण्डूकाश्चेति।

इन में साध्यायन और औदुम्बर कौन हैं, यह निर्णय करना कठिन है। सम्भव है ये पाठ भ्रष्ट हो गए हों।

अणुभाष्य १।१।१७ में स्कन्द पुराण से निम्नलिखित प्रमाण दिया गया है—

चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः। शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा ॥
कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये। चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा ॥

अर्थात्—ऋग्वेद की चौबीस शाखाएं थीं।

आर्च शाखाओं के पांच मुख्य विभाग

ऋग्वेदीय इक्कीस शाखाओं के पांच मुख्य विभाग हैं। उनके विषय में कहा है—

एतेषां शाखाः पंचविधा भवन्ति। शाकलाः। बाष्कलाः। आश्वलायनाः। शांखायना। माण्डूकेयाश्चेति।

अर्थात्—ऋग्वेदीय शाखाएं पंचविध हैं। कुछ शाकल, कुछ बाष्कल, कुछ आश्वलायन, कुछ शांखायन और कुछ माण्डूकेय कहाती हैं।

मैक्समूलर और हरिप्रसाद की भ्रान्ति—चरणव्यूह के पूर्वोक्त वचन का अर्थ करते हुए हमने कुछ शाकल, कुछ बाष्कल आदि माने हैं। मैक्समूलर चरणव्यूह के इस वचन का ऐसा अर्थ नहीं समझता।

---

१. पृ० ५१ और २९४। मुद्रित-पाठ बहुत भ्रष्ट है।
२. तुलना करें—पातञ्जल महाभाष्य, २।४।५८, औदुम्बरिः पिता औदुम्बरिः पुत्रः।

चरणव्यूह कथित ऋग्वेद के इन पांच चरणों का नाम लिखकर, वह कहता है—

We miss the names of several old Śākhās such as the Aitareyins, Śaiśiras, Kuaushītakins, Paiṁgins.[1]

परन्तु नीचे शैशिर पर टिप्पणी में लिखता है—

The Śaiśira śākhā, however, may perhaps be considered as a subdivision of the Śākala śākhā.

अर्थात्—"चरणव्यूह में ऐतरेय, शैशिर, कौषीतकि और पैङ्गि आदि प्राचीन शाखाओं के नाम नहीं हैं। हां, शैशिर शाखा सम्भवतः शाकल का अवान्तर भेद हो सकता है, क्योंकि पुराणों में ऐसा ही लिखा है।"

इसी प्रकार स्वामी हरिप्रसाद भी शाकल को कोई एक ऋषिविशेष समझते हैं।[2] उनके वेदसर्वस्व में लिखा है—**इस संहिता का सबसे प्रथम सूक्त और मण्डलों में विभाग करने वाला शाकल ऋषि माना जाता है।**[3]

पुनः वहीं लिखा है—**ऋक्संहिता का प्रवचनकर्ता शाकल बहुत प्राचीन और पद-संहिता का आविष्कर्ता शाकल्य उसकी अपेक्षा अर्वाचीन है।**

मैक्समूलर को इन पांच मुख्य विभागों के अवान्तर भेदों के सम्बन्ध में कुछ खटका हुआ, परन्तु स्वामी हरिप्रसाद ने शाकल को शाकल्य से भी पूर्व मान कर बड़ी भूल की है। मैक्समूलर, हरिप्रसाद आदि विद्वानों की इस भूल का कारण अगले लेख से स्पष्ट हो जाएगा।

शाकल्य का काल

ऋग्वेद सायण भाष्य के पूना संस्करण के चतुर्थ भाग में खिल सूक्तों की भूमिका लिखते हुए काशीकर जी ने लिखा है—

Śākalya, who redacted the Ṛgveda Saṁhitā lived, as Geldner has shown, in the later Vājasaneya period, he was a contemporary of Āruṇi mentioned in many Brāhmaṇas.

अर्थात्—शाकल्य जिसने ऋग्वेद संहिता का संकलन किया उत्तर वाजसनेय काल में था।

आलोचना—इतिहास ज्ञान से शून्य, काशीकर जी का यह लेख सार का एक अणु भी नहीं रखता। पूर्व संहिता काल और उत्तर संहिता काल की तर्कहीन वृथा कल्पना के आधार पर लिखा गया लेख हेय है। शाकल्य संहिता का प्रवचन कर्त्ता कृष्ण द्वैपायन के प्रशिष्यों में है। उसका काल भारत युद्ध से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व का है। इस निश्चित काल-गणना को छोड़कर अनृत भाषा मतों पर आश्रित काल-गणना का अनुसरण बुद्धिमानों का काम नहीं।

शाकल शाखाएं

तेरह वर्ष हो चुके, जब ऋग्वेद पर व्याख्यान नाम का ग्रन्थ हमने लिखा था।[4] उसमें हमने यह

1. History of Ancient Sanskrit Literature, 1860, p. 368
२. ऊपर अध्याय एकादश देखें। ३. पृ० २४
४. यह ग्रन्थ ऊपर अध्याय एकादश तथा द्वादश में छप गया है।

बताया था की शाकल नाम का कोई ऋषि विशेष नहीं हुआ। इस के विपरीत शाकल शब्द शाकल्य के छात्रों वा शाकल्य की शिक्षा आदि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यह बात अब और भी अधिक सत्य प्रतीत होती है। जिस प्रकार वाजसनेय याज्ञवल्क्य के पन्द्रह शिष्य वाजसनेय कहाए और उन की प्रवचन की हुई जाबाल आदि संहिताएं वाजसनेय-संहिता के समान-नाम से पुकारी जाने लगीं, तथा जिस प्रकार याजुष आचार्य वैशम्पायन चरक के अनेक शिष्य चरकाध्वर्यु कहाए, और उन की कठादि शाखाएं शाखा भी कहायीं, और जिस प्रकार कलापि के हरिद्रु आदि शिष्य कालाप कहाए और उनकी शाखाएं कालाप कहायीं ठीक उसी प्रकार शाकल्य के अनेक शिष्य शाकल कहाए और उनकी प्रवचन की हुई संहिताएं भी शाकल कहायीं। वे शाकल संहिताएं कौन कौन थीं, अब इस विषय की विवेचना की जाती है। वायुपुराण, अध्याय ६०, में कहा है—

देवमित्रस्तु शाकल्यो महात्मा द्विजसत्तम.। चकार संहिताः पंच बुद्धिमान् पदवित्तमः ॥ ६३ ॥
तच्छिष्या अभवन् पंच मुद्गलो गोलकस्तथा। खालीयश्च तथा मत्स्यः शैशिरेयस्तु पंचमः ॥६४॥[1]

इसी प्रकार ब्रह्माण्ड पुराण, अध्याय ३५, में लिखा है—

वेदमित्रश्च शाकल्यो महात्मा द्विजपुंगवः। चकार संहिताः पंच बुद्धिमान् वेदवित्तमः ॥१॥
पंच तस्याभवञ्छिष्या मुद्गलो गोखलस्तथा। खलीयान् सुतपा वत्सः शैशिरेयश्च पञ्चमः ॥२॥[2]

इसी विषय का निम्नलिखित पाठ विष्णुपुराण ३।४ में है—

देवमित्रस्तु[3] शाकल्यः संहितां तामधीतवान्।
चकार संहिताः पञ्चशिष्येभ्यः प्रददौ च ताः।
तस्य शिष्यास्तु ये पञ्च तेषां नामानि मे शृणु ॥२१॥
मुद्गलो गोखलश्चैव वात्स्यः शालीय एव च।
शिशिरः पञ्चमश्चासीन् मैत्रेय स महामुनिः ॥२२॥[4]

पूर्वोक्त पाठ मुद्रित पुराणों से दिये गये हैं। इन पाठों में शाखा-प्रवचन-कर्ता ऋषियों के नाम बड़े भ्रष्ट हो गये हैं। दयानन्द कालेज के पुस्तकालय में ब्रह्माण्ड पुराण का हस्तलिखित ग्रन्थ है। संख्या उसकी है २८११। विष्णु पुराण के तो वहां अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें से संख्या १८५० और ४५४७ के ग्रन्थों का पाठ अधिक शुद्ध है। उन सब को मिलाने से वायु पुराण का निम्नलिखित पाठ हमने शुद्ध किया है—

वेदमित्रस्तु शाकल्यो महात्मा द्विजसत्तमः।
चकारसंहिताः पञ्च बुद्धिमान् पदवित्तमः ॥६३॥
तच्छिष्या अभवन् पञ्च मुद्गलो गालवस्तथा।
शालीयश्च तथा वात्स्यः शैशिरेयस्तु पञ्चमः ॥६४॥[5]

---

१. आनन्दाश्रम संस्करण।　　　　२. वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण।
३. कलकत्ता संस्करण में 'वेदमित्रस्तु' पाठ है।　　　　४. कृष्णशास्त्री का संस्करण, मुम्बई।
५. आश्चर्य है कि वायु पुराण के पाठ में शाखा प्रवचनकारों के नामों का जो शोधित पाठ हमने दिया है वैसा पाठ केशव के ऋग्वेद कल्पद्रुम के उपोद्घात में वायु पुराण के नाम से उद्धृत श्लोकों में है। इस पुस्तक की पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने काशी के प्रसिद्ध ऋग्वेदी जड़ेजी दीक्षित की पुस्तक से संवत् १९९१ में प्रतिलिपि की थी।

अर्थात्—वेदमित्र[1] शाकल्य के पांच शिष्य थे। उनको उसने पांच संहिताएं दीं। उनके नाम थे मुद्गल, गालव, शालीय, वात्स्य और शैशिरेय।

शिशिर ऋषि का जो पुत्र था उसके नाम के तद्धित नियम के अनुसार तीन रूप थे—**शैशिरेय, शैशर, और शैशिरि** (तुलना करें, अष्टाध्यायी ४.१.११६ से)।

इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले निम्नलिखित श्लोक भी ध्यान देने योग्य हैं। ये श्लोक शैशिर शिक्षा के आरम्भ में मिलते हैं। इस शिक्षा का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय संग्रह में है—

मुद्गलो गालवो गार्ग्यं शाकल्यशैशिरीस्तथा।[2]
पञ्च शौनक शिष्यास्ते शाखाभेदप्रवर्तकाः॥
शैशिरस्य तु शिष्यस्य शाकटायन एव च।[3]

इन श्लोकों का पाठ भी पर्याप्त भ्रष्ट हो गया है। गार्ग्य के स्थान में यहां **वात्स्यः** पाठ चाहिए और शाकल्य के स्थान में शालीय चाहिए। इसी प्रकार शौनक के स्थान में शाकल्य चाहिए, इत्यादि।

विकृतिवल्ली पर गङ्गाधर की एक टीका है। उस टीका में उद्धृत किए दो श्लोक हमने ऊपर पृ० १२८ पर लिखे हैं। उन श्लोकों का पाठ भी अत्यधिक बिगड़ गया है, और प्राचीन सम्प्रदाय के सर्वथा विरुद्ध है। इतने लेख से यह स्पष्ट है कि शाकल शाखाएं पांच थीं। उनके नाम निम्नलिखित थे।

पांच शाकल शाखाएं

१. मुद्गल शाखा— इस शाखा की संहिता का अभी तक हमें ज्ञान नहीं हो सका। न ही इसके ब्राह्मण, सूत्रादि का पता लगा है। प्रपञ्चहृदय नामक ग्रन्थ के लिखे जाने के काल तक यह शाखा विद्यमान थी। ऋग्वेदीय शाखाओं के नामों में वहां मुद्गल शाखा का नाम मिलता है। एक मुद्गल का नाम बृहद्देवता में दो बार आया है—

महानैन्द्रं प्रत्नवत्याम् अग्निं वैश्वानरं स्तुतम्।
मन्यते शाकपूणिस्तु भार्म्यश्वश्चैव मुद्गलः॥६.४६॥
आयं गौरिति यत्सूक्तं सार्पराज्ञी स्वयं जगौ॥६.८६॥
तस्मात्सा देवता तत्र सूर्यमेके प्रचक्षते।
मुद्गलः शाकपूणिश्च आचार्यः शाकटायनः॥६.९०॥

इन दो प्रमाणों में से प्रथम प्रमाण में मुद्गल को भृम्यश्व का पुत्र कहा गया है। दूसरे प्रमाण में उसके साथ कोई विशेषण नहीं जोड़ा गया। परन्तु दोनों स्थानों में वर्णन है एक ही आचार्य का। इसी भार्म्यश्व मुद्गल का नाम निरुक्त ९।२३ में मिलता है - **तत्रेतिहासमाचक्षते। मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजि जिगाय।**

यही भार्म्यश्व मुद्गल ऋग्वेद १०।१०२ का ऋषि है। इस सूक्त के कई मन्त्रों में मुद्गल शब्द आता है। वह शब्द किसी व्यक्ति विशेष का वाचक नहीं। यास्क ने वेद मन्त्रों को समझाने के लिए एक काल्प-

---

१. तुलना करें कौषीतकि गृह्य २।५।५ पाञ्चालं वेदमित्रम्।
२. त्रिगर्तों का पुरोहित शैशिरायण (शैशिरि का पुत्र) गार्ग्य, हरिवंश, पृ० ५७, पर स्मृत है।
3. Triennieal Catalogue of Sanskrit Mss, Vol. IV, Part IC, 1928, pp. 549,597.

निक ऐतिहासिक घटना लिखी है। यह नहीं हो सकता कि शाकल्य, जैमिनि आदि ऋषि उन्हीं मन्त्रों को नित्य कहें।[1] विद्वानों को इस बात पर गम्भीर विचार करना चाहिए।

शाकपूणि ऋग्वेद का एक शाखाकार है। उसके साथ स्मरण होने वाला आचार्य शाखाकार है अथवा शाखाकारों के नाम का कोई वेद-विद्या विशारद अध्यापक। यदि वह पूर्व वर्णित मुद्गल है तो वह अति दीर्घजीवी होगा। इसका निर्णय अभी हम नहीं कर पाए। इतना निश्चित है कि शाखाकार मुद्गल शाकल्य का एक शिष्य था।

कलकत्ता के प्रोफेसर सीतानाथ प्रधान बृहस्पति ने एक पुस्तक सन् १९२७ में प्रकाशित की थी। नाम है उसका प्राचीन भारत का कालक्रम (Chronology of Ancient India)। उसमें अनेक स्थानों पर इसी भार्म्यश्व मुद्गल का उल्लेख है। उसके अनुसार भृम्यश्व की कुल परम्परा ऐसी थी—
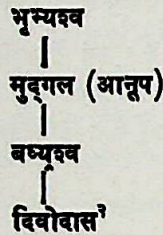
इस परम्परा को हम भी ठीक मानते हैं। अब विचारने का स्थान है कि यह दिवोदास भृम्यश्व से चौथे स्थान पर है। हम यह भी जानते हैं कि किसी मुद्गल का एक गुरु शाकल्य था। गुरु परम्परा की दृष्टि से व्यास इस शाकल्य से कुछ पहले था। प्रो० सीतानाथ प्रधान वध्य्रश्व के पुत्र दिवोदास का वर्णन कई ऋग्वेदीय मन्त्रों में बताते हैं।[3] दिवोदास नहीं, प्रत्युत उनके अनुसार तो दिवोदास के पुत्र या दिवोदास के समकालीन पैजवन के पुत्र सुदास का वर्णन भी ऋग्वेद में है।[4]

महाभारत और पुराणों के अनुसार मुद्गल आंगिरस पक्ष या गोत्र वाले थे। महाभारत वन पर्व अध्याय २६१ में किसी मुद्गल का उल्लेख है। व्यास जी उसके दान की कथा युधिष्ठिर को सुनाते हैं। महाभारत शान्ति पर्व अध्याय २४०।३२ में शतद्युम्न के मुद्गल के लिए हिरण्य वेश्म के दान का उल्लेख है। बिहार प्रान्त में कई लोगों ने हम से कहा था कि वर्तमान मुंगेर प्राचीन अङ्गदेश की राजधानी थी। वहीं जाह्नवी तीर पर मुद्गल का आश्रम था। हमें इसके निर्णय करने का अवसर नहीं मिल सका।

---

१ वर्तमान मीमांसा सूत्र उसी जैमिनि मुनि के हैं जो शाखाकार जैमिनि था। इस विषय पर संक्षेप से इस इतिहास के दूसरे भाग में लिखा जा चुका है। इसका विस्तृत वर्णन सूत्र ग्रन्थों का इतिहास लिखते समय किया जायगा।

२ पृ० ११ तथा ८६।

३. पृ० ८६।

४. पृ० ८५,८६। प्रो. सीतानाथ इस विषय में ऋग्वेद ७।८।२५ का प्रमाण देते हैं। एक दिवोदास भीमसेन का पुत्र था। देखें काठक संहिता ७.८। परन्तु उनका अभिप्राय बध्य्रश्व पुत्र दिवोदास से ही है। उनके अनुसार ऋ. ६।६१।। में ऐसा ही संकेत है—दिवोदासं बध्य्रश्वाय दाशुषे।

गोत्र भेद—मुद्गल नाम के अनेक ऋषि हो सकते हैं। यदि शाखाकार दीर्घजीवी और भार्म्यश्व नहीं था, ता दूसरे मुद्गल की खोज करनी चाहिए जो शाखाकार हो।

क्या निरुक्त ११.६ में स्मरण किया हुआ शतबलाक्ष मौद्गल्य इसी मुद्गल का पुत्र और वध्र्यश्व का भ्राता था। यह विचार करना चाहिए।

आयुर्वेदीय, चरक संहिता, सूत्रस्थान, २५.८ में पारीक्षि मौद्गल्य और २६.३.८ में पूर्णाक्ष मौद्गल्य के नाम मिलते हैं। बृहदारण्यक के अन्त में नाक मौद्गल्य स्मृत है। ये ऋषि महाभारत कालीन हैं।

मुद्गलों का उल्लेख आश्वलायन श्रौत सूत्र १२.१२ आदि में है।

२. गालव शाखा—इस शाखा की संहिता अभी तक अप्राप्त है। न इसका ब्राह्मण और न सूत्र अभी तक मिला है। यह गालव पांचाल अर्थात् पांचाल देश निवासी था। इसका दूसरा नाम बाभ्रव्य था। कामसूत्र में इसी को बाभ्रव्य पाञ्चाल कहा गया है।[1] इसी ने ऋग्वेद का क्रमपाठ बनाया था। इस का उल्लेख ऋक् प्रातिशाख्य, निरुक्त, बृहद्देवता और अष्टाध्यायी आदि में मिलता है। ये सब बातें इस इतिहास के द्वितीय भाग में सविस्तर दी गई हैं।

इसी बाभ्रव्य=गालव का नाम आश्वलायन[2], कौषीतकि[3] और शाम्बव्य[4] गृह्यसूत्रों के ऋषितर्पण प्रकरणों में मिलता है। प्रपञ्चहृदय में भी बाभ्रव्य शाखा का नाम मिलता है। यह बाभ्रव्य कौशिक विश्वामित्र की परम्परा में था। इसके लिए देखें अष्टाध्यायी।[5] व्याकरण महाभाष्य १.१.४४ में निम्नलिखित पाठ है—आचार्यदेशशीलेन यदुच्यते तस्य तद्विषयता प्राप्नोति। इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६.३.६१) प्राचामवृद्धात् फिन्बहुलम (४. १.१६०) इति गालवा एव ह्रस्वान् प्रयुञ्जीरन्प्राक्षु चैव हि फिन् स्यात्। तद्यथा जमदग्निर्वा एतत् पंचममवदानमवाद्यत् तस्मान्नाजामदग्न्यः पंचावत्तं जुहोति।

पतञ्जलि ने इस लेख से गालव के एक विशेष नियम का परिचय दिया है।

पहले लिख चुके हैं कि गालव पाञ्चाल था। पाञ्चाल देश आधुनिक बरेली के आस-पास का प्रदेश है।

ऐतरेय आरण्यक ५.३ में लिखा है नेदमेकस्मिन्नहनि समापयेत इति ह स्माह जातूकर्ण्यः। समापयेत् इति गालवः।

अर्थात्—इस महाव्रताध्ययन को एक ही दिन में समाप्त न करें, ऐसा जातूकर्ण्य का मत है। समाप्त करे, यह गालव का मत है।

इस स्थान पर जिन दो आचार्यों के मत दिखाए गए हैं, वे दोनों हमारी सम्मति में शाखाकार आचार्य ही हैं। यही गालव एक शाकल है।

---

१. भारतीय इतिहास की रूप रेखा, पृ० २१८ पर, पं० जयचन्द्र विद्यालंकार का मत है कि कामशास्त्र का प्रणेता कोई दूसरा बाभ्रव्य था। मत्स्य पुराण का साक्ष्य इसके विपरीत है। श्वेतकेतु नाम के समय-समय पर अनेक आचार्य हो चुके हैं, अतः नहीं कह सकते कि कामशास्त्र का रचयिता श्वेतकेतु कौन था।

२. ३.३.५ ॥ ३. ४.१० ॥ 4. Indische Studien, Vol. XV p. 1 4

५. मधुबभ्रवोर्ब्राह्मण कौशिकयोः, ४।१।१०६

आयुर्वेद की चरक-संहिता के आरम्भ में हिमालय के पास अनेक ऋषियों का एकत्र होना लिखा है। आयुर्वेद की चरक आदि संहिताएं महाभारत काल में प्रतिसंस्कृत हुई थीं। उस समय वेद की शाखाओं और ब्राह्मण ग्रंथ का प्रवचन भी हो रहा था। वेद-शाखा प्रवचन-कर्ता अनेक ऋषि दूसरे शास्त्रों के भी कर्ता थे।[1] चरक संहिता के आरम्भ में एक गालव का भी उल्लेख है।

महाभारत सभापर्व के चतुर्थाध्याय में लिखा है—

सभायमृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते ॥१५॥
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा ॥२१॥

अर्थात्—जब मय वह दिव्य सभा बना चुका तो युधिष्ठिर ने उसमें प्रवेश किया। उस समय गालव आदि ऋषि भी वहां पधारे थे।

इसी पर्व के सातवें अध्याय के दशम श्लोक में भी गालव स्मरण किया गया है। निस्सन्देह यह गालव ऋग्वेदीय आचार्य है।

स्कन्द पुराण, नागर खण्ड, पृ० १६८ (क) के अनुसार एक गालव, कौरव राज्य के मंत्री विदुर से मिला था। ऐतरेय ब्राह्मण ७.१ और आश्वलायन श्रौत सूत्र में एक गिरिज बाभ्रव्य का नाम मिलता है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३.४१.१ तथा ४.१७.१ में शंख बाभ्रव्य स्मरण किया गया है।

बाभ्रव्य=गालव सम्बन्धी ऐतिहासिक कठिनाई—मत्स्यपुराण २१.३० में बाभ्रव्य को सुबालक और दक्षिण पाञ्चाल के राजा ब्रह्मदत्त का मन्त्री कहा है। सुबालक नाम गालव का भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है। हरिवंश में अध्याय २० से इसी ब्रह्मदत्त का वर्णन मिलता है। तदनुसार यह ब्रह्मदत्त भीष्म जी के पितामह प्रतीप का समकालीन था। इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखिख वंशक्रम से होगा।

प्रतीप (=प्रतिप)—ब्रह्मदत्त—बाभ्रव्य
|
शन्तनु
|
भीष्म—व्यास

मत्स्य आदि पुराणों में इसी के मन्त्री बाभ्रव्य को ऋग्वेद के क्रमपाठ का कर्ता कहा गया है। यह बाभ्रव्य पाञ्चाल व्यास जी से कुछ पहले हो चुका था। यदि इसका आयु बहुत ही अधिक न हो, तो यह शाखा प्रवचन काल तक परलोक गमन कर गया होगा। अतः सम्भव है कि इसके कुल व शिष्य परम्परा में आने वाले विद्वान् भी गालव ही कहाए हों और उन्हीं में से कोई एक ऋग्वेदीय शाखाकार हो। ऐसी ही ऐतिहासिक कठिनाई सामवेद के प्रकरण में राजा हिरण्यनाभ कौसल्य के विषय में आएगी। पार्जिटर ने भी अपनी प्राचीन भारतीय ऐतिह्य परम्परा में इस कठिनाई का उल्लेख किया है।[2] अस्तु, हम इस कठिनाई को अभी तक सुलझा नहीं सके।

---

१. इसी अभिप्राय से गौतम ने—मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च इत्यादि न्याय सूत्र रचा। और चरकोपवर्णित ऋषियों के सम्पूर्ण इतिहास को जानते हुए ही वात्स्यायन ने—य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्—लिखा है।

2. pp. 64, 65, Ancient Indian Historical Tradition.

स्कन्द पुराण, महेश्वर खण्डान्तर्गत, कौमारिका खण्ड, अध्याय ५४ में निम्न श्लोक है —

स च बाभ्रव्यनामा वै हारीतस्यान्वयोद्भवः। ब्राह्मणो नारदमुनेः समीपे वर्तते सदा ॥

३. शालीय शाखा – इस शाखा के संहिता, ब्राह्मण और सूत्रादि अभी तक नहीं मिले। काशिका-वृत्ति के उदाहरणों में अन्य शाखाकार ऋषियों के साथ ही इसका भी स्मरण किया गया है। यथा— आश्वलायनः। ऐतिकायनः। औपगवः। औपमन्यवः। शालीयः।[1] तथा–गार्गीयः। वात्सीयः। शालीयः।[2]

४. वात्स्य शाखा— इस शाखा सम्बन्धी हमारा ज्ञान शालीय शाखा के सदृश ही है। इस शाखा के विषय में महाभाष्य ४.२.१०४ पर गोत्र चरणाद् वुञ् वार्तिक के चरण सम्बन्धी निम्नलिखित उदाहरण देखने योग्य हैं – काठकम्। कालापकम्।................गार्गकम्। वात्सकम्। मौदकम्। पैप्पलादकम् ॥

इन उदाहरणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कोई वात्सी शाखा थी।

शाङ्खायन आरण्यक के कुछ हस्तलेखों में ८.३ और ८.४ के अन्तर्गत एक बाध्वः पाठ है। इसी का पाठान्तर दूसरे हस्तलेखों में वात्स्यः है। सम्भव है यहां वात्स्यः पाठ ही ठीक हो। ऐतरेय आरण्यक ३.२३ में ऐसे ही स्थान पर यद्यपि बाध्वः पाठ है, और सायण भी इसी पाठ पर भाष्य करता है, तथापि ऐसा अनुमान होता है कि ऐतरेय आरण्यक में भी वात्स्यः पाठ ही चाहिए। शान्तिपर्व ४६.६ के अनुसार भीष्म की शरशैया के समीप एक वात्स्य उपस्थित था।

शुक्ल यजुओं में एक वत्स या पौण्ड्रवत्स शाखा मानी गई है। उन्हीं के वत्स गृह्य का उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। वत्सों अथवा वात्सों का अधिक उल्लेख याजुष शाखाओं के वर्णन प्रकरण में करेंगे।

५. शैशिरि शाखा— इस शाखा के संहिता, ब्राह्मण आदि भी नहीं मिलते। परन्तु इसका उल्लेख तो अनेक स्थानों में मिलता है। अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है —

ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायां यथाक्रमम्। प्रमाणमनुवाकानां सूक्तैः शृणुत शाकलाः ॥१॥

अर्थात्— हे शाकल्य के शैशिरि आदि शिष्यो ऋग्वेद की शैशिरि संहिता में अनुवाकों का सूक्तों के साथ जैसा क्रमानुसार प्रमाण है, वह सुनो।

ऋक्-प्रातिशाख्य के प्रारम्भिक श्लोकों में लिखा है–

छन्दोज्ञानमाकारं सूतज्ञानं छन्दसां व्याप्तिं स्वर्गामृतत्वप्राप्तिम्।
अस्य ज्ञानार्थमिदमुत्तरत्र वक्ष्ये शास्त्रमखिलं शैशिरीये ॥७॥

अर्थात् — ऋक् प्रातिशाख्य शैशिरीय शाखा सम्बन्धी है।

शैशिरीय शिक्षा ऊपर पृ० १६१ पर उल्लिखित है। एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के ऋक् सर्वानुक्रमणी के कुछ हस्तलेखों के अन्त में लिखा है – शाकल्ये शैशिरीयके। संख्या २२१, २२५।

विकृतिवल्ली में, जो व्याडि रचित कही जाती है, लिखा है—

शैशिरीये समाम्नाये व्याडिनैव महर्षिणा। जटाद्या विकृतीरष्टौ लक्ष्यन्ते नातिविस्तरम् ॥४॥

अर्थात्— शैशिरीय समाम्नाय में व्याडि ने जटा आदि आठ विकृतियां कहीं हैं।

शैशिरीय शाखा का परिमाण - शौनक की अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार इस शाखा में — ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त, २००६ वर्ग और १०४१७ मन्त्र हैं।

---

१. १.१.१.   २. ४.२१.१४.

इस शाखा का जितना वर्णन अनुवाकानुक्रमणी और ऋक् प्रातिशाख्य में मिलता है, उससे इस शाखा की संहिता का ज्ञान हो सकता है।

सायण का भाष्य जिस शाखा पर है, वह अधिकांश में शैशिरि है।

ब्रह्माण्ड पुराण, तीसरा पाद, ६७.६, के अनुसार चन्द्रवंशी शुनहोत्र के कुल में शल के लड़के आर्ष्टिषेण का पुत्र एक शिशिर था। वह क्षत्रियकुल में उत्पन्न होने पर भी ब्राह्मण था। सम्भव है इसी के कुल में शैशिरि हुआ हो।

शाकल्य संहिता

इन पांच शाकल शाखाओं का मूल शाकल्य, शाकलक या शाकलेयक संहिता थी। वैदिक सम्प्रदाय में इस संहिता का बड़ा आदर रहा है। व्याकरण महाभाष्य में लिखा है - **शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत्। ......शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत् ॥१.४.८४॥**

अर्थात्—शाकल्य से भले प्रकार की गयी संहिता के पाठ की समाप्ति पर बादल बरसा।

कात्यायन की ऋक्-सर्वानुक्रमणी इस संहिता पर प्रतीत होती है। उसका आरम्भ वचन है—**अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके......**। इसका अर्थ करते हुए षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थदीपिका में लिखता है—**शाकल्योच्चारणं शाकलकम्।**

इससे अनुमान होता है कि यह सर्वानुक्रमणी सम्भवतः शाकलों की सब संहिताओं के लिए है। शाकलों की संहिता के अन्त में संज्ञान सूक्त के होने की आशा नहीं। अनेक प्रमाणों के अनुसार यह तो बाष्कल संहिता का अन्तिम सूक्त है। अतः ऋक् सर्वानुक्रमणी के मैकडानल के संस्करण के अन्त में संज्ञान सूक्त का उल्लेख सन्देहजनक है।

शाकल्य का पदपाठ इसी मूल संहिता पर है। उसके विषय में अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकं सार्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम्।
शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति हि चर्चितानि ॥४५॥

अर्थात्— शाकल्य संहिता में १५३८२६ पद हैं।

छन्दः संख्या नामक ग्रन्थ में कहा है—**एकपञ्चाशदृग्वेदे गायत्र्यः शाकलेयके ॥**

ऐतरेय आरण्यक के भाष्य में सायण भी शाकल्य संहिता को स्मरण करता है—**ता एता नवसंख्याका द्विपदाः शाकल्यसंहितायामाम्नाताः।**

इसी शाकल्य संहिता को वा सम्भवतः इसी की अवान्तर शाखाओं को नवीन हस्तलेखों में शाकल संहिता भी कहा गया है। यथा—**शाकलसंहितायां।**[1]

अनुशासन पर्व और शाकल्य—अनुशासन पर्व के ४५ वें अध्याय में महादेव की स्तुति गायी गयी है। इस प्रकरण में कहा गया है कि शाकल्य ने मनोयज्ञ द्वारा भव की स्तुति की। सन्तुष्ट भगवान ने उसे वर दिया कि तुम ग्रन्थकार हो जाओगे और तुम्हारा पुत्र सूत्र कर्त्ता होगा।[2]

यह ग्रन्थकार शाकल्यपदसंहिता का कर्त्ता प्रतीत होता है।

---

१. ऐशियाटिक सोसायटी संख्या २५६ गाणी।

२. श्लोक ८४-८६।

२. बाष्कल शाखाएं

बाष्कल नाम के कई व्यक्ति प्राचीन काल में हो चुके हैं। दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु के पांच पुत्रों में भी एक बाष्कल था। आदि पर्व ५९.१८ में ऐसा ही लिखा है। भारत-युद्ध-काल का प्राग्ज्योतिष का प्रसिद्ध राजा भगदत्त आदि पर्व ६१.९ के अनुसार इसी बाष्कल का अवतार था। यह बाष्कल शाखाकार बाष्कल नहीं था।

विष्णुपुराण, अंश ३, अध्याय ४, श्लोक १६.१७ में बाष्कल को बाष्कलि भी कहा है। विष्णुपुराण का टीकाकार श्रीधरस्वामी बाष्कलि में इञ् प्रत्यय स्वार्थ में मानता है। पूर्व पृष्ठ १५७ पर तालिका चित्र में दर्शाया वेदमित्र शाकल्य का सतीर्थ्य बाष्कलि इस पैल शिष्य बाष्कलि से भिन्न है। विष्णुपुराण के टीकाकार ने भी स्पष्ट लिखा है—**अपर एव शाकल्यसतीर्थ्यो बाष्कलिः**। अंश ३, अध्याय १४, श्लोक २६।

ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग, अध्याय ३४, में लिखा है—

चतस्रः संहिताः कृत्वा बाष्कलो द्विजसत्तमः। शिष्यानध्यापयामास शुश्रूषाभिरतान् हितान् ॥२६॥
बोध्यां तु प्रथमां शाखां द्वितीयामग्निमातरम्। पाराशरीं तृतीयां तु याज्ञवल्क्यामथापराम् ॥२७॥

ब्रह्माण्ड पुराण का हस्तलिखित ग्रन्थ दयानन्द कालेज के पुस्तकालय में है। उसकी संख्या २८११ है। उसके १२१ पत्रे पर २७वें श्लोक का पाठ निम्नलिखित प्रकार का है—

बौध्यं तु प्रथमां शाखां द्वितीयमग्निमाहरं। पराशरं तृतीयं तु याज्ञवल्क्यामथापरं ॥

ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग, के ३३ वें अध्याय में जहां बह्वृच ऋषियों के नाम हैं, लिखा है—

संध्यास्तिर्माठरश्चैव याज्ञवल्क्यः पराशरः ॥३॥

इन्हीं श्लोकों से मिलते हुए श्लोक वायु, विष्णु और भागवत पुराणों में मिलते हैं। विष्णु पुराण के दयानन्द कालेज के दो हस्तलिखित ग्रन्थों में, जिनमें कि प्राचीन पाठ अधिक सुरक्षित प्रतीत होता है, लिखा है—**बौद्धाग्निमाठरौ तद्वज्जातूकर्णपराशरौ**।

दयानन्द कालेज के संख्या ४५४७ वाले कोश का यह पाठ है। संख्या १८५० वाले कोश में बौद्ध के स्थान में बौध्य पाठ है।

पुराणों के मुद्रित पाठों और हस्तलेखों के अनेक पाठों को देखकर हमने ब्रह्माण्ड का निम्नलिखित पाठ शुद्ध किया है—

बौध्यं तु प्रथमां शाखां द्वितीयामग्निमाठरम्। पराशरं तृतीयां तु जातूकर्ण्यमथापराम् ॥

अर्थात्—बाष्कल ने चार संहिताएं बनाकर अपने चार शिष्यों को पढ़ायीं। उन चारों के नाम थे, बौध्य, अग्निमाठर, पराशर और जातूकर्ण्य। जातूकर्ण्य पाठ इसलिए ठीक है कि कौषीतकि गृह्य ४.१० के पितृतर्पण में जातूकर्ण्य नाम स्मृत है, याज्ञवल्क्य नहीं।

याज्ञवल्क्य के स्थान में जातूकर्ण्य पाठ इसलिए भी ठीक है कि श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के वेद शाखा प्रकरण में जातूकर्ण्य को ही ऋग्वेदीय आचार्य माना है।

१. बौध्य शाखा—बौध्य आङ्गिरस गोत्र का था। पाणिनि मुनि का सूत्र है—

कपिबोधादाङ्गिरसे ॥४.१.१०७॥

अर्थात्—आंगिरस गोत्र वाले बोध का पुत्र बौध्य है। दूसरे गोत्र वाले बोध के पुत्र को बौधि कहते हैं। इसी आचार्य का नाम बृहद्देवता के अष्टमाध्याय में मिलता है। मैकाडानल के संस्करण का पाठ है—

अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमाधेहि यः पुमान् । आशिषो योगमेतं हि सर्वगर्धेन मन्यते ॥८४॥

एकारमनुकम्पार्थे नाम्नि स्मरति माठरः । आख्याते भूतकरणं बाष्कला आव्ययोरिति ॥८५॥

राजेन्द्रलाल मित्र के संस्करण के प्रथम श्लोक का पाठ निम्नलिखित है—

असौ मे पुत्रकामाया अब्दादर्द्धे च तत्कृतम् । आशिषो योगमेतं हि वाह्वचौ गोर्येन मन्यते॥१२५॥

मैकडानल इस श्लोक की टिप्पणी में लिखता है कि इसका पाठ बहुत भ्रष्ट है, और उसका अपना मुद्रित किया हुआ पाठ भी विश्वसनीय नहीं है। सर्व के स्थान में मैकडानल ६ पाठान्तर देता है। वे हैं— **बह्ववयौ । वाह्वयौ । वह्वो । वद्र्वो । वध्वो । बद्धो ।** इन पाठान्तरों को देखकर हम इस श्लोक-अर्ध का निम्नलिखित पाठ समझते हैं—**आशिषो योगमेतं हि बौध्योऽर्धर्चेन मन्यते ।**

इस श्लोक में किसी आचार्य के नाम के बिना **मन्यते** क्रिया निरर्थक हो जाती है। वह नाम **बौध्य** है। मैकडानल के पाठान्तर इसका कुछ संकेत कर रहे हैं। ८५वें श्लोक में वर्णन किया हुआ माठर, सम्भवतः अग्निमाठर है। और ये दोनों आचार्य बाष्कल हैं।

महाभारत आदि पर्व १.४८.६ में **बोधपिङ्गल** नाम का एक आचार्य स्मरण किया गया है। वह जनमेजय के सर्पसत्र में अध्वर्यु का कृत्य कर रहा था। बोध्य नाम का एक ऋषि नहुष पुत्र ययाति के काल में भी था। उसके पदसंचय की कथा शान्तिपर्व १७६.५७ से आरम्भ होती है।

इस ऋषि की संहिता, ब्राह्मणादि का पता भी अभी तक नहीं लगा।

२. **अग्निमाठर शाखा**—सम्भवतः इसी माठर का वर्णन बृहद्देवता के पूर्वोद्धृत श्लोक में आ चुका है। इसके सम्बन्ध में भी इससे अधिक पता अभी तक नहीं लग सका।

३. **पराशर शाखा**—पाराशरी संहिता का नामोल्लेख अभी तक हमें अन्यत्र नहीं मिला। एक अरुण पराशर ब्राह्मण को कुमारिल अपने तन्त्रवार्तिक में स्मरण करता है—**अरुणपराशरशाखाब्राह्मणस्य कल्परूपत्वात् ।**[1] सम्भवतः यह अरुणपराशर शाखा इस पराशर शाखा की उपशाखा हो।

अष्टाध्यायी ४।२।१०५ पर काशिका और उस के व्याख्यानों में एक **आरुणपराजी कल्प** का नाम मिलता है। क्या यह अरुणपराशर शाखा से भिन्न कोई शाखा है।

बोधायन श्रौत गोत्र प्रकरण पृष्ठ ४६२ पर अरुणपराशर एक गोत्र उल्लिखित है।

व्याकरण महाभाष्य में एक उदाहरण है—**पाराशरकल्पिकः**। ४।२।६०। निस्सन्देह यह ऋग्वेदीय पराशर शाखा का कल्प था।

४. **जातूकर्ण्य शाखा**—बाष्कलों की चौथी शाखा जातूकर्ण्य शाखा है। एक जातूकर्ण्य आचार्य का नाम शांखायन श्रौतसूत्र में चार बार मिलता है।[2] अन्तिम स्थान में उसे जल=जड़ जातूकर्ण्य कहा है, और लिखा है कि वह काशी के राजा का पुरोहित हुआ था। उस का पुत्र एक श्वेतकेतु था।

एक जातूकर्ण्य शांखायन गृह्य ४।१०।३ और शांबव्य गृह्य के ऋषितर्पण प्रकरणों में स्मरण किया गया है। उस का इस शाखा से सम्बन्ध सम्भव प्रतीत होता है। जातूकर्ण्य का नाम कौषीतकि

१. चौखम्बा संस्करण पृ० १६४।

२. १।२।१७॥ ३।१६।१४॥ ३।२०।१६॥ १६।२६।६॥

ब्राह्मण आदि में भी मिलता है। आयुर्वेद की चरक संहिता के प्रारम्भ में भी एक जातूकर्ण्य का नाम मिलता है, परन्तु इन सभी स्थानों पर एक ही जातूकर्ण्य स्मरण किया गया है, यह अभी निश्चित नहीं हो सका।

जातूकर्ण्य, जातूकर्ण वा जातूकर्णि धर्मसूत्र के प्रमाण बालक्रीड़ा, प्रथम भाग, पृ० ७ और स्मृतिचन्द्रिका, आह्निक प्रकाश, पृ० ३०२ आदि पर मिलते हैं। यह धर्मसूत्र ऋग्वेदीय था। ऊपर पृ० १०७ पर कृष्णद्वैपायन के गुरु एक जातूकर्ण्य का नाम उपनिषद् और पुराणों के प्रमाण से हम पहले लिख चुके हैं। वह और यह जातूकर्ण्य एक प्रतीत होता है।

बाष्कल संहिता

अनुमान होता है कि शाकल्य संहिता के समान बाष्कलों की भी कोई एक सामान्य संहिता थी। संहिता ही नहीं प्रत्युत बाष्कलों का अपना ब्राह्मण भी पृथक् था। शुक्लयजुः प्रतिज्ञा-सूत्र के अनन्त भाष्य में लिखा है—**बाष्कलादि ब्राह्मणानां तानरूपैकस्वर्यम्।**[1] अर्थात्—बाष्कल आदि ब्राह्मणों का तानरूप एक स्वर होता है।

शाकल्य अथवा बाष्कलों की जो विशेषताएं हैं, वे आगे लिखी जाती हैं।

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है—**समानी व आकूतिरित्येका। तच्छंयोरावृणीमह इत्येका।**

इसके व्याख्यान में देवस्वामी सिद्धांत भाष्य में लिखता है—**येषां पूर्वा समाम्नाये स्यात्तेषां नोत्तरा। येषामुत्तरा तेषां न पूर्वा। यत्तत् प्रतिज्ञासूत्रे उपदिष्टं शाकलस्य बाष्कलस्य समाम्नायस्येयुक्तम्।**[2]

पुनः हरदत्त अपने भाष्य में लिखता है—

समानी व इति शाकलस्य समाम्नायस्यान्त्या तदध्यायिनामेषा।

तच्छंयोरिति बाष्कलस्य तदध्यायिनामेषा।

नारायण वृत्ति में भी ऐसा ही लिखा है —

शाकलसमाम्नायस्य बाष्कलसमाम्नायस्य चेदमेव सूत्रं गृह्यं चेत्यध्येतृप्रसिद्धम्। तत्र शाकलानां-समानी व आकूतिः। इत्येषा भवति संहितान्त्यत्वात्।

बाष्कलानां तु तच्छंयोरावृणीमहे इत्येषा भवति संहितान्त्यत्वात्।

तच्छंयोरावृणीमहे, यह संज्ञान-सूक्त की अंतिम अर्थात् पन्द्रहवीं ऋचा है। अतः बाष्कलों का अन्तिम सूक्त संज्ञान-सूक्त है। शांखायन-गृह्य-सूत्र ४।५ का भी यही मत है। इस से ज्ञात होता है कि शांखायन संहिता का अन्त भी संज्ञान-सूक्त के साथ होता है। इस विषय में बाष्कलों और शांखायनों का अधिक मेल है।

शांखायन गृह्य-सूत्र के आंगल भाषा अनुवाद में अध्यापक बूहलर लिखता है—

It is well known that तच्छंयोरावृणीमहे is the last verse in the Bāshkalā Śākha which was adopted by the Śrnkhayana School.[3]

१. प्रति० ८ सू०

२. दयानन्द कालेज का कोष सं० ५५५५, पत्र ७७ ख।

३. S.B.E. Vol. XXIX, p.1, p.13

अर्थात्—शांखायन चरण वाले बाष्कल शाखा को अपनी संहिता स्वीकार करते हैं।

यह भूल है। शांखायनों की अपनी शांखायन-संहिता है, और यह सूक्त उसका भी अन्तिम सूक्त होगा। अथवा सम्भव है कि पूर्वोक्त चार बाष्कलों में से किसी एक के शिष्य शांखायन आदि हों। परन्तु यह निश्चित है कि शांखायनों की संहिता अपनी ही थी।

२. अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

गौतमादौशिजः कुत्सः परुच्छेपावृषेः परः। कुत्साद्दीर्घतमा इत्येष तु बाष्कलकः क्रमः ॥२१॥

अर्थात्–शाकल्य क्रम से बाष्कलों के क्रम में प्रथम मण्डल में इतना भेद है। बाष्कलों के क्रम के अनुसार—

उप प्रयन्तः=गोतम सूक्त ७४-९३।
नासत्याभ्याम्=औशिज[1] अर्थात् उशिक् के पुत्र कक्षीवान् के सूक्त ११६-१२६।
अग्निं होतारं=परुच्छेप। सूक्त १२७-१३९।
इमं स्तोमं=कुत्स सूक्त ९४-११५।
वेदिषदे=दीर्घतमा सूक्त १४०-१६४।

यह क्रम है। शाकल क्रम में कुत्स के सूक्तों का स्थान गोतम के सूक्तों के पश्चात् है।

इसी अभिप्राय का श्लोक बृहद्देवता ३.१२५ है।

३. बाष्कलों के प्रातिशाख्य-नियम आनर्त्तीय वरदत्तसुत के शांखायन श्रौतसूत्र भाष्य १.२.५ और १२.१३.५ में मिलते हैं।

४. अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

एतत् सहस्रं दश सप्त चैवाष्टावतो बाष्कलकेऽधिकानि।
तान्पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति शिष्टा न खिलेषु विप्राः ॥३६॥

अर्थात्–बाष्कल शाखा पाठ में शाकल शाखा पाठ से आठ सूक्त अधिक हैं।

इस प्रकार शाकल पाठ में १११७ सूक्त हैं और बाष्कल-शाखा पाठ में १११५ सूक्त हैं। इन आठ सूक्तों में से एक तो बाष्कल-शाखा के अन्त का संज्ञान सूक्त है और शेष सात सूक्त ११ वालखिल्य सूक्तों में से पहले सात हैं।[2]

इन ११ वालखिल्य सूक्तों में से १० का उल्लेख मैकडानल सम्पादित सर्वानुक्रमणी में मिलता है। यह शाकलक सर्वानुक्रमणी का पाठ नहीं हो सकता, क्योंकि शाकल-शाखा में ११२७ सूक्त ही हैं।

सात वालखिल्य सूक्तों का क्रम बाष्कल-शाखा में कैसा है, इस विषय में चरणव्यूह की टीका में महीदास लिखता है—

स्वादोरभक्षि (८।४८) सूक्तान्ते
अभि प्र वः सुराधसम् (८।४९)

---

१. अनुक्रमणी दैर्घतमस।　　　　२. कई विद्वान् इन वालखिल्य सूक्तों में एक सौपर्ण सूक्त मानते हैं।

प्र सु श्रुतम् (८।५०)इति सूक्तद्वयं पठित्वा अग्न आ याह्यग्निभिः (८।६०) इति पठेत् ।
ततः आ प्र द्रव (८।८२ अथवा अष्टक ६ अध्याय ६) अध्याय
गौर्धयति (८।९४-१०३) अनुवाको दशसूक्तात्मकः शाकलस्य । पंचदशसूक्तात्मको बाष्कलस्य ।
तत्रोच्यते—

गौर्धयति (८।९४) सूक्तानन्तरं
यथा मनौ सांवरणौ (८।५१)
यथामनौ विवस्वति (८।५२)
उपमं त्वा (८।५३)
एतत्त इन्द्र (८।५४)

भूरीदिन्द्रस्य (८।५५) इत्यन्तानि पञ्च सूक्तानि पठित्वा आ त्वा गिरो रथीरिव (८।९५) इति पठेयुः ।

अर्थात्—पूर्वोक्त क्रम बाष्कल पाठ का है । महिदास ने किस अनुक्रमणी से यह लिया, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका । इस प्रकार स्पष्ट है कि बाष्कल-शाखा के आठवें मण्डल में ९९ सूक्त होंगे ।

बाष्कलों की उपद्रुत सन्धि—बाष्कलों की उपद्रुत सन्धि का वर्णन शांखायन श्रौत भाष्य १२।३।५ में उल्लिखित है ।

कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में संख्या २७ पर बाष्कलशाखीय संहिता व ब्राह्मण का नाम है । एक बाष्कलमन्त्रोपनिषद् इस समय भी विद्यमान है ।[1]

आश्वलायन

आर्ष-कालीन आश्वलायन—प्रश्न उपनिषद् के आरम्भ में लिखा है कि छः ऋषि भगवान् पिप्पलाद के पास गये । उनमें एक कौसल्य आश्वलायन था । यह आश्वलायन कोसल देश निवासी होने के कारण कौसल्य कहा जाता था । बृहदारण्यक उपनिषद ३.३.१ में जनक के बहुदक्षिणायुक्त यज्ञ का वृत्तान्त है । उस यज्ञ के समय इस वैदेह जनक का होता अश्वल था । इस का पुत्र आश्वलायन था । यह आश्वलायन पिता की परम्परा से ऋग्वेदीय होगा । होता का कर्म ऋग्वेदीय ही करते हैं । बृहदारण्यक उपनिषद् के पाठानुसार अश्वल कुरु या पांचाल देश का ब्राह्मण था । अतः उसका पुत्र भी तत्स्थानीय था । प्रश्न उपनिषद् में आश्वलायन को कोसल देशवासी कहा गया है । कोसल और पञ्चाल समीप ही हैं । आयुर्वेदीय चरक-संहिता १.९ में हिमालय पर एकत्र होने वाले ऋषियों में एक आश्वलायन भी है ।

महाभारत अनुशासन पर्व ७.५४ के अनुसार आश्वलायन विश्वामित्र गोत्र के कहे गये हैं ।

गौतम बुद्ध-कालीन आश्वलायन—मज्झिम निकाय अस्सलायण सुत्तन्त (२.५.३) में लिखा है कि जब गौतम श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे थे, तब उनसे आश्वलायन नाम का एक तरुण ब्राह्मण विद्यार्थी मिला । वह कल्प, शिक्षा, तीनों वेद इतिहास आदि में प्रवीण था ।[2]

---

१. अड्यार, मद्रास के उपनिषद् संग्रह में मुद्रित ।
२. त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद, पृ० ३८६

बुद्ध-कालीन आश्वलायन शाखाकार नहीं—एक दो वंगीय लेखकों ने लिखा है कि बुद्ध कालीन आश्वलायन ही आश्वलायन गृह्य का कर्ता था। यह बात उपहासास्पद है। शाखाकार ऋषियों ने ही अपने अपने कल्प बनाए थे। अतः आश्वलायन-गृह्य जो आश्वलायन-कल्प का एक भाग है, शाखाकार आश्वलायन का बनाया हुआ है। शाखाकार आश्वलायन व्यास के प्रशिष्यों में से कोई था। वह तो बुद्ध काल से सहस्रों वर्ष, पहले हो चुका था। बुद्ध काल का आश्वलायन, आश्वलायन-शाखा पढ़ने वाला कोई ब्राह्मण मानव था। आश्वलायन-शाखा पढ़ने वाले वैसे अनेक ब्राह्मण अब भी महाराष्ट्र देश में आश्वलायन कहाते हैं।

आश्वलायन शाखा

चरणव्यूह निर्दिष्ट ऋग्वेदीय शाखाओं का तीसरा समूह आश्वलायनों का है। पुराणों में इसी विषय का कोई उल्लेख हमें नहीं मिला। तदनुसार आश्वलायनों की कोई संहिता न थी। परन्तु चरणव्यूह का कथन बहुत प्राचीन है, अतः आश्वलायन-शाखा सम्बन्धी गम्भीर विवेचना आवश्यक है।

कई लोग अनुमान करते हैं कि आश्वलायन-श्रौत आदि के कारण ही आश्वलायन-शाख प्रसिद्ध हो गई होग, कोई आश्वलायन-संहिता विशेष न थी। ऐसा अनुमान हो सकता है, क्योंकि और भी अनेक सौत्र शाखाएं, यथा भारद्वाज, हिरण्यकेशी, बाधूल आदि विद्यमान हैं। परन्तु निम्नलिखित प्रमाणों से सन्देह होता है कि आश्वलायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता भी अवश्य होगी।

१. कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र के पृ० १ संख्या २९ में **आश्वलायन-संहिता व ब्राह्मण** उल्लिखित हैं।

२. चरणव्यह का टीकाकार महिदास आश्वलायनों की पद संख्या दूसरी आर्च-शाखाओं की संख्या से भिन्न लिखता है। महिदास के इस लेख का मूल उपलब्ध चरणव्यूह के किसी प्राचीन कोष में होगा अवश्य। मुद्रित चरणव्यूहों में ये पाठ टूटे हुए प्रतीत होते हैं।

३. बीकानेर के सूचीपत्र में संख्या ३८,४७ और ६२ के संहिता और पदपाठ के कोषों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे **आश्वलायन शाखा** के हैं। ३८ संख्या का कोष अष्टम अष्टक का है। उसके अन्त में लिखा है—**इति अष्टमाष्टके अष्टमोऽध्यायः**।

परन्तु अन्तिम मन्त्र पांचवे अध्याय के बीच का ही है। क्या यह भेद शाखा का है या ग्रन्थ के त्रुटित होने से है ? यदि अंतिम पक्ष माना जाए, तो **अष्टमोऽध्यायः** भूल से लिखा गया है।

४. पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में ऋक्-संहिता के अष्टमाष्टक का एक कोष है। वह उनके सूचीपत्र पृ० २ की संख्या २८ में प्रविष्ट है। उसके प्रथम पृष्ठ की पीठ पर लिखा है—**आश्वलायन संहिता अष्टमाष्टक ८९ पत्राणि**।

अंत में ४९वें वर्ग की समाप्ति अर्थात् **समानी व आकूतिः** मंत्र के अनन्तर पांच मंत्रों का एक और वर्ग है। उस वर्ग के अंत में ५० का अंक दिया है। तदनन्तर लिखा है—**इति दशमं मण्डलम्**।

इस कोष में कई परिशिष्ट मिलते हैं। वे सारे बिना स्वर के हैं। यह ५०वां वर्ग सस्वर है, अतः यह परिशिष्ट नहीं है। आश्वलायन-संहिता का यही अंतिम वर्ग होगा। इस वर्ग के पांच मंत्र निम्नलिखित हैं—

संज्ञानमुशना······॥१॥

संज्ञानं न स्वेभ्यः ॥२॥

यत्कक्षीवांसं वननं पुत्रो ॥३॥

सं वो मनांसि······॥४॥

तच्छंयोरावृणीमहे······॥५॥

वाष्कल-संहिता के अंत में संज्ञान-सूक्त पन्द्रह ऋचाओं का है। आश्वलायनों का इस विषय में उनसे इतना भेद होगा कि इनका अंतिम सूक्त सम्भवतः पांच ऋचाओं का हो। इस कोश में—**इति दशमं मण्डलम्** ॥ के आगे दो पंक्ति और मिलती हैं। उनमें २५ ऋचा वाले संज्ञान-सूक्त के **नैर्हस्त्यं** आदि दो मंत्र हैं। दूसरा मंत्र आधा ही है। प्रतीत होता है कि कभी इस हस्तलेख में एक पत्र और रहा होगा। उस पर संज्ञान-सूक्त के इस से अगले मन्त्र होंगे। ये इस संहिता के परिशिष्ट हैं, क्योंकि इन पर स्वर नहीं लगा है।

५. दयानन्द कालेज के पुस्तकालय में ऋग्वेद के ५-७ अष्टकों के पदपाठ का एक कोष है।[१] संख्या उसकी ४१३६ है। वह ताडपत्रों पर ग्रन्थाक्षरों में हैं। उसके अंत में लिखा है—**समाप्ता आश्वलायनसूत्रं** ।

पदपाठ के अंत में सूत्रं कैसे लिखा गया। क्या शाखा के अभिप्राय से आश्वलायन लिखा गया है ?

६. रघुनन्दन अपने स्मृतितत्व के मलमास प्रकरण में आश्वलायन ब्राह्मण का एक प्रमाण उद्धृत करता है। यथा—**आश्वलायनब्राह्मणं** "प्राच्यां दिशि वै देवाः सोमं राजानमक्रीणन्......सोमविक्रयीति।

यह पाठ ऐतरेय-ब्राह्मण ३.१.१ में मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि अर्वाचीन वङ्गीय और मैथिल विद्वान् ऐतरेय-ब्राह्मण को ही सम्भवतः आश्वलायन-ब्राह्मण कहते होंगे।

एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के सूचीपत्र में संख्या १९९ के ग्रन्थ को आश्वलायन-ब्राह्मण लिखा है। इसी पर सम्पादक ने अपने टिप्पण में लिखा है कि यह ऐतरेय ब्राह्मण से भिन्न नहीं है। इस पञ्चम पंजिका का पाठ सोसायटी मुद्रित ऐतरेय-ब्राह्मण की पंचम-पंजिका से मिलता है।

७. मध्य भारत के एक स्थान में आश्वलायन-ब्राह्मण का[२] अस्तित्व बताया जाता है—

८. आथर्वण बृहत्सर्वानुक्रमणी के २०वें काण्ड के प्रारम्भ में लिखा है कि इस काण्ड के ऋषि आदि नामों का आधार आश्वलायन अनुक्रमणी है।

९. अनन्त वाजसनेय प्रातिशाख्य १.१ की व्याख्या में आश्वलायन कृत प्रातिशाख्य का उल्लेख करता है।

सारे कल्प सूत्र अपनी शाखा का मुख्य आश्रय लेते हैं। अपनी शाखा के मन्त्र उनमें प्रतीक मात्र पढे जाते हैं और दूसरी शाखाओं के मन्त्र सकल पाठ में पढे जाते हैं। इस सुनिश्चित सम्प्रदाय के संबंध में आश्वलायन-कल्प क्या प्रकाश डालता है, यह विचारणीय है।

---

१. अब यह संग्रह होशियारपुर में है।

२. Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss. in the Central Provinces and Berar, by R.B. Hira Lal, 1926

देवस्वामी सिद्धान्ती का मत—आश्वलायन-श्रौत का पुरातन भाष्यकार देवस्वामी अपने भाष्यारम्भ में **अथतस्य समाम्नायस्य विताने** इस प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखता है—

अस्ति कश्चित् समाम्नायविशेषोऽनेनाचार्येणाभिप्रेतः शाकलो वा बाष्कलवो वा सह निवित् पुरोरुगादिभिः।......अथवा एतस्येत्यत्र वीप्सालोपो द्रष्टव्यः।......एवमृग्वेदसमाम्नायाः सर्वे परिगृहीता भवन्ति।

अर्थात्—समाम्नाय पद से आश्वलायन का अभिप्राय शाकलक अथवा बाष्कल अथवा सब ऋक् शाखाओं से है।

देवत्रात का मत—आश्वलायन-श्रौत का दूसरा पुरातन भाष्यकार देवत्रात अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

......एवं सर्वा ऋग्वेदशाखा अपि प्रमाणमिति प्राप्ते एतस्येत्युच्यते। तस्माद् येन खलु पुरुषेण या शाखा अधीता तथात्र विनिर्दिशति एतस्य...। तत्र चाम्नायस्येति सिद्धे समिति वचनात् अखिलं समाम्नायमुपदिशति। तस्माद् ये ऽन्यशाखायां पठिता मन्त्रास्ते सकलाः शास्त्रे उपदिश्यन्ते।...मन्त्रेष्वपि सर्वाः शाखाः प्रमाणं एयुः। तथा सति सूक्ते नवर्चं इति वैश्वदेवसूक्तम्। नवर्चं दशर्चं चेति विकल्पः स्यात्। तस्मादविकल्पमधिकृत्य एका एव शाखा निर्दिश्यन्ते।...... तस्माद्यस्य समाम्नायस्य नवर्चं समाम्नातं स नवर्चं शंसति। येन दशर्चमाम्नातं स दशर्चं शंसति न विकल्पः।

अर्थात्—ऋग्वेद की समस्त शाखाओं का यह एक ही कल्प है। अतः दूसरी शाखाओं (यजुः-साम आदि) के मंत्रों का पाठ इसमें सकल पाठ में दिया गया है। और ऋग्वेदीय अवान्तर शाखाओं के मन्त्रों के प्रयोग के लिए भी यही एक कल्प है। इसलिए सूक्त के कहने में जिन की शाखा के सूक्तों में जितने मन्त्र होते हैं, वे उतने ही मन्त्रों का प्रयोग करते हैं। यथा वैश्वदेव सूक्त जिन की शाखा में नौ ऋचा का है, वे नौ मन्त्रों का और जिन की शाखा में दस मन्त्रों का है, वे दश का प्रयोग करते हैं।

नरसिंहसूनू गार्ग्य नारायण का मत—वह अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

एतस्येतिशब्दो निवित्प्रैषपुरोरुक्कुन्तापवालखिल्यमहानाम्न्यैतरेयब्राह्मणसहितस्य शाकलस्य बाष्कलस्य चाम्नायद्वयस्यैतदाश्वलायनसूत्रं नाम प्रयोगशास्त्रमित्यध्येतृप्रसिद्धसंबन्धविशेषं द्योतयति।

अर्थात्—यह आश्वलायन सूत्र निवित् प्रैष आदि युक्त शाकल और बाष्कल दोनों आम्नायों का एक ही है।

षड्गुरुशिष्य का मत—सर्वानुक्रमणी वृत्ति के उपोद्घात में षड्गुरुशिष्य लिखता है—

शाकल्यस्य संहितैका बाष्कलस्य तथापरा।
द्वे संहिते समाश्रित्य ब्राह्मणान्येकविंशतिः॥
ऐतरेयकमाश्रित्य तदेवान्यैः प्रपूरयन्।

अर्थात्—शाकल्य और बाष्कल की संहिताओं का आश्रय लेकर तथा ऐतरेय ब्राह्मण का आश्रय लेकर और शेष बीस ब्राह्मणों से इसकी पूर्ति करके यह आश्वलायन कल्प बना है।

आश्वलायन कल्प के चार प्रसिद्ध भाष्यकारों का मत हमने दे दिया। ये चारों भाष्यकार इसी एक सम्प्रदाय का समर्थन करते हैं कि इस कल्प का संबन्ध समस्त ऋक् शाखाओं से है, और षड्गुरुशिष्य आदि का यह मत है कि इसका संबन्ध शाकल और बाष्कल दो आम्नायों से है। यदि

देवस्वामी का मत सत्य समझा जाए, तो आश्वलायन-श्रौत-सूत्र २.१० अन्तर्गत सकल पाठ में पढ़ी हुई **पृथिवीं मातरं** इत्यादि तीनों ऋचायें कभी भी किसी ऋक् शाखा में नहीं पढ़ी गयी थीं। और यदि षड्गुरुशिष्य का मत ठीक समझा जाए, तो सम्भव हो सकता है कि ये तीनों ऋचाएं, शांखायन माण्डूकेय आम्नायों में हों। सम्प्रति उपलब्ध वैदिक ग्रन्थ में ये केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण २.४.६.८ और आश्वलायन श्रौत में ही हैं।

देवस्वामी का पक्ष मानने में एक आपत्ति है। बृहद्देवता निश्चित ही ऋग्वेदीय ग्रन्थ है। इसका संबन्ध माण्डूकेय आम्नाय से है। यह आगे स्पष्ट किया जायगा। उस बृहद्देवता स्वीकृत ऋक् चरण में **ब्रह्म जज्ञानं** सूक्त विद्यमान था।[१] आश्वलायन श्रौत ४.६ में **ब्रह्म जज्ञानं** मन्त्र सकल पाठ से पढ़ा गया है। इससे निश्चित होता है कि आश्वलायन श्रौत में कई ऋक् शाखाओं के मंत्र भी सकल पाठ से पढ़े गये हैं। अतः यह श्रौत सब ऋक् शाखाओं का नहीं है।

अन्ततः यह सम्भव है कि शाकल और बाष्कल शाखाओं से मिलती जुलती कोई मूल आश्वलायन संहिता भी हो। इस सम्भावना में भी कई कठिनाइयां हैं और कल्प का इसमें विरोध है। अस्तु, ऐसी परिस्थिति में आश्वलायन ब्राह्मण का अस्तित्व अनिवार्य प्रतीत होता है। वह आश्वलायन ब्राह्मण ऐतरेय से कुछ भिन्न होना चाहिये। क्या उस ब्राह्मण में ऐतरेय १.१९ के समान **ब्रह्म जज्ञानं** मंत्र की प्रतीक नहीं होगी? इस प्रकार उसमें और भी कई भेद हो सकते हैं।

आश्वलायनों से संबन्ध रखने वाली अन्य कितनी शाखाएं थी, यह हम नहीं जान सके। वस्तुतः आश्वलायनों का सारा विषय अभी संदिग्ध है।

शांखायन शाखाएं

चरणव्यूह निर्दिष्ट चौथा विभाग शांखायनों का है। आश्वलायनों की अपेक्षा इनका हमें कुछ अधिक ज्ञान है। इसका कारण यह है कि कल्प के अतिरिक्त इनका ब्राह्मण और आरण्यक उपलब्ध हैं। पुराणों में इस शाखा की संहिता का कोई वर्णन नहीं मिलता।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कभी शांखायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता थी वा नहीं।

१. अलवर के राजकीय पुस्तकालय में ऋग्वेद के कुछ कोष हैं। उन्हें शांखायन शाखा का कहा गया है। हम उन्हें देख नहीं सके और सूची में उनका कोई वर्णन विशेष नहीं मिलता।

२. कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में संख्या २५ पर शांखायन संहिता तथा ब्राह्मण का अस्तित्व लिखा है।

३. शांखायन श्रौत में बारह ऐसी मन्त्र प्रतीकें हैं जिन के मन्त्र शाकलक शाखा में नहीं मिलते।[२] इन में से कई सौपर्ण ऋचाएं हैं। शांखायन श्रौत १५.३ के सूत्र हैं —

वेनस्तत् पश्यदिति पञ्च ॥८॥
अयं वेन इति वा ॥९॥

अर्थात्—**वेनस्तत्पश्यत्** ये पांच ऋचाएं पढ़े, अथवा **अयं वेनः** यह मंत्र पढ़े। यहां आठवें सूत्र में मंत्रों की प्रतीक मात्र पढ़ी गयी है। इस से निश्चित होता है कि किसी काल में ये पांच मंत्र शांखायन संहिता में पढ़े गए थे। परन्तु, वरदत्त का पुत्र अपने भाष्य में लिखता है कि अपनी शाखा में इन ऋचाओं

१. बृहद्देवता, ८।१४।

२. पृ. ६२८, सूत्र-संस्करण, हिल्लीब्राण्ट

के उत्पन्न होने से विकल्पार्थ अगला सूत्र पढ़ा गया है। यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। सूत्रकार के काल में संहिता का पाठ उत्पन्न हो गया हो, यह मानना इतना सरल नहीं। क्या नवम सूत्र किसी अत्यन्त प्राचीन भाष्य का ग्रन्थ तो नहीं था? इसी प्रकार से शांखायन श्रौत में **संज्ञान-सूक्त** और **समिद्धो अंजन्** आदि ऋचाएं भी प्रतीक मात्र से पढ़ी गयी हैं। अतः बहुत सम्भव है कि शाकलों से स्वल्प भेद रखती हुई शांखायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता थी। एक और बात यहां स्मरण रखनी चाहिए। शांखायन श्रौत ६.२०.३० में एक पुरोनुवाक्या **इमे सोमासस्तिरो अह्न्यास** इति प्रतीकमात्र से पढ़ी गयी है। यही पुरोनुवाक्या आश्वलायन श्रौत ६.५ में सकल पाठ में पढ़ी गई है। यदि दोनों सूत्रों की संहिताओं में भेद न था तो पाठ की यह रीति नहीं हो सकती थी।

४. शांखायन आरण्यक में अनेक ऐसी ऋचाएं जो शाकलक पाठ में विद्यमान हैं, सकल पाठ से पढ़ी गयी हैं। वे ऋचाएं शांखायन संहिता में नहीं होनी चाहिएं। देखें, शांखायन आरण्यक ७।१४,१६,१६,२१॥ ८।४,६॥६।१॥१२।२,७॥ ऐसी स्थिति में यही सम्भावना होती है कि शांखायनों की कोई स्वतन्त्र संहिता थी।

इस समय तक शांखायनों के चार भेदों का हमें पता लग चुका है। उनके नाम हैं शांखायन, कौषीतकि, महाकौषीतकि और शाम्वव्य। अब इनका वर्णन किया जाता है।

१. **शांखायन शाखा**—शांखायन संहिता का उल्लेख अभी किया जा चुका है। शांखायन ब्राह्मण आनन्दाश्रम पूना और लिण्डनर के संस्करणों में मिलता है। शांखायन आरण्यक, श्रौत और गृह्य भी मिलते हैं। इनके संस्करणों में एक भूल हो चुकी है। उसका दूर करना आवश्यक है।

शांखायन वाङ्मय के संस्करणों में भूल—इस शाखा के ब्राह्मण आदि के संस्करणों में एक भूल हो चुकी है। आरण्यक उस भूल से बच गया है। वह भूल है शाखा सम्मिश्रण की। कौषीतकि ब्राह्मण आदि में थोड़े से भेद हैं। अतः ये दोनों शाखाएं पृथक्-पृथक् मुद्रित होनी चाहिएं। उन भेदों का थोड़ा सा निदर्शन नीचे दिया जाता है—

१. लिण्डनर अपनी भूमिका के पृष्ठ प्रथम पर लिखता है कि शांखायन ब्राह्मण में २७६ खण्ड हैं और कौषीतकि ब्राह्मण में २६०। कौषीतकि ब्राह्मण का उन्हें एक ही मलयालम हस्तलेख मिला था। सम्भव है, उसमें कुछ पाठ त्रुटित हों, परन्तु १६ खण्डों का भेद शाखा भेद के अतिरिक्त अनुमान नहीं किया जा सकता। लिण्डनर के अनुसार मलयालम ग्रन्थ के कुछ पाठ देवनागरी ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न हैं।

२. शांखायन आरण्यक के प्रथम दो अध्याय महाव्रत कहाते हैं। तीसरे से शांखायन उपनिषद् का आरम्भ होता है। इसी प्रकार कौषीतकि उपनिषद् भी कौषीतकि आरण्यक का एक भाग है। कौषीतकि उपनिषद् के हमारे पास दो हस्तलेख हैं। मद्रास राजकीय संग्रह के ग्रन्थों की ही ये प्रतिलिपि हैं। हमने उनकी तुलना शांखायन आरण्यक के उपनिषद् भाग से की है। इन दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त भेद है। कौषीतकि उपनिषद् १.२ **स इह कीटो वा** का क्रम शांखायन उपनिषद् में इससे भिन्न है। कौषीतकि उपनिषद् १.४ में **प्रति धावन्ति** पाठ है और शांखायन उपनिषद् में इसके स्थान में **प्रति यन्ति** पाठ है। इसी खण्ड के इससे अगले पाठ के क्रम में पर्याप्त भेद है। इसी प्रकार १.५ के पाठ में भी बहुत भेद है। इतना ही नहीं, प्रत्युत इससे आगे खण्ड विभाग भी भिन्न हो जाता है।

३. गृह्य पाठों में भी ऐसे ही अनेक भेद हैं।

शांखायन और कौषीतकि शाखाएं

इससे निश्चित होता है कि शांखायन और कौषीतकि दो पृथक् शाखाएं हैं। सम्पादकों ने इन दोनों के सम्पादन में कई भूलें की हैं। भावी में इन शाखाओं को पृथक्-पृथक् ही मुद्रित करना चाहिए।

श्री चिन्तामणि और यह शाखाभेद—परलोक गत श्री टी.आर. चिन्तामणि ने इस प्रश्न पर एक गवेषणापूर्ण लेख लिखा। वह बड़ोदा की आल इन्डिया, ओरियण्टल कान्फ्रेंस के लेख संग्रह में मुद्रित हो चुका है। उनका निष्कर्ष है कि पंडित भगवद्दत्त अर्थात् मूल लेखक का कौषीतकि और शांखायन शाखा भेद विषयक परिणाम सत्य था।

शांखायन सम्प्रदाय का एक विस्मृत ग्रन्थकार—शांखायन श्रौत सूत्र पर एक पुरातन टीका मुद्रित हो चुकी है। उस के कर्ता का नाम अनुपलब्ध है। परन्तु यह लिखा है कि उसके पिता का नाम वरदत्त था और वह आनर्तीय अर्थात् आनर्त देश का रहने वाला था। गत वर्षों में उसके नाम के संबंध में कोई प्रकाश नहीं पड़ सका।[1]

उसका नाम आचार्य ब्रह्मदत्त—१. शांखायन गृह्य संग्रह का कर्ता वसुदेव अपने ग्रन्थारम्भ में लिखता है—**यद्येवमाचार्याग्निस्वामिब्रह्मदत्ताविभिर्व्याख्यात एवं सूत्रार्थः।**

पुनः वह अनुवचन की व्याख्या में लिखता है—**एतेषां सप्तानामपि पक्षाणाम् ऋषिदैवतच्छन्दांसीति आचार्यब्रह्मदत्तेन गर्हितोयं पक्षः इति व्याख्यातम्।**

२. तंजोर के पुस्तकालय में **शांखायन श्रौतसूत्र पद्धति** नाम का एक ग्रन्थ संवत् १५२९ का लिखा हुआ मिलता है।[2] उसका कर्ता नारायण है। वह अपने मंगल श्लोक में लिखता है—

ब्रह्मदत्तमतं सर्वं सम्प्रदायपुरस्सरम्। श्रुत्वा नारायणाख्येन पद्धतिः कथ्यते स्फुटम् ॥२॥

पूर्वोक्त तीनों वचनों का यही अभिप्राय है कि आचार्य अग्निस्वामी और ब्रह्मदत्त ने शांखायन श्रौत और गृह्य पर अपने भाष्य लिखे थे। आचार्य अग्निस्वामी को आनर्तीय वरदत्त सुत अपने भाष्य में स्मरण करता है। देखें १०.१२.६; १२.२.१७; १४.१०.५ इत्यादि। अतः अग्निस्वामी तो वरदत्त सुत से पूर्व हो चुका था। अब रहा ब्रह्मदत्त।

आनर्तीय का ग्रन्थ एक भाष्य है। वह स्वयं भी अपने ग्रन्थ को भाष्य ही लिखता है। यथा—

शांखायनकसूत्रस्य समं शिष्यहितेच्छया। वरदत्तसुतो भाष्यमानर्तीयोऽकरोन्नवम् ॥

शांखायन श्रौत सूत्र पद्धति का अभी उल्लेख हो चुका है। उसके मंगल श्लोक में ब्रह्मदत्त का मत स्वीकार करना लिखा है और पद्धति के अंदर सर्वत्र भाष्यकार का स्मरण किया गया है।[3] यह भाष्यकार ब्रह्मदत्त ही है। वरदत्त के पुत्र का नाम ब्रह्मदत्त होना बहुत सम्भव है। हमें यही प्रतीत होता है कि आनर्त देश-निवासी वरदत्त का पुत्र भाष्यकार ब्रह्मदत्त ही था।

लक्ष्मीधर और ब्रह्मदत्त—कृत्यकल्पतरु का कर्ता लक्ष्मीधर संवत् (१२०० के समीप) अपने

---

१. सन् १८९१ में यह भाष्य मुद्रित हुआ था।
२. सूचीपत्र भाग ४, सन् १९२९, संख्या २०४०, पृ० १५९८। यही ग्रन्थ पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर के पुस्तकालय में भी है, देखें संख्या ६५५०।
३. पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर, का कोश पत्र ९ख, ११क, ३६ख, ५९क इत्यादि।

ग्रन्थ के, नियत काल खण्ड, के पृ० ८० पर शांखायन गृह्य पर ब्रह्मदत्त भाष्य को उद्धृत करता है। इस लेख से हमारा पूर्वलिखित अनुमान सिद्ध हो जाता है। गृह्य और श्रौत भाष्यकार एक ही व्यक्ति था।

शंख और शांखायन—शंख नाम के अनेक ऋषि समय-समय पर हो चुके हैं। कपिष्ठल कठ संहिता में एक कौष्य शंख स्मरण किया गया है—

एतद्ध वा उवाच शंखः कौष्यः पुत्रम्। अध्याय ३४.१॥

उवाच दिवा जातः शाकायन्यः शंख कौष्यम्। अध्याय ३५.१॥

काठक आदि संहिताओं में भी यह नाम मिलता है। एक शंख नाम का ऋषि पंचाल के राजा ब्रह्मदत्त का समकालीन था। महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय २०० में लिखा है—

ब्रह्मदत्तश्च पांचाल्यो राजा धर्मभृतां वरः। निधिं शंखमनुजाप्य जगाम परमां गतिम्॥ १७॥

अर्थात्—(दान-धर्म की प्रशंसा करते हुए भीष्म जी युधिष्ठिर को कह रहे हैं कि) शंख को बहुत सा धन देकर पंचाल का राजा ब्रह्मदत्त परम गति को प्राप्त हुआ।

महाभारत काल से बहुत पूर्व के ऋषि-वंश में शंख, लिखित नाम के दो प्रसिद्ध भाई हुए हैं। आदि पर्व ६०.२५ के ५४५ प्रक्षेपानुसार वे देवल के पुत्र थे। शान्तिपर्व अध्याय २३ में शंख लिखित की कथा है। स्कन्द पुराण, नागर खण्ड, ११.२२,२३ में भी इन्हीं का वर्णन है। नागर खण्ड में इनके पिता का नाम शाण्डिल्य लिखा है। दोनों स्थानों में कथा में थोड़ा सा अन्तर है। कदाचित् यही दोनों धर्म-शास्त्र प्रणेता थे।

इनमें से किसी एक शंख का वा किसी अन्य शंख का पुत्र शांख्य था। गर्गादि गण में शंख शब्द का पाठ करने से पाणिनि का निर्देश इस शांख्य की ओर है। इसी शांख्य का नामान्तर शांख्यायन था।[१] एक सांख्य चरक संहिता सूत्र स्थान १.८ में स्मरण किया गया है।

शांखायन सम्प्रदाय और आचार्य सुयज्ञ—आश्वलायन गृह्य ३.४, शाखांयन गृह्य ४.१० तथा शाम्बव्य गृह्य में सुयज्ञ शांखायन का नाम मिलता है। शांखायन श्रौत सूत्र भाष्यकार स्पष्ट कहता है कि शांखायन श्रौत का कर्ता सुयज्ञ ही था। यथा—

स्वमतस्थापनार्थं सुयज्ञाचार्यः श्रुतिमुदाजहार। १.२.१८॥

साहचर्यं सुयज्ञेन सर्वत्र प्रतिपादितम्। ४.६.७॥

शेषं परिभाषां चोक्त्वा प्रक्रमते ततो भगवान् सुयज्ञः सूत्रकारः। ११.१.१॥

शांखायन आरण्यक के अंत में उसके वंश का आरम्भ गुणाख्य शांखायन से कहा गया है। सुयज्ञ और गुणाख्य का संबंध विचारणीय है।

२. कौषीतकि शाखा—इस शाखा की संहिता का अभी तक पता नहीं लगा। सम्भव है इसका शांखायन संहिता से कोई भेद न हो, अथवा अत्यन्त स्वल्प भेद हो। इनके ब्राह्मण का उल्लेख पूर्व हो चुका है। इस ब्राह्मण पर दो भाष्य मिलते हैं। एक है विनायक भट्ट का और दूसरे के कर्ता का नाम अभी तक अज्ञात है। हां उस भाष्य, व्याख्यान या वृत्ति का नाम सदर्थविमर्श या सदर्थविमर्शनी है। इस भाष्य के तीन कोश मद्रास राजकीय पुस्तकालय में है।[२] कौषीतकि श्रौत भी अपनी शाखा के अन्य ग्रन्थों के समान

---

१. यथा वार्तिककार के कात्य और कात्यायन दो नाम।

२. मद्रास राजकीय संस्कृत हस्तलेखों का सूचीपत्र, भाग ४, सन् १९२८, संख्या ३६५०,३७७९। भाग ५, सन् १९३२, पृ० ६३४८।

शांखायन श्रौत से कुछ भिन्न था। इसके संबंध में मैसूर के सूचीपत्र की एक टिप्पणी में लिखा है कि इसका खण्ड विभाग मुद्रित शांखायन श्रौत से कुछ भिन्न है। इसके तीन हस्तलेख मद्रास, मैसूर और लाहौर में विद्यमान हैं।[1] किसी भावी सम्पादक को इस ग्रन्थ पर काम करना चाहिए।

कौषीतकि और शांखायनों का संबंध—आक्सफोर्ड के बोडलियन पुस्तकालय के शांखायन ब्राह्मण के एक हस्तलेख में लिखा है—**कौषीतकिमतानुसारी शांखायनब्राह्मणम्।**

नारायणकृत शांखायन श्रौत्रसूत्र पद्धति का जो हस्तलेख पंजाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में है, उसमें अध्याय परिसमाप्ति पर लिखा है—**इति शांखायनसूत्रपद्धतौ कौषीतकिमतानुरक्तमलयदेशोद्भवाष्टाक्षराभिधानविरचितायां तृतीयोऽध्यायः॥**

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कौषीतकि और शांखायनों का घनिष्ठ संबंध है।

काशी में मुद्रित कौषीतकि गृह्य के अंत में लिखा है—

इति शांखायनशाखायाः कौषीतकिगृह्यसूत्रे षष्ठोऽध्यायः॥ इदमेव कौशिकसूत्रम्।

कौशिक का नाम यहां कैसे आ गया, यह विचारणीय है। कौषीतकि गृह्य कारिका का एक हस्तलेख मद्रास में है।[2]

पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर, के हस्तलेखों की सूची पृष्ठ १३१ पर लिखा है—**इति शांखायनाचार्यशिष्यकृत कौषीतकिब्राह्मणे।**

कौषीतकि का वास्तविक नाम—कौषीतक के पिता का नाम कुषीतक था।[3] आश्वलायनादि गृह्य सूत्रों में **कहोलं कौषीतकम्** प्रयोग देखने में आता है। अतः कौषीतकि का नाम कहोल ही होगा। एक कहोल उद्दालक का शिष्य और जामाता था। इस कहोल का पुत्र अष्टावक्र था। इस विषय में महाभारत वनपर्व अध्याय १३४ में कहा है—

उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको नाम्ना कहोलेति बभूव राजन्॥८॥
तस्मै प्रादात्सद्य एव श्रुतं च भार्यां च वै दुहितरं स्वां सुजाताम्॥९॥
अस्मिन् युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठावास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ।
अष्टावक्रश्च कहोलसूनुरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम्॥३॥
अष्टावक्रः प्रथितो मानवेषु अस्यासीद्वै मातुलः श्वेतकेतुः॥ १२॥

अर्थात्—कहोल उद्दालक का जामाता था। कहोल का पुत्र अष्टावक्र और उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु था। इस संबंध से श्वेतकेतु और अष्टावक्र क्रमशः मामा और भानजा थे। वे दोनों ब्रह्मकृत् अर्थात् वेद जानने वालों में श्रेष्ठ अथवा ब्राह्मणकार थे।

कौषीतकि को कई स्थानों पर कौषीतक भी लिखा है। यथा—

क. **कहोलं कौषीतकम्।** आश्वलायन गृह्य ३.४.४

---

१. मद्रास सूची पत्र भाग ५, सन् १९३२, संख्या ४१८३। मैसूर सूचीपत्र, सन् १९२२, संख्या २२। पंजाब यूनिवर्सिटी।

२. कौषीतकि गृह्य कारिका। मद्रास सूचीपत्र, भाग४, खण्ड तृतीय, संख्या ३८२४। भवत्रात भाष्य सहित मुद्रित कौषीतक गृह्य में पांच ही अध्याय हैं।

३. एक कुषीतक का नाम ताण्ड्य ब्राह्मण १७.४.३ में मिलता है।

ख. नत्वा कौषीतकाचार्यं शाम्बव्यं सूत्रकृत्तमम् ।[1]

ग. श्रीमत्कौषीतकमुनिमहः पूर्वपृथ्वीधराग्रादुद्यत्सुज्जसित—

घ. सुकृतिहृद्व्योमसान्द्रान्धकारः ।[2] इत्यादि

क्या शाखाकार कौषीतकि ही अष्टावक्र का पिता कहोल था, यह विचारना चाहिए। एक अनुमान इस विषय का कुछ समर्थन करता है। ऋग्वेदीय आरुणि अथवा गौतम शाखा का वर्णन आगे किया जायेगा। वह गौतम यही उद्दालक वा इसका कोई संबंधी था। सम्भव है, उस का जामाता कहोल भी ऋग्वेद का ही आचार्य हो।

पाणिनीय सूत्र ४.१.१२४ के अनुसार कौषीतकि और कौषीतकेय में भेद है। काश्यप गोत्र वाला कौषीतकेय है और दूसरा कौषीतकि। बृहदारण्यक उपनिषद् ३.४.१ में **कहोल कौषीतकेय** पाठ है। यदि यह पाठ अशुद्ध नहीं तो पूर्व लिखे गए वचनों से इसका विरोध विचारणीय है।

३. **महाकौषीतकि शाखा**। आचार्य महाकौषीतक का नाम आश्वलायनादि गृह्य सूत्रों के तर्पण प्रकरण में मिलता है। इस की शाखा का उल्लेख आनर्तीय ब्रह्मदत्त अपने भाष्य में करता है—

न त्वाम्नायगतस्य मतिरेषा न पौरुषेयस्य कल्पस्य। एवं तर्ह्यनुब्राह्मणमेतत् महाकौषीतकाद्याहृतं कल्पकारेणाध्यायत्रयम्। १४.२.३॥

महाकौषीतकि ब्राह्मणाभिप्रायेण नाम्ना धर्मातिदेश इति तद्धर्मप्रवृत्तिः ।१४।१०।१॥

अर्थात्—शांखायन श्रौत के तीन अंतिम १४–१६ अध्याय सुयज्ञ कल्पकार ने महाकौषीतकि से लिए हैं। इन महाकौषीतकियों का अपना ब्राह्मण ग्रन्थ भी था।

विनायक भट्ट अपने कौषीतकि ब्राह्मण भाष्य में सात स्थानों पर महाकौषीतकि ब्राह्मण से प्रमाण देता है। वे स्थान हैं—३.४॥ ३.५॥ ३.७॥ १८.१४॥ २४.१॥ २४.२॥ २६.१॥[3]

आश्वलायन के ऋषि तर्पण में ऐतरेय और महैतरेय पढ़े गए हैं। इसी प्रकार का महाकौषीतकि नाम प्रतीत होता है।

४. **शाम्बव्य शाखा**—इस शाखा की कोई संहिता वा ब्राह्मण थे वा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। हां,इसका कल्प अवश्य था। उस कल्प का उल्लेख जैमिनीय श्रौत भाष्य में भवत्रात ने किया है—

आश्वलायनः षड्भिः (षोडशभिः ?) पटलैः समस्तं यज्ञतन्त्रमवोचत्। तदेव चतुर्विंशत्यावदत् शाम्बव्यः ।[4]

अर्थात्—आश्वलायन ने अपना यज्ञ-शास्त्र १६ पटलों में कहा है, और शाम्बव्य ने अपना कल्प २४ पटलों में कहा। इन २४ पटलों में से श्रौत के कितने और गृह्य के कितने हैं, यह नहीं कह सकते। परन्तु कौषीतकि गृह्य के समान शाम्बव्य गृह्य के १६ पटल और महाव्रत के २ पटल मिलाकर कुल १८ पटल ही बनते हैं।

शाम्बव्य गृह्य का उल्लेख हरदत्त मिश्र अपने एकाग्निकाण्ड भाष्य में करता है। देखें दूसरे

१. शाम्बव्यगृह्यकारिका। मद्रास सूचीपत्र, भाग प्रथम, खण्ड प्रथम, सन् १९१३, संख्या ४०।
२. कौषीतकि ब्राह्मण भाष्य, मद्रास सूचीपत्र, भाग ४, खंड ३, पृ० ५४०२।
३. कीथकृत, ऋग्वेद ब्राह्मणों का अनुवाद, भूमिका, पृ० ४१।
४. पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर का हस्तलेख, ४९७२, पत्र ४४। यह कोश बड़ोदा ग्रन्थ की प्रतिकृति है।

प्रपाठक का खण्ड इयं दुरुक्तात् मंत्र का भाष्य । अरुणगिरिनाथ रघुवंश पर अपनी प्रकाशिका टीका ६.२५ तथा कुमार संभव टीका ७.१४ पर इस ग्रन्थ का एक सूत्र उद्धृत करता है ।

आश्वलायन गृह्य ४.१०.२२ में शाम्बव्य आचार्य का मत दिया गया है । हरदत्त भाष्य सहित जो गृह्य त्रिवन्द्रम से प्रकाशित हुआ है, उस में यह नाम शुद्ध पढ़ा गया है । गार्ग्य नारायण की वृत्ति के साथ जो आश्वलायन गृह्य छपे हैं, उनमें **शांवत्यः** अशुद्ध पाठ है ।

शाम्बव्य गृह्य कारिका के मंगल श्लोकों में भी शाम्बव्य को स्मरण किया गया है । यथा—

नत्वा कौषीतकाचार्यं शाम्बव्यं सत्रकृत्तमम् । गृह्यं तदीयं संक्षिप्य व्याख्यास्ये बहुविस्तृतम् ॥
यथाक्रमं यथाबोधं पंचाध्यायसमन्वितम् । व्याख्यातं वृत्तिकाराद्यैः श्रौतस्मार्तविचक्षणैः ।

अर्थात्—कौषीतकाचार्य और सूत्र कर्ता शाम्बव्य को नमस्कार करके पांच वाले अध्याय में शाम्बव्य गृह्य का व्याख्यान किया जाता है ।

ये श्लोक संदेह उत्पन्न करते हैं कि कदाचित् गृह्य पांच अध्याय का ही हो ।

शाम्बव्य और कौषीतकि का संबंध भी विचार योग्य है । इन से सम्बद्ध सब ग्रन्थों के मुद्रित हो जाने पर ही इस विचार का निश्चित परिणाम जाना जा सकता है ।

नाम—पाणिनीय गर्गादि गण में शङ्कु नाम पढ़ा गया है । गणरत्नमहोदधि ३.२५२ के अनुसार 'शम्बु' नाम भी गर्गादि में पढ़ा है । उस शम्बु का पुत्र शाम्बव्य था ।

शाम्बव्य ऋषि कुरु-देशवासी—महाभारत आश्रमवासिक पर्व अध्याय १० में एक आचार्य के विषय में कहा है—

ततः स्वाचरणो विप्रः सम्मतोऽर्थविशारदः । सांबाख्यो बह्वृचो राजन् वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ॥

यह पाठ नीलकण्ठ टीका सहित मुम्बई संस्करण का है । कुम्भघोण संस्करण में **सांबाख्यो** के स्थान में **संभाव्यो** पाठ है । कुम्भघोण संस्करण में इसी स्थान पर क कोष का पाठ **शांभव्यो** है । दयानन्द कालेज पुस्तकालय के चार कोशों में जिन की संख्या ६०,१११६,२८३६ और ६७३३ है, इस स्थान पर **साम्बाख्यो । संबाख्यो । शांवाह्यो** और **शाकाम्यो** पाठ क्रमशः मिलते हैं । हमारा विचार है कि वास्तविक पाठ संभवतः **शांभव्यो** अथवा **शांबव्यो** हो । इस श्लोक के दूसरे पाठान्तरों पर यहां ध्यान नहीं दिया गया ।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि जब महाराज धृतराष्ट्र वानप्रस्थ आश्रम में जाने लगे, तो उनकी वक्तृता के उत्तर में **शांबव्य** नाम का ब्राह्मण जो ऋग्वेदीय और अर्थशास्त्र का पंडित था, बोलने लगा । अतः प्रतीत होता है कि कुरु-जांगल देशवालों का प्रतिनिधि ब्राह्मण शांबव्य, कुरु देशवासी ही होगा ।

आयुर्वेदाचार्य शाम्बव्य—आयुर्वेद के नावनीतिक ग्रन्थ (विक्रम तीसरी शती से पूर्व) के आरम्भ में आचार्य शांबव्य स्मृत है । निस्सन्देह शाखा प्रवचनकार और आयुर्वेद का कर्ता एक ही व्यक्ति था ।

५. माण्डूकेय शाखाएं

आर्च शाखाओं का पांचवां विभाग माण्डूकेयों का है । पुराणों में इस विभाग का स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं मिलता । शाकलों और बाष्कलों के दो विभागों के अतिरिक्त पुराणों में शाकपूणि और

बाष्कलि भरद्वाज के दो और विभाग लिखे गये हैं। इन दो विभाग में से माण्डूकेयों का किसी से कोई संबंध है, वा नहीं, इस विषय पर निश्चित रूप से अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता।

बृहद्देवता का आम्नाय—हमारा अनुमान है कि बृहद्देवता का आम्नाय ही माण्डूकेय आम्नाय है। इस अनुमान को पुष्ट करने वाले प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं—

१. बृहद्देवता का प्रथम श्लोक है—**मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा समाम्नायानुपूर्वशः।**

अर्थात्—मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को नमस्कार करके आम्नाय के क्रम से सूक्त आदि के देवता कहूंगा।

इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि बृहद्देवता ग्रन्थ किसी आम्नाय विशेष पर लिखा गया है। उस आम्नाय के पहचानने का प्रकार आगे लिखा जाता है। बृहद्देवता के आम्नाय में ऋ० १०.१०.३ के पश्चात् एक नाकुल सूक्त इस मन्त्र से आरम्भ होता है—**ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्......**। यह सूक्त शाकल और बाष्कल आम्नाय में पढ़ा नहीं गया। शाकलक सर्वानुक्रमणी में इसका अभाव है। बाष्कल आम्नाय का शाकल आम्नाय से जितना भेद है वह पूर्व लिखा जा चुका है। तदनुसार बाष्कल आम्नाय में भी यह सूक्त नहीं हो सकता। आश्वलायन श्रौतसूत्र ४.६ में इस नाकुल सूक्त के कुछ मन्त्र सकल पाठ में पढ़े गये हैं। अतः आश्वलायन आम्नाय में भी **ब्रह्म जज्ञानं** सूक्त का अभाव ही है। अब रहे ऋग्वेद के दो शेष आम्नाय। उनमें से बृहद्देवता का संबंध शांखायन आम्नाय से भी नहीं है। शांखायन श्रौतसूत्र ५.६ में इसी पूर्वोक्त नाकुल सूक्त के **ब्रह्म जज्ञानं** आदि कुछ मन्त्र सकल पाठ से पढ़े गये हैं। अतः रह गया एक ही आम्नाय माण्डूकेयों का। उसी में यह सूक्त विद्यमान होना चाहिए। सुतरां बृहद्देवता का संबंध उसी माण्डूकेय आम्नाय से है।

ऐतरेय ब्राह्मण १.१६ और कौषीतकि ब्राह्मण ८.४ में **ब्रह्म जज्ञानं** आदि मन्त्रों की प्रतीकें पढ़ी गई हैं। ऐतरेय ब्राह्मण भाष्य में सायण लिखता है—

ता एताश्चतस्रः शाखान्तरगता आश्वलायनेन पठिता द्रष्टव्याः।

अर्थात्—ये ऋचाएं ऐतरेय शाखा की नहीं हैं। प्रत्युत शाखान्तर की हैं।

२. बृहद्देवता अध्याय तीन में निम्नलिखित श्लोक हैं—

ऐन्द्राण्यस्मै ततस्त्रीणि वृष्णे शर्धाय मारुतम्।
आग्नेयानि तु पश्वेति नव शश्वद्धि वाम् इति॥ ११८॥
दशाश्विनानीमानीति इन्द्रावरुणयोः स्तुतिः।
सौपर्णेयास्तु याः काश्चिन् निपातस्तुतिषु स्तुताः॥११६॥
उपप्रयन्तः सूक्तानि आग्नेयान्युत्तराणि षट्।

अर्थात्—ऋग्वेद १.७४ के पश्चात् बृहद्देवता के आम्नाय में दस अश्विसूक्त हैं। उनकी पहली ऋचा **शश्वद्धि वाम्** है। तत्पश्चात एक सौपर्ण सूक्त है और उसके आगे **उपप्रयन्तः** ऋवेद १.७४ आदि अग्नि देवता संबंधी छः सूक्त हैं।

सूक्तों का ऐसा क्रम शाकलक और बाष्कल आम्नायों में नहीं है। **शश्वद्धि वाम्** मन्त्र आश्वलायन और शांखायन श्रौत सूत्रों में नहीं मिलता। इसलिए यद्यपि दृढ़ रूप से तो नहीं पर अनुमान से कह सकते हैं कि यह युक्त और पूर्वनिर्दिष्ट सूक्त क्रम माण्डूकेयों का ही है।

माण्डूकेयों का कुल वा देश—मण्डूक का पुत्र माण्डूकेय था। उस माण्डूकेय को शांखायन आरण्यक

७.२ आदि में शौरवीर और ऐतरेय आरण्यक ३.१ में शूरवीर कहा गया है। उसका एक पुत्र दीर्घ (शां० आ० ७.२) वा ज्येष्ठ (ऐ० आ० ३.१) था। ह्रस्व माण्डूकेय इसी माण्डूकेय का भ्राता प्रतीत होता है। इस ह्रस्व माण्डूकेय का एक पुत्र मध्यम था। यह भी वहीं इन दोनों आरण्यकों में लिखा है। उस मध्यम की माता का नाम प्रातीबोधी प्रातीयोधी था।[१] वह मध्यम मगधवासी था, यह शांखायन आरण्यक में लिखा है। शांखायन और ऐतरेय आरण्यक के इन नामों का उल्लेख करने वाले पाठ कुछ भ्रष्ट प्रतीत होते हैं। अतः उन पाठों का शोधना बड़ा आवश्यक है। हमारा अनुमान है कि कदाचित् माण्डूकेय तीन भाई हों। पहले ज्येष्ठ या दीर्घ, दूसरा मध्यम और तीसरा ह्रस्व। यदि मध्यम मगधवासी है, तो क्या वा सारे माण्डूकेय मगधवासी थे, यह विचारणीय है।

माण्डूकेय आम्नाय का परिमाण—यदि बृहद्देवता का आम्नाय माण्डूकेय आम्नाय ही है और यदि उस आम्नाय का यथार्थ ज्ञान हमने बृहद्देवता से ही करना है, तो बृहद्देवता का पाठ निस्संदेह अत्यन्त शुद्ध होना चाहिए। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में ऋग्वेद के भिन्न भिन्न चरणों के पृथक् पृथक् बृहद्देवता थे। शनैः शनैः उनके पाठ परस्पर मेल से कुछ कुछ दूषित और न्यूनाधिक होते गए। मैकडानल कृत बृहद्देवता का संस्करण यद्यपि बड़े परिश्रम का फल है, तथापि उसमें स्पष्ट ही न्यून से न्यून दो बृहद्देवता ग्रन्थों का सम्मिश्रण किया गया है।

अतः अब यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि मुद्रित बृहद्देवता केवल एक ही आम्नाय पर आश्रित है। हां, यह बात अधिकांश में सत्य प्रतीत होती है। मुद्रित बृहद्देवता के अनुसार उसके आम्नाय का अथवा माण्डूकेय शाखा का स्वरूप मैकडानल संस्कृत बृहद्देवता की भूमिका में देखा जा सकता है।[२] वहां उन ३७ सूक्तों का वर्णन है जो बृहद्देवता की शाखा में शाकलकों से अधिक पाए जाते हैं। बृहद्देवता के आम्नाय में शाकलक शाखा में विद्यमान कुछ सूक्तों का अभाव भी है।

क्या माण्डूकेय ही बह्वृच थे—साधारणतया बह्वृच शब्द से ऋग्वेद का अभिप्राय लिया जाता है। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १०.५.२.२० में बह्वृच शब्द का सामान्य प्रयोग है। महाभाष्य में भी ऐसा ही प्रयोग है—**एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्।**

इस का अभिप्राय यह है कि अन्य वेदों की अपेक्षा ऋग्वेद में अधिक ऋचाएं हैं। परन्तु ऐसा भी प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के पांच चरणों में से जिस में सब से अधिक ऋचाएं थी, उसे भी बह्वृच कहा गया है। वह चरण माण्डूकेयों के अतिरिक्त दूसरा दिखाई नहीं देता। इसी चरण में शाकलकों और बाष्कलों से प्रत्यक्ष ही अधिक ऋचाएं हैं और आश्वलायनों तथा शांखायनों से भी सम्भवतः इसी में अधिक ऋचाएं होंगी। अथवा बह्वृच मण्डूकेयों का कोई अवान्तर विभाग हो सकता है।

पैङ्गि और कौषीतकि से भिन्न बह्वृच एक शाखाविशेष है—बह्वृच एक शाखा है, इसके प्रमाण आगे दिये जाते हैं।

१. कौषीतकि ब्राह्मण १६.९ का प्रमाण है—

किं देवत्यः सोम इति मधुको गौश्रं पप्रच्छ। स ह सोमः पवत इत्यनुद्रुत्यैतस्य वा अन्ये स्युरिति

---

१. एक प्रातिमेधी ब्रह्मवादिनी ब्रह्माण्ड पुराण १.३३.१९ में स्मरण की गई है। आश्वलायन गृह्य के ऋषि तपण ३.३.५ में एक वडवा प्रातिथेयी स्मरण की गयी है।

२. पृ० ३०-३३।

प्रत्युवाच बह्वृचवदेवैन्द्र इति त्वेव पैङ्ग्यस्य स्थितिरासैन्द्राग्न इति कौषीतकिः।

अर्थात्—मधुक ने गौश्र से पूछा कि सोम का देवता कौन है। उत्तर मिला बहुत देवता हैं। बह्वृच के समान पैङ्ग्य का मत था कि सोम का देवता इन्द्र है। कौषीतकि का मत है कि इन्द्राग्नि सोम के देवता हैं।

पैङ्ग्य और कौषीतकि दोनों ऋग्वेदीय हैं। बह्वृच का अर्थ सामान्यतया ऋग्वेदी होता तो पैङ्ग्य और कौषीतकि को इन से पृथक् न गिना जाता।

२. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ११.५.१.१० में कहा है—**तदेतदुक्तप्रत्युक्तं पंचदशर्चं बह्वृचाः प्राहुः।**

अर्थात्—पुरुरवा और उर्वशी के (आलंकारिक) संवाद का यह सूक्त पन्द्रह ऋचा का है, ऐसा बह्वृच कहते हैं। शतपथ का संकेत बह्वृच शाखा की ओर है, क्योंकि ऋग्वेद के इसी १०.९५ सूक्त में अठारह ऋचा हैं।

३. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में उसके सम्पादक रिचर्ड गार्वे की उद्धरण सूची के अनुसार नौ स्थानों पर बह्वृच ब्राह्मण और तीन स्थानों पर बह्वृच उद्धृत हैं। इस प्रकार आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में कुल बारह बार बह्वृचों का उल्लेख मिलता है। पहले नौ प्रमाणों में से एक प्रमाण भी ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों में नहीं मिलता। शेष तीन प्रमाणों में से दो तो सामान्य ही हैं, और तीसरे ६.२७.२ में बह्वृचों के दो मंत्र उद्धृत किए गए हैं। वे दोनों मंत्र अन्य उपलब्ध ऋग्वेदीय ग्रन्थों में नहीं मिलते। अतः इन सब प्रमाणों से यही निश्चित होता है कि बह्वृच कोई शाखा विशेष थी।

कीथ का मत—इस विषय में अध्यापक कीथ का भी यही मत है—

It is perfectly certain that he meant some definite work which he may have had before him, and in all probably all his quotations come from it.[1]

अध्यापक कीथ अन्त में भी लिखता है—

And this fact does suggest a mere conjecture that the Brāhmaṇa used was the text of the Paiṁgya school.[2]

अर्थात्—एक सम्भावना मात्र है कि वह ब्राह्मण पैंग्य ब्राह्मण होगा।

कीथ की यह संभावना सत्य सिद्ध नहीं हो सकती। अभी जो प्रमाण कौषीतकि ब्राह्मण १६.९ का पूर्व दिया गया है, वहां बह्वृच ऋषि पैङ्ग्य से पृथक् माना गया है।

४. इसी प्रकार कठ गृह्य ५९.५ के अपने भाष्य में देवपाल एक बह्वृच ब्राह्मण का पाठ उद्धृत करता है—**ततोऽपि एक रूपं द्विरूपं वा एकरूपेति तस्माद्रोहितरूपं पशवो भूयिष्ठा इति श्रुतत्वात् रोहितवर्णं बह्वृचे चोक्तम्।**

५. शांखायन श्रौत भाष्य १.१.१५. में लिखा है—**बाह्वृच्यम्।** पुनः १.१७.१८ पर लिखा है—**बह्वृचशाखाविषयौ।**

१. जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १९१५, पृ० ४९६। २. तथैव, पृ० ४९८।

६. मीमांसा के शावर भाष्य २.४.१; ६.२.२३,३१; ६.३.१; ६.५.३८ आदि पर दो बह्वृच ब्राह्मणपाठ उद्धृत हैं। ये दोनों पाठ ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मण में नहीं मिलते।

७. भर्तृहरि अपनी महाभाष्य टीका के आरम्भ में **बह्वृचसूत्रभाष्ये** कह कर एक पाठ उद्धृत करता है। इससे आगे वे **आश्वलायनसूत्रे** लिखकर एक और पाठ देता है। इससे ज्ञात होता है कि बह्वृच आश्वलायनों से भिन्न थे।

८. कठ गृह्य २५.८ के भाष्य में आदित्यदर्शन **बह्वृचगृह्य** का एक सूत्र उद्धृत करता है। इस गृह्य के सम्पादक डा० कालेण्ड के अनुसार यह सूत्र आश्वलायन और शांखायन गृह्यों में नहीं मिलता। अतः बह्वृच गृह्य इनसे पृथक् गृह्य होगा।

९. मनुस्मृति २.२९ पर मेघातिथि का भी एक प्रयोग विचार योग्य है—**कठानां गृह्यं बह्वृचामाश्वलायनानां च गृह्यमिति।**

१०. कुमारिल भट्ट अपने तन्त्रवार्तिक। १.३.११ में लिखता है—

गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्यलक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते। तद्यथा—वासिष्ठं बह्वृचैरेव, शंखलिखितोक्तं च वाजसनेयिभिः।

अर्थात्—प्रातिशाख्य ग्रन्थों के समान धर्म और गृह्य शास्त्रों की भी प्रतिचरण पाठ व्यवस्था है। जैसे—बह्वृच चरण वाले वासिष्ठ सूत्र पढ़ते हैं, इत्यादि। कुमारिल के इस लेख से भी बह्वृच एक चरण प्रतीत होता है।

११. व्याकरण महाभाष्य ५.४.१५४ में एक पाठ है—**अनृचो माणवे।**[1] **बह्वृचश्चरणाख्याम्।**

अर्थात्—बिना ऋक् पढ़े बालक को अनृच कहते हैं और बह्वृच चरण के अभिप्राय से कहते हैं। यहां भी बह्वृच एक चरण विशेष माना गया है।

बह्वृच शाखा पर अधिक विचार करने वालों को श्रीमद्भागवत् १.४ का निम्नलिखित श्लोक ध्यान देखना चाहिए—

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम्। वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत्॥१॥

अर्थात्—नैमिषारण्यवासी शौनक ऋषि बह्वृच था।

इसका एक अभिप्राय यह हो सकता है कि शौनक ऋग्वेदी था, और दूसरा यह हो सकता है कि वह ऋग्वेद की बह्वृच शाखा का अध्येता या प्रवक्ता था। यदि दूसरा अभिप्राय ठीक माना जाए, तो संभव हो सकता है कि शौनक ने अपनी ही बह्वृच वा माण्डूकेय शाखा पर बृहद्देवता ग्रन्थ रचा।

शांबव्य आचार्य भी बह्वृच था। हम पहले शांखायन चरण के वर्णन में इसी शांबव्य का उल्लेख कर चुके हैं। उतने लेख से यही स्पष्ट है कि यह शांबव्य ऋग्वेदी था और ऋग्वेद के बह्वृच चरण का प्रवक्ता नहीं था।

ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग, अध्याय ३२ में लिखा है—

सप्रधानाः प्रवक्ष्यन्ते समासाच्च श्रुतर्षयः। बह्वृचो भार्गवः पैलः सांकृत्यो जाजलिस्तथा॥२॥

इस श्लोक के ऋषि नाम पर्याप्त भ्रष्ट हो गए हैं, परन्तु हमारा प्रयोजन इस समय केवल पहले नाम से है। वह नाम कई दूसरे कोशों में भी ऐसा ही पढ़ा गया है। इस से प्रतीत होता है कि

---

१. तुलना कर—कात्यायन कृत कर्मप्रदीप, ३.८.११॥

बह्वृच भी कोई ऋग्वेदी ऋषि ही था।

चरणव्यूह कथित ऋग्वेद के पांच विभागों का वर्णन यहां समाप्त किया जाता है। आगे पुराण कथित शेष विभागों का वर्णन किया जाएगा।

पुराण-कथित शाकपूणि का विभाग

ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग, अध्याय ३४ में कहा है—

प्रोवाच संहितास्तिस्रः शाकपूणी रथीतरः। निरुक्तं च पुनश्चक्रे चतुर्थं द्विजसत्तमः ॥३॥
तस्य शिष्यास्तु चत्वारः पैलश्चेक्षलकस्तथा। धीमान् शितवलाकश्च गजश्चैव द्विजोत्तमाः ॥४॥

अर्थात्—शिष्य प्रशिष्य परम्परा से माण्डूकेय से प्राप्त हुई शाखा की शाकपूणि ने तीन शाखाएं बना दीं। तत्पश्चात उसने एक निरुक्त बनाया। उसके चार शिष्य थे। ब्रह्माण्ड के इस मुद्रित संस्करण में उनके नाम पैल और इक्षलक आदि कहे गए हैं।

ये दोनों नाम यहां बहुत ही भ्रष्ट हो गए हैं। वायु, विष्णु और भागवत पुराणों में भी ये नाम अत्यन्त भ्रष्ट हैं। प्रतीत होता है कि प्राचीन लिपियों के बदलते जाने के कारण इन नामों का पाठ दूषित हो गया है। संस्कृत भाषा के साधारण शब्दों को पूर्ण न पढ़ सकने पर भी पुराने लेखक अपने ज्ञान के अनुसार शुद्ध कर लेते थे, परन्तु नाम विशेषों को पुरानी लिपियों के ग्रन्थों में जब वे न पढ़ सकें, तो इन नामों के प्रतिलिपि करने में उन्होंने भारी अशुद्धियां कीं। ये अशुद्धियां हैं भयानक, परन्तु यत्नशोध्य हैं।

इन दोनों नामों के निम्नलिखित पाठान्तर हमें मिल सके हैं—

पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर, सं० २८१६	—	पैजश्चेक्षलकस्तथा।
दयानन्द कालेज लाहौर, का कोष सं० २८११	—	शपैव्वलकस्तथा।
मुद्रित वायुपुराण, आनन्दाश्रम संस्करण	—	केतवोदालकस्तथा।
मुद्रित पुराण का घ कोशस्थ पाठ	—	कैजवो वामनस्तथा।
,, ,, का ङ ,,	—	कैजवोद्दालकस्तथा।
,, ,, का ख ,,	—	कैजवो वामनस्तथा।
,, विष्णु पुराण मुम्बई संस्करण	—	क्रौचों वैतालकिः।
,, कलकत्ता ,,	—	कोञ्चा वैतालकः।
वि० पु० द० कालेज कोश सं० १८५०	—	क्रौजः पैलालकः।
,, ,, २७८४	—	क्रौचः पैलानकः।
,, ,, १२६०	—	क्रौंचो वैलालकिः।
,, ,, ४६०४	—	क्रौंच पैलाककिः।
मुद्रित भागवत, मद्रास संस्करण	—	पैजवैताल०।
भागवत का वीर राघव टीकाकार	—	पैंजवैताल०।
भागवत का विजय ,,	—	पैंगिपैलाल।

इन समस्त पाठान्तरों को देखकर ब्रह्माण्ड पुराण के पाठ के तीन निम्नलिखित विकल्प हमें प्रतीत होते हैं—

पैङ्गश्चौद्दालकिस्तथा ।
पैङ्ग्य औद्दालकिस्तथा ।
पैङ्ग्यः शैलालकस्तथा ।

१. पैंग्य शाखा[1]—पैंग्य शाखा ऋग्वेद की ही शाखा है । यह

(१) प्रपंचहृदय के पूर्वोद्धृत प्रमाण से सुनिश्चित हो जाता है ।

(२) पातञ्जलनिदान सूत्र ४.७ का पाठ है—

यथा चैतत् पैङ्गिनोऽधीयते । छन्दोगाश्चाप्येनमेकेऽधीयते ।

इससे स्पष्ट है कि पैंग्य छन्दोग अथवा सामवेदी नहीं था । इस शाखा के ब्राह्मण और कल्प के अस्तित्व के विषय में इस इतिहास के तीसरे और चौथे भाग में क्रमशः लिखा है । इस शाखा की संहिता कैसी थी, इस का अभी तक हमें ज्ञान नहीं हो सका ।

आयुर्वेद की चरक संहिता के आरम्भ में जिन ऋषियों का वर्णन किया गया है, उनमें पैङ्गि भी एक था ।[2] इसी पैङ्गि का पुत्र पैङ्ग होना चाहिए ।

सभापर्व ४.२३ के अनुसार एक पैंग्य युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश उत्सव में विराजमान था ।

पैंग्य का नाम मधुक था । बृहद्देवता १.२४ में वह मधुक नाम से स्मरण किया गया है । शतपथ, ऐतरेय और कौषीतकि आदि ब्राह्मणों में उस का कई बार उल्लेख किया है । शांखायन श्रौत सूत्र में वह बहुधा उल्लिखित है । इसके चतुर्थाध्याय के दूसरे खण्ड में उसका मत अग्न्यन्वाधान के संबंध में लिखा है । इस पर भाष्यकार पहले सूत्र की व्याख्या में शाखान्तर कह कर पैङ्ग्य का ही मत दर्शाता है। कौषीतकि का मत इससे कुछ भिन्न कहा गया है । बह्वृच प्रकरण में जो कौषीतकि ब्राह्मण का प्रमाण दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि सोम देवता संबंधी पैङ्ग्य का मत बह्वृच के समान था ।

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १४.९.३.१६ के अनुसार मधुक पैङ्ग्य ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य से आत्मविद्या प्राप्त की थी ।

पैंग्य गृह्य वा धर्म सूत्र के प्रमाण स्मृतिचन्द्रिका, आशौच काण्ड, पृ० १४, गौतम धर्मसूत्र, मस्करी भाष्य, १४.६.१७ तथा आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, हृददत्तकृत अनाकुला टीका ८.२१.९ पर मिलते हैं । पैङ्ग्य शाखा के ग्रन्थ और विशेष कर पैङ्ग्य गृह्य और धर्म सूत्र तो दक्षिण में अब भी मिल सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ।

२. औद्दालकि शाखा—उद्दालक गौतम कुल का था । उसके पिता का नाम अरुण था, अतः वह आरुणि भी कहाता था । उसका पुत्र श्वेतकेतु था । एक उद्दालक आरुणि पांचाल्य अर्थात् पंचाल देश निवासी पारिक्षित जनमेजय के काल में होने वाले धौम्य आयोद का शिष्य था । आदि पर्व ३.१९ से उसकी कथा आरम्भ होती है । गौतमकुल के कारण से प्रपंच हृदय में यह शाखा के नाम से स्मरण की गई है ।[3] अन्यत्र व्याकरण महाभाष्य आदि में इसे आरुणेय शाखा कहा गया है । आरुणेय ब्राह्मण का वर्णन इसी इतिहास के तीसरे भाग में है ।[4] गौतम नाम का एक आचार्य आश्वलायन श्रौत में बहुधा

---

१. काण्व संहिता-भाष्यकार अनन्तभट्ट अपने विधान-पारिजात स्तवक ३, पृ० १२० पर कौषीतकि ब्राह्मण की पंक्ति के अर्थ में लिखता है—**इति सामशाखाप्रवर्तकस्य पैंग्यर्षेमंतम्** । क्या यह उसकी भूल है ।

२. सूत्रस्थान १.१२ ॥ ३. देखें पृ० ७९ ४. पृ० ५६

स्मरण किया गया है। वह ऋग्वेदीय आचार्य ही होगा।

सामवेद की भी एक गौतम शाखा है। उसका वर्णन आगे होगा। उस शाखा से इसको पृथक् ही जानना चाहिये।

३. **शैलालक शाखा**—ब्रह्माण्ड पुराण के पाठ में औद्दालकि के स्थान में यदि शैलालक पाठ माना जाए, तो भी युक्त हो सकता है। परन्तु इन दोनों पाठों में से कौन सा पाठ मूल था, वह निर्णय करना अभी कठिन है। इस शाखा के ब्राह्मण का उल्लेख इस इतिहास के ब्राह्मण भाग में है। अष्टाध्यायी ४.३.११० में भी इसी शाखा का संकेत है। श्रीभाष्य पर श्रुत प्रकाशिका टीका पृ० ६८१ पर सुदर्शनाचार्य इस ब्राह्मण का एक लम्बा पाठ उद्धृत करता है। तथा पृ० ९०६,९१०,१३६८ पर भी वह इस ब्राह्मण को स्मरण करता है।

४. **शतबलाक्ष शाखा**—ब्रह्माण्ड, वायु, विष्णु और भागवत तथा उनके हस्तलेखों में इस नाम के कई पाठान्तर हमें मिले हैं। वह हैं स्वेत-वलाक, श्वेतबलाक, बलाक, वालाक और व्यलीक। इन सब नामों में से शतबलाक्ष नाम ही अधिक युक्त प्रतीत होता है। एक शतबलाक्ष मौद्गल्य, निरुक्त ११.६ में स्मरण किया गया है। यह मुद्गल का पुत्र था। शाकलकों की मुद्गल शाखा का वर्णन पृ० १६१-१६३ पर हो चुका है। सम्भव है उसी मुद्गल का पुत्र ऋग्वेद की इस शाखा का प्रचारक हो। निरुक्त ११.६ के पाठ से प्रतीत होता है कि शतबलाक्ष एक नैरुक्त भी था। यदि यही शतबलाक्ष नैरुक्त शाकपूणि का शिष्य था, तो उसके निरुक्तकार होने की बड़ी सम्भावना हो जाती है।

शाकपूणि का चौथा शिष्य—शाकपूणि के ये तीन शिष्य तो शाखाकार कहे गये हैं। उसका चौथा शिष्य कोई निरुक्तकार है। उसके नाम के निम्नलिखित पाठान्तर हैं—

गजः। नैगमः। निरुक्तकृत्। निरुक्तः। विरजः।

इन नामों में से कौनसा नाम वास्तविक है, इसके निर्णय का प्रयास हमने नहीं किया। पाठकों के ज्ञानार्थ हम इतना बता देना चाहते हैं कि हास्तिक नाम का एक कल्पसूत्र था। मीमांसा के शाबर भाष्य १.३.११ में लिखा है—इह **कल्पसूत्राण्युदाहरणम्—माशकम्, हास्तिकम्, कौण्डिन्यकम् इत्येवं लक्षणकानि......**

यदि पूर्वोक्त पाठान्तरों में गज नाम ठीक मान लिया जाए, तो क्या उसका हास्तिक कल्प से कोई संबंध था?

पुराणान्तर्गत शाखाकार

बाष्कलि भरद्वाज—पहले पृ० १६७ पर दैत्य बाष्कल और ऋषि बाष्कल का उल्लेख हो चुका है। स्कन्द पुराण, नागरखण्ड ४१.६ के अनुसार एक दानवेन्द्र बाष्कलि भी था—**पुरासीद् बाष्कलिर्नाम दानवेन्द्रो महाबलः।** यह बाष्कलि शाखाकार ऋषि नहीं था। वेदान्तसूत्रभाष्य ३.२.१७ में शंकर लिखता है—**बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः।**

अर्थात्—बाष्कलि ने बाध्व से पूछा। यह बाष्कलि शाखाकार हो सकता है। ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग, अध्याय ३५ में लिखा है—

बाष्कलिस्तु भरद्वाजस्तिस्रः प्रोवाच संहिताः।
त्रयस्तस्याभवञ्छिष्या महात्मानो गुणान्विताः॥५॥

धीमांश्च त्वापनीपश्च पन्नगारिश्च बुद्धिमान् ।
तृतीयश्चार्जवस्ते च तपसा संशितव्रताः ।।६।।
वीतरागाः महातेजाः संहिताज्ञानपारगः ।
इत्येते बह्वृचः प्रोक्ताः संहिता यैः प्रवर्तिताः ।।७।।

अर्थात्—बाष्कल के पुत्र भरद्वाज के तीन शिष्य थे । यह बार्हस्पत्य भरद्वाज से भिन्न था ।

१. उन तीन शिष्यों में से प्रथम शिष्य **आपनीप** कहा गया है । इस आपनीप नाम के भी कई पाठान्तर हैं । यथा—**आपनाप । नन्दायनीय । कालायनि । बालायनि ।** इन नामों में से अन्तिम दो नाम मूल के कुछ निकट प्रतीत होते हैं, परन्तु निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता ।

आगे कालबवी नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख होगा । हो सकता है कालायनि नाम उसी का भ्रष्ट पाठ हो ।

२. इस समूह की दूसरी शाखा के आचार्य का नाम **पन्नगारि** लिखा है । भिन्न भिन्न मुद्रित पुराणों और उनके हस्तलेखों में उसके पाठान्तर हैं—**पान्नगारि । पन्नगानि । गार्ग्य । भज्य: ।**

इनमें से प्रथम नाम के युक्त होने की बहुत सम्भावना है । काशिका वृत्ति २.४.६० में पान्नागारि नामक पिता पुत्र का उल्लेख है । अन्तिम पाठान्तर भागवत में मिलता है । भज्य: नाम हमें अन्यत्र नहीं मिला । हां, एक **भुज्यु लाह्यायनि** बृहदारण्यक ३.३.१ में वर्णित है । यदि भागवत का अभिप्राय इसी से है तो बालायनि के स्थान में भागवत पाठ लाह्यायनि चहिए । परन्तु इस सम्भावना में भी एक आपत्ति है । बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार **भुज्यु लाह्यायनि** कदाचित् एक चरक था । ऐसी अवस्था में वह ऋग्वेदीय नहीं हो सकता । इस प्रकार भागवत में तीसरे ऋषि का कुछ नाम ढूंढना पड़ेगा ।

अष्टाध्यायी २.४.६० के अनुसार पान्नागारि प्राच्य देश का रहने वाला था ।

३. ब्रह्माण्ड पुराण में तीसरे ऋषि का नाम **आजर्व** है । इस नाम के अन्य पाठान्तर हैं—**आर्यव । कथाजव । तथाजव । कासार ।**

इनमें से कौन सा नाम उचित है, यह हम नहीं जान सके ।

इस प्रकार पुराणों में ऋग्वेदीय शाखाओं के कुल १५ संहिताकार कहे गये हैं । पांच शाकल चार बाष्कल, तीन शाकपूणि के शिष्य और तीन बाष्कलि भरद्वाज के शिष्य । भर्तृहरि अपने वाक्यपदीय १.६ की व्याख्या में कहता है—**एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् । पंचदशधा इत्येके ।** अर्थात्—कई लोग ऋग्वेद की पन्द्रह शाखाएं मानते हैं ।

क्या भर्तृहरि का संकेत उन्हीं आचार्यों की ओर है कि जो पुराणों के पन्द्रह संहिताओं को ही ऋग्वेद के भेदों के अन्तर्गत मानते थे ।

अनिश्चित ऋग्वेदीय शाखाए

१. **ऐतरेय शाखा**—ऐतरेय ब्राह्मण का अस्तित्व किसी ऐतरेय शाखा की विद्यमानता का द्योतक है । प्रपञ्चहृदय में भी ऐतरेय एक शाखा मानी गई है । आश्वलायन श्रौत १.३ इत्यादि और निदानसूत्र ५.२ में क्रमशः **ऐतरेयिणः** और **ऐतरेयिणाम्** कह कर इस शाखा वालों का स्मरण किया गया है । आश्वलायन श्रौत के अर्थ में गार्ग्यनारायण लिखता है—**ऐतरेयिणः=शाखाविशेषः** । वरदत्त सुत (ब्रह्मदत्त)

भी शांखायन श्रौत-भाष्य १.४.१५ में ऐतरेयिणाम् पद का प्रयोग करता है। मनु २.६ के भाष्य में मेधातिथि लिखता है—एकविंशतिबाह्वृच्या आश्वलायन ऐतरेयादिभेदेन। अर्थात्—ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में एक ऐतरेय शाखा भी है।

ऐतरेय गृह्य—इस शाखा के ब्राह्मण और आरण्यक तो उपलब्ध हैं ही, परन्तु इन के गृह्य के अस्तित्व की सम्भावना होती है। आश्वलायन गृह्य १.६.२० की टीका में हरदत्त लिखता है—**ऐतरेयिणां च वचनम्—भवादि सर्वत्र समानम्।** इति। अर्थात्—ऐतरेयों का वचन है कि—सप्तपदी मन्त्रों में भव पद सर्वत्र जोड़ना चाहिये। यह सम्भवतः ऐतरेय गृह्य का ही वचन हो सकता है।

ऐतरेय शाखा वाले और नवश्राद्ध—स्मृतिचन्द्रिका का कर्ता देवणभट्ट, आशौच काण्ड, पृ० १७६ पर काश्यप का एक वचन लिखता है—

नवश्राद्धानि पंचाहुराश्वलायनशाखिनः। आपस्तम्बाष्षडित्याहुष्षड् वा पंचान्यशाखिनः॥

धर्मशास्त्र संग्रहकार शिवस्वामी के नाम से पृ० १७५ पर वह इसी श्लोक का एक अन्य पाठ देता है। वह पाठ नीचे लिखा जाता है—

नवश्राद्धानि पंचाहुराश्वलायनशाखिनः। आपस्तम्बाष्षडित्याहुर्विभाषामैतरेयिणः॥

अर्थात्—आश्वलायन शाखा वाले पांच कहते हैं। आपस्तम्ब छः कहते हैं और ऐतरेय शाखा वाले पांच वा छः का विकल्प मानते हैं।

आश्वलायनों से न मिलता हुआ ऐतरेयों का यह मत, उन के किस ग्रन्थ में था, यह विचारना चाहिए। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी ऐतरेयों का कोई ग्रन्थ था वा नहीं, यह नहीं कह सकते।

२. महैतरेय शाखा—कौषीतकि गृह्य सूत्र २.५.५ के अनुसार महैतरेय भी एक शाखा हो सकती है। जिस प्रकार महापैंग्य, हारिद्रवीय महापाठ, पालकाप्य महापाठ और सूर्य सिद्धान्त आदि के महापाठ थे उसी प्रकार महैतरेय भी हो सकता है।

३. वासिष्ठ शाखा—ऋग्वेदीय वासिष्ठ धर्मसूत्र फूहरर के उत्तम संस्करण में मिलता है। फूहरर यह निश्चय नहीं कर सका कि इस सूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद की किस शाखा से है।[1]

कुमारिल अपने तन्त्रवार्तिक १.३.११ में लिखता है—

गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्यलक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते। तद्यथा—गौतमीय-गोभिलीये छन्दोगैरेव च परिगृह्यते। वासिष्ठं बह्वृचैरेव। शंखलिखितोक्तं च वाजसनेयिभिः। आपस्तम्ब बोधायनीये तैत्तिरीयैरेव प्रतिपन्ने इत्येवं......।

अर्थात्—जिस प्रकार प्रत्येक चरण का एक प्रातिशाख्य ग्रन्थ होता है, इसी प्रकार गृह्य ग्रन्थों की भी प्रतिचरण पाठ व्यवस्था है। यथा—वासिष्ठ शास्त्र बह्वृच लोग पढ़ते हैं।

यहां कुमारिल का अभिप्राय यदि बह्वृच शाखा-विशेष से है, तो इतना निश्चित हो जाता है कि वसिष्ठ शाखा का संबंध बह्वृच चरण से था। वासिष्ठों के श्रौत और गृह्य-सूत्र खोजने चाहिएं।

वासिष्ठ-श्रौत—आश्वलायन श्रौत की टीका में षड्गुरुशिष्य के लेख से ज्ञात होता है कि वासिष्ठ श्रौतसूत्र कभी सुलभ था।

---

१. द्वितीय संस्करण का उपोद्घात, सन् १६१६

एक समूह के चरणव्यूह ग्रन्थों में निम्नलिखित पाठ है—एकं शतसहस्त्रं वा द्विपंचाशत्सहस्रार्धमेतानि चतुर्दश वासिष्ठानाम्। इतरेषां पंचाशीतिः।[1]

इसी पाठ की टीका में महिदास लिखता है—

एकलक्षद्विपंचाशत्सहस्त्रपंचशतचतुर्दशवासिष्ठानाम्। वासिष्ठगोत्रीयाणाम्इन्द्रोतिभिः एकसप्ततिपदात्मको वर्गो नास्ति।[2]

अर्थात्—वासिष्ठों की शाखा में १५२५१४ पद हैं। उन की संहिता में अष्टक ३, अध्याय ३ का २३ वां वर्ग नहीं है। उस वर्ग की पदसंख्या ७१ है। इस लेख से प्रतीत होता है कि वासिष्ठों की कोई पृथक् संहिता भी थी।

४. सुलभ शाखा—इस शाखा के ब्राह्मण का उल्लेख इस ग्रन्थ के ब्राह्मण भाग में है। वह ब्राह्मण ऋग्वेद संबंधी था। इसका अनुमान इस आश्वलायन गृह्य तथा कौषीतकि के ऋषि तर्पण प्रकरण से होता है। वहां सुलभा मैत्रेयी का नाम लिखा है। क्या इसी देवी सुलभा का इस ब्राह्मण से कोई संबन्ध था।

५. शौनक शाखा—शौनक ऋषि नैमिषारण्य वासी था। इसी के आश्रम में बड़े बड़े भारी यज्ञ होते थे। इसे ही बह्वृचसिंह कहते थे। इसी का एक शिष्य आश्वलायन था। महाभारत की कथा जनमेजय के सर्पसत्र के पश्चात् उग्रश्रवा ने इसी को सुनाई थी।

प्रपञ्चहृदय में ऋग्वेद की एक शौनक शाखा भी लिखी गई है। वैखानस सम्प्रदाय की आनन्द संहिता के दूसरे और चौथे अध्याय में आश्वलायन से भिन्न ऋग्वेद का एक शौनकीय सूत्र भी गिना है।[3] इसकी शाखा के विषय में अभी इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता।

उपसंहार

अब ऋग्वेद की पूर्ववर्णित कुल शाखाएं नीचे लिखी जाती है—

पांच शाकल शाखा—
१. मुद्गल शाखा
२. गालव शाखा
३. शालीय शाखा
४. वात्स्य शाखा
५. शैशिरि शाखा

चार बाष्कल शाखा—
६. बौध्य शाखा
७. अग्निमाठर शाखा
८. पराशर शाखा
९. जातूकर्ण्य शाखा
१०. आश्वलायन शाखा

चार शांखायन शाखा—
११. शांखायन शाखा
१२. कौषीतकि शाखा
१३. महाकौषीतकि शाखा
१४. शाम्बव्य शाखा
१५. माण्डूकेय
१६. बह्वृच शाखा
१७. पैंग्य शाखा
१८. उद्दालक=गोतम=आरुणशाखा
१९. शतबलाक्ष शाखा
२०. गज=हास्तिक शाखा
२१. बाष्कलि भरद्वाज की शाखाएं
२४. ऐतरेय शाखा, महैतरेय
२५. वासिष्ठ शाखा
२६. सुलभ शाखा
२७. शौनक शाखा

---

१. चरणव्यूहपरिशिष्टम्, पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर, के ओरियण्टल कालेज मैगजीन, नवम्बर १९३२ में मुद्रित, पृ० ३९।

२. देखें 'लोधं नयन्ति', निरुक्त, दुर्ग टीका ४.१४॥

३. Of the Sacred Books of the Vaikhanasas, by W. Caland, Amsterdam, 1928, p.10

व्याकरण महाभाष्य में ऋग्वेद की कुल इक्कीस शाखाएं कही गई हैं। परन्तु हमारी पूर्व लिखित गणना के अनुसार शाखा संख्या २७ है। अतः इनमें से छः शाखाएं किन्हीं दूसरे नामों के अन्तर्गत आनी चाहिएं। पहले नौ नाम सुनिश्चित हैं। ११-१३ नाम भी निर्णीत ही हैं। अतः शेष नामों में इन छः का अन्तर्भाव करना चाहिए। उसके लिए अभी पर्याप्त सामग्री का अभाव है। अणु भाष्य में उद्धृत स्कन्द पुराण का एक प्रमाण पृ० १५८ पर उद्धृत किया गया है। तदनुसार ऋग्वेद की चौबीस शाखाएं ही थीं। आनन्द संहिता के दूसरे अध्याय के अनुसार भी ऋग्वेद की चौबीस शाखाएं ही थीं। यदि यह गणना किसी प्रकार ठीक हो, तो हमारी शाखा संख्या में तीन नाम ही अधिक माने जाएंगे। और यदि जिस प्रकार हमारी संख्या में अधिकता दिखाई देती है, वैसे ही स्कन्दपुराण और आनन्द संहिता वाला भी गणना ठीक न कर सका हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

ऋग्वेदीय शाखाओं का अष्टक आदि विभाग

ऋग्वेद की सम्प्रति प्राप्त संहिता में तीन प्रकार के अवान्तर विच्छेद उपलब्ध हैं—

१. अष्टक, अध्याय, वर्ग और मन्त्र।

२. मण्डल, सूक्त और मन्त्र।

३. मण्डल, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र।

ऋग्वेद की वर्तमान संहिता में नैमित्तिक द्विपदा पक्ष में वालखिल्य सहित आठ अष्टक, प्रति अष्टक आठ अध्याय अर्थात् ६४ अध्याय, २०२४ वर्ग और १०५५२ मन्त्र हैं। इसी प्रकार १० मण्डल, १०२८ सूक्त और १०५५२ मन्त्र हैं। शौनक की अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार १० मण्डल, ८५ अनुवाक १०१७ सूक्त हैं, यह अनुवाक और सूक्त संख्या बालखिल्य सूक्तों से रहित है।

४. इन तीन विभागों के अतिरिक्त ऋक्प्रातिशाख्य में प्रश्नरुपी विच्छेद का निर्देश भी है। उसके अनुसार यह विच्छेद अध्याय, सूक्त, प्रश्न और मन्त्रात्मक है। इस विच्छेद के निर्देशक श्लोक इस प्रकार हैं—

> प्रश्नस्तृचः पंक्तिषु तु द्वृचो वा द्वेह्वे च पङ्क्तेरधिकाक्षरेषु।
> एका त्र सूक्तं समप्रास्त्वगण्याः परावरार्ध्या द्विपदे यथैका॥
> सूक्तस्य शेषोऽल्पतरो यदि स्यात् पूर्वं स गच्छेद् यदि तु द्वृचो वा।
> ते षष्टिरध्याय उपाधिका वा सूक्तेऽसमाप्ते यदि ते समाप्ताः॥ पटल १५॥

अर्थात्—(गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् और बृहती छन्द वाले सूक्तों में) प्रश्न तीन ऋचाओं का होता है। पंक्ति छन्द वाले सूक्त में तीन ऋचाओं का अथवा दो ऋचाओं का होता है। पंक्ति से अधिक अक्षर वाले छन्दों के सूक्तों में दो दो ऋचाओं का प्रश्न होता है। जो सूक्त एकर्च हो उसमें एक ही ऋचा का प्रश्न होता है। (जहां पर पूर्व पठित ऋक् का अर्धर्च अथवा एक चरण पुनः पठित होता है उसे वैदिक लोग न पुनः लिखते हैं और न पढ़ते हैं। उसे समय कहा जाता है। ये) समय प्रश्न कल्पना में अगण्य होते हैं। ऐसे स्थानों पर पूर्वार्ध और अगली ऋचा के अर्थ को मिला कर एक ऋचा मानी जाती है, जैसे द्विपदाओं में दो दो ऋचाओं को एक ऋचा मानते हैं। इस प्रकार प्रश्न कल्पना के अनन्तर सूक्त का शेष अल्पतर (तृचात्मक प्रश्न में एक अथवा दो ऋचा, और द्वृच प्रश्न में एक ऋचा) शेष रहे तो वह पूर्व प्रश्न का अंग बन जाती है। ये प्रश्न अध्याय में ६० होते हैं, अथवा उप=न्यून (५९) वा अधिक (६१) होते हैं। यदि ६१ के अनन्तर भी सूक्त समाप्त न हो तो ६१ से अधिक भी होते हैं।

प्रश्नात्मक विच्छेद-प्रदर्शक उपर्युक्त श्लोकों को केशव ने अपने ऋग्वेद कल्पद्रुम के उपोद्घात के अन्त में उद्धृत करके इनकी व्याख्या भी की है। वह व्याख्या उवट की ऋक्प्रातिशाख्य की व्याख्या से अधिक स्पष्ट है।

ऋग्वेद का भाष्यकार वेङ्कट माधव अष्टक, अध्याय आदि विच्छेद के विषय में लिखता है—

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः।
उद्ग्रहार्थं तु प्रदेशानामिति मन्यामहे वयम् ॥१॥
वर्गाणामपि विच्छेद आर्ष एवेति निश्चयः।
ब्राह्मणेष्वपि दृश्यन्ते वर्गसंशब्दनादि च ॥२॥[1]

अर्थात्—अष्टक, अध्याय आदि का विच्छेद पुराने ऋषियों ने संहिता के स्थानों का निर्देश करने के लिए किया है। वर्गों का विभाग भी आर्ष है, ऐसा निश्चय है। ब्राह्मणों में भी वर्ग आदि शब्द देखे जाते हैं।

पूर्वनिर्दिष्ट प्रश्न विभाग अध्ययन के सौकर्य के लिए ही कल्पित किया गया है, यह ऋक्प्रातिशाख्य के इसी प्रकरण से स्पष्ट है।

★

---

१. अष्टक ५, अध्याय ५ के प्रारम्भ में।

चतुर्दश अध्याय

ऋग्वेद की ऋक्-संख्या

शतपथ ब्राह्मण १०.४.२.२३ में लिखा है—स ऋचो व्यौहत् । द्वादश बृहतीसहस्राण्येतावत्यो हर्चो या प्रजापतिसृष्टाः ।

अर्थात्—उस प्रजापति ने ऋचाओं को गणना के भाव से पृथक्-पृथक् किया । बारह सहस्र बृहती । इतनी ही ऋचाएं हैं, जो प्रजापति ने उत्पन्न कीं ।[1]

एक बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं, अतः १२००० × ३६ = ४३२००० अक्षर के परिमाण की सब ऋचाएं हैं ।

शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी का अन्तिम वचन है—चत्वारिंशतसहस्राणि द्वात्रिंशच्चाक्षरसहस्राणि ।

अर्थात्—ऋचाएं ४३२००० अक्षर परिमाण की हैं ।

इससे पहले अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पंचशतानि च । ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम् ॥४३॥

अर्थात्—१०५८० ऋचा और एक पाद पारायण पाठ में है ।

यह पारायण एक ही शाखा का नहीं, प्रत्युत सब शाखाओं का मिला कर होगा, क्योंकि चरण-व्यूह में लिखा है—

एतेषां शाखाः पंचविधा भवन्ति—

शाकलाः बाष्कलाः आश्वलायनाः, शांखायनाः माण्डूकेयाश्चेति ।

तेषामध्ययनम्—

अध्यायाश्चतुः षष्टिर्मण्डलानि दशैव तु ।
ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पंचशतानि च ।
ऋचामशीति पादश्चैतत् पारायणमुच्यते ॥

अर्थात्—इन सब शाखाओं में ६४ अध्याय और दश ही मण्डल हैं, तथा ऋक् संख्या १०५८० और एक पाद है ।

कुछ चरणव्यूहों में दो, तीन वा चार श्लोक और भी मिलते हैं, परन्तु वे किसी शाखा-विशेष संबंधी हैं, अतः उनका उल्लेख यहां नहीं किया गया ।

---

१. ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग, ३५.८४; वायुपुराण, ६१.७४; तथा विष्णुपुराण ३.६.३२ में वेदों को प्राजापत्य श्रुति ही कहा गया है ।

ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में कुल ऋक्-संख्या १०५८० और एक पाद है, इसका संकेत लौगाक्षि-स्मृति में भी मिलता है—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पंचशतानि च । ऋचामशीतिपादश्च पारायणविधौ खलु ॥
पूर्वोक्तसंख्यायाश्चेत्तु सर्वशाखोक्तसूत्रगाः । मन्त्राश्चैव मिलित्वैव कथनं चेति तत्पुनः ॥पृ०४७८॥

प्रपंचहृदयकार का मत—प्रपंचहृदय (पृष्ठ २०) के अनुसार ऋचाओं की दस हजार पांच सौ अस्सी और एक पाद संख्या ऐतरेय शाखा की मंत्र संख्या थी। अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद की शैशिरि शाखा में १०४१७ मंत्र हैं।[1]

ऋक्गणना में द्विपदा ऋचाएं

ऋग्वेद की ऋचा-गणना में एक और बात भी ध्यान में रखने योग्य है। ऋक्-सर्वानुक्रमणी के अनुसार द्विपदा ऋचाएं अध्ययन काल में दो-दो की एक-एक बना कर पढ़ी जाती हैं। यथा—

द्विर्द्विपदास्त्वृचः समामनन्ति । सर्वानुक्रमणी

इस पर षड्गुरुशिष्य लिखता है—**ऋचोऽध्ययने त्वध्येतारो द्वे द्वे द्विपदे एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति समामनेयुः।** इस का अभिप्राय लिखा जा चुका है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की गणना के अनुसार ऋग्वेद में कुल मन्त्र १०५८९ हैं। परन्तु प्रति मण्डल के मन्त्रों को मिला कर उनकी संख्या निम्नलिखित है—

१९७६ + ४२९ + ६१७ + ५८९ + ७२७ + ७६५ + ८४१ + १७२६ + १०९७ + १७५४ = १०५२१।

इस संस्था पर अध्यापक आर्थर मैकडानल का कहना है कि इस संख्या में आठवें मण्डल के अन्तर्गत ५०वें सूक्त में २६ के स्थान में ३६ ऋचा लिखी गई हैं। अर्थात् लेखक प्रमाद से १० की गणना अधिक हो गई है।[2] इसी प्रकार नवम मण्डल में ११०८ के स्थान में लेखक प्रमाद से १०९७ गणना लिख दी गई है। अर्थात् ११ ऋचा का एक सूक्त गिना नहीं गया। इस प्रकार भेद केवल एक मन्त्र का हो जाता है, और कुल मन्त्र १०५२२ बनते हैं। इनमें आठवें मण्डल के ११ सूक्तों में आए हुए ८० बालखिल्य मन्त्र भी सम्मिलित हैं। ये ऋग्वेद का अंग हैं। हां, कई शाखाओं में ये नहीं पाए जाते। स्वामी दयानन्द सरस्वती की दोनों गणनाओं का भेद भी द्विपदा ऋचाओं की गणना के भेद से उत्पन्न होता है।

द्विपदा ऋचाओं में जैसा अभी कहा गया है कई बार दो मन्त्रों को मिला कर मन्त्र बनता है और कई बार १½ मन्त्र का एक मन्त्र बनता है। इसी का दूसरा क्रम यह है कि अनेक बार एक ऋक् की दो ऋचा बनती हैं। इस भेद का विस्तार उपलेख सूत्र और चरणव्यूह की प्रथम कण्डिका की महिदास कृत टीका में मिलता है।

अध्यापक मैकडानल की गणना—ऋक् सर्वानुक्रमणी की भूमिका में अध्यापक मैकडानल का लेख है—My total by counting the dvipadas (127) twice would be 10469, only eleven less than the figure of the Anuvākānukramaṇī.

---

१. यह संख्या वर्ग क्रम के अनुसार है। देखें अनु० श्लोक, ४०-४२

२. ऋक्सर्वानुक्रमणी की भूमिका पृ०, १७,१८

अर्थात्—१०४४२+१२७=१०५६९ संख्या द्विपदा ऋचाओं को दुगना करके प्राप्त होती हैं। वे द्विपदा ऋचाएं १२७ हैं। इनके बिना कुल संख्या १०४४२ है। अनुवाकानुक्रमणी की संख्या १०५८० और एक पाद है।

अध्यापक मैकडानल की भूल—इस गणना में अध्यापक मैकडानल की भी थोड़ी सी भूल है। ऋग्वेद ५.२४ में दो ऋचाएं हैं। दे द्विपदा हैं, परन्तु ऋग्वेद में प्रथम के आगे १.२ और दूसरी के आगे ३.४ लिखा गया है। अर्थात् ये पहले ही द्विगुण कर दी गई हैं। अध्यापक मैकडानल ने इन्हें दोबारा द्विगुण करके संख्या ८ कर दी है। उस पर उन की सम्मति जानने के लिये मैंने १६ जुलाई सन् १९१९ को उन्हें एक पत्र लिखा था। उस का उत्तर ८ अगस्त सन् १९१९ को आक्सफोर्ड से आया था। उस में मेरे दूसरे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने लिखा है --

I am unable to look into the question why the two dvipadas of V. 24 are doubled in the text of the Sarvānukramaṇī (1. 2. I, 3. 4, I.) unless it is intended to express that they are treated as sacrificial, and not as recited dvipadas (cf. commentary on introduction 12, 10. where 1.65 is quoted). In any case it seems wrong to re-double the two dvipadas of V. 24. This would make my total 10,565. The commentator of the Caraṇavyūha, according to a marginal note I made long ago in my edition of the Sarvānukramaṇī gives the total 10,552, only 13 less than my total (counting the Vālkhilyas); in another place in the same com. 10,566 is given as the total, counting the 140 naimittika-dvipadas, only one more than my corrected total. If the 1 odd pada is here counted as 1 verse, the total would be exactly the same.

The question of the treatment of the 94 verses consisting of 3 ardharcas should be taken into consideration in calculating totals : when sacrificial, 3 ardharcas count as one verse, if recited, as two verses.

अर्थात्—ऋग्वेद ५.२४ की द्विपदाएं सर्वानुक्रमणी में ही क्यों द्विगुण की गई हैं, इसका कारण प्रतीत नहीं होता। परन्तु इन का पुनः द्विगुण करना अशुद्ध है। अब मेरी पूरी संख्या १०५६५ होगी (और १०५६९ नहीं) इत्यादि।

चरण-व्यूह का टीकाकार महिदास भी पूरी ऋक् संख्या १०५८० और एक पाद मानता है। संज्ञान-सूक्त की १५ ऋचाएं भी वह इसी संख्या के अन्तर्गत मानता है। एक पाद **भद्रन्नो अपि वातय मनः** है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की १०५२१ की गणना में यदि नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं का आधा अर्थात् $\frac{१४०}{२}$=७० और इसमें से ऋग्वेद ५.२४ की २ न्यून करके (जो पहले ही द्विगुणित हैं) ६८ जोड़ी जाएं तो कुल संख्या १०५८९ हो जाती हैं। इन नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि—**हवने एकैका अध्ययने द्वे द्वे।** महिदासकृत चरणव्यूह टीका।

ये नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने एक एक ही गिनी हैं। अध्ययन में चाहिएं गिननी दुगनी। अतः हमने ६८ और जोड़ी है। इस गणना में एक का भेद जो पहले लिख चुके हैं, रह जाता है। इन्हीं द्विपदा ऋचाओं की गणना को न समझ कर अनेक लोगों ने वेदमन्त्रों की गणना में ही भेद समझ लिया है। उदाहरणार्थ स्वामी हरिप्रसाद का लेख वेदसर्वस्व पृ० ६७ पर देखिए—

"चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने ऋग्वेद मन्त्रों की संख्या दस हजार चार सौ बहत्तर १०४७२ लिखी है। परन्तु यह नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं सहित है, जिनकी संख्या १४० होती है। यदि

वह निकाल दी जाए तो शेष संख्या दस हजार तीन सौ बत्तीस १०३३२ रह जाती है।"

इस लेख से प्रतीत होता है कि स्वामी हरिप्रसाद ने महिदास का गणना प्रकार नहीं समझा। नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं १४० हैं। अतः ये ७० मन्त्र बने। १४० न्यून करना भूल है। ७० न्यून करके कुल संख्या १०४०२ हो जाती है। यह संख्या शैशिरि शाखा की है।

पुराणों की ऋक्-संख्या

ब्रह्माण्ड और वायु पुराण में एक और ऋक् संख्या है, उस का संशोधित पाठ नीचे दिया जाता है—

सहस्राणि ऋचां चाष्टौ षट्शतानि तथैव च।
एताः पंचदशान्याश्च दशान्या दशभिस्तथा॥
सवालखिल्याः सप्रषाः ससुपर्णा प्रकीर्तिताः।

इस संख्या के लिखे जाने का अभिप्राय हम नहीं समझ सके। सम्भव हो सकता है कि इस गणना में दो या तीन स्थानों पर आया हुआ एक ही मन्त्र एक बार ही गिना गया हो। इस गणना के अनुसार ऋक् संख्या ८६३५ अथवा ८७१५ है।

शतपथ की गणना और लौगाक्षि-स्मृति = शतपथ की पूर्वोक्त गणना का अभिप्राय समस्त शाखाओं की ऋक्-गणना से है। इस संबंध में लौगाक्षि-स्मृति में कहा है—

ऋचो यजूंषि सामानि पृथक्त्वेन च संख्यया।
सहस्राणि द्वादश स्युः सर्वशाखास्थितान्यपि।
मन्त्ररूपाणि विद्वद्भिः ज्ञेयान्येवं स्वभावतः।[1]

अर्थात् – समस्त शाखाओं के ऋक्, यजु: और साम पृथक्-पृथक् बारह-बारह सहस्र हैं।

माण्डूकेय आदि कई शाखाओं में याजुष शाखाओं की ऋचाएं—पुराणों के मतानुसार पहले एक ही यजुर्वेद था। उसी से ऋचाएं लेकर ऋग्वेद पृथक् किया गया। हम लिख चुके हैं कि आर्ष प्रमाणों के अनुसार वेद पहले से ही चार थे। अतः पुराणों के इस मत का तात्पर्य चिन्त्य है। दीर्घ अध्ययन से हमारी ऐसी धारणा हो रही है कि माण्डूकेय चरण की अधिक ऋचाएं सम्भवतः याजुष शाखाओं से ली गई हों। इस पर विचार-विशेष पुनः करेंगे।

क्या ऋग्वेद के मन्त्र लुप्त हो गए हैं

बृहद्देवता ३.१३० और ऋक्-सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद १.९९ पर लिखा है कि कई पुराने आचार्यों का मत है कि ऋग्वेद १.९९ से आरम्भ होकर एक सहस्त्र सूक्त थे। उनका देवता जातवेद और ऋषि कश्यप था। शाकपूणि मानता था कि प्रथम सूक्त में एक मन्त्र था, और प्रत्येक अगले सूक्त में एक-एक मंत्र बढ़ता जाता था। सर्वानुक्रमणी का वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य इस विषय में शौनक की आर्षानुक्रमणी का निम्न-लखित पाठ उद्धृत करता है—

खिलसूक्तानि चैतानि त्वाद्यैकर्चमधीमहे। शौनकेन स्वयं चोक्तमृष्यनुक्रमणे त्विदम्॥
पूर्वात्पूर्वा सहस्रस्य सूक्तानामेकभूयसाम्। जातवेदस इत्याद्यं कश्यपार्षस्य शुश्रुम॥[2] इति
सयोवृषीयान्ता वेदमध्यास्स्वखिलसूक्तगाः। ऋचस्तु पंचलक्षाः स्युः सैकोनशतपंचकम्॥

---

१. दयानन्द कालेज का हस्तलेख, देवनागरी प्रतिलिपि, पृ० ४७१
२. स्कन्द स्वामी, ऋग्भाष्य १.९९.१ में यह श्लोक उद्धृत करता है।

अर्थात् इन ९९९ सूक्तों में ५,००,४९९ मन्त्र थे। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये मन्त्र कभी ऋग्वेद का अंग थे। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य के कथन का अभिप्राय है कि नहीं, ऐसा नहीं था। वहां लिखा है—द्वादशबृहतीसहस्राणि। एतावत्यो ह्यर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः। अर्थात्—प्रजापति सृष्ट ऋचाएं बारह सहस्र वृहती छन्द परिमाण की हैं।

यदि नित्य वेद में इतनी ही ऋचाएं हैं, तो ये ५,००,४९९ मंत्र नित्य वेद का अंग नहीं थे। ये वैसे ही मंत्र होंगे, जैसे अनेक उपनिषदों में अब भी मिलते हैं। उन औपनिषद् मन्त्रों को कोई विद्वान् वेद का अंग नहीं मानता। इसी प्रकार सूत्र ग्रन्थों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जो कभी भी वेद का अंग नहीं हो सकते। इस बात की विशेष खोज के लिए इन सहस्र सूक्तों के सम्बन्ध में प्राचीन सम्प्रदाय का अधिक अन्वेषण करना चाहिए। परन्तु ब्राह्मण और उपनिषद् आदि में जहां 'ऋचा' कह कर मन्त्र उद्धृत हैं, वे अवश्य मूल ऋचाओं के अन्तर्गत थे।[1]

दाशतयी

ऋग्वेद की प्रत्येक शाखा में दस ही मण्डल थे, अतः जब सब शाखाओं का वर्णन करना होता है, दाशतयी शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार यह भी प्रतीत होता है कि प्रत्येक आर्च शाखा में ६४ अध्याय ही थे। अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूहों में लिखा है—अध्यायाश्चतुःषष्टिर्मण्डलानि दशैव तु। अर्थात् - ६४ अध्याय और १० ही मण्डल हैं।

इसी भाव से कुमारिल अपने तन्त्रवार्तिक में लिखता है—

प्रपाठकचतुःषष्टिनियतस्वरकैः पदैः। लोकेष्वप्यश्रुतप्रायैर्ऋग्वेदं कः करिष्यति।[2]

पुरुष-सूक्त

वेदों और उनकी शाखाओं में पुरुष-सूक्त की ऋक्गणना कैसी है, इस विषय में अहिर्बुध्न्य संहिता अध्याय ५९, में कहा है—

नानाभेदप्रपाठं तत्पौरुषं सूक्तमुच्यते। ऋचश्चतस्रः केचित्तु पंच षट् सप्त चापरे ॥३॥
ऋचःषोडश चाप्यन्ये तथाष्टादश चापरे। अधीयते तु पुंसूक्तं प्रतिशाखं तु भेदतः ॥४॥

इन्ही श्लोकों की व्याख्या अन्यत्र मिलती है—

एतद्धि पौरुषं सूक्तं यजुष्यष्टादशर्चकम्। बह्वृचे षोडशर्चं स्यात् छान्दोग्ये पंच सामनि ॥
चतस्रो जैमिनीयानां सप्त वाजसनेयिनाम्। आथर्वणानां षड्ऋचमेवं सूक्तविदो विदुः ॥[3]

अर्थात्—पुरुष सूक्त, (कृष्ण) यजुः में १८ ऋचा का, ऋग्वेद में १६ ऋचा का, किसी वाजसनेय शाखा में ७ ऋचा का, अथर्व में ६ ऋचा का, साम में ५ ऋचा का और साम की जैमिनीय शाखा में ४ ऋचा का है।

---

१. पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने ऋग्मन्त्रगणना पर एक गन्थ 'ऋग्वेद की ऋक्संख्या' नामक संवत २००६ में लिखा था। उनका परिश्रम देखने योग्य है।

२. चौखम्बा संस्करण, पृ० १७२

३. मद्रास राजकीय संग्रह के संस्कृत हस्तलेखों का सूची पत्र, भाग २, सन् १९०४, वैदिक भाग, पृ० २३४

लुप्त शाखाओं की कुछ ऋचाएं

ऋग्, यजुः, सामाथर्व की लुप्त शाखाओं की कुछ ऋचाएं मारीस ब्लूमफील्ड के वैदिक कानकार्डेन्स में मिलती हैं। तथापि कई ऐसी ऋचाएं हैं जो उसमें नहीं मिलतीं, परन्तु प्राचीन ग्रंथों में उद्धृत मिलती हैं। सम्भव है ये लुप्त शाखाओं के मन्त्र हों, अतः उन्हें यहां लिखा जाता है। भर्तृहरि वाक्यपदीय १.१२१ की व्याख्या में लिखता है—ऋग्वर्णः खल्वपि—

१. इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची।
नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा चाकशीति॥

तथा पुनराह—

२. वागेव विश्वा भुवनानि वागुवाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद्वाग्बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्चनाह॥

पिंगल छन्दः सूत्र ३.१८ की टीका में यादव प्रकाश लिखता है—

३. इन्द्रः शचीपतिर्बलेन व्रीडितः। दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहिः॥

यही मन्त्र ऋक् प्रातिशाख्य १६.१४ उवट भाष्य में चतुष्पदा गायत्री के उदाहरण में मिलता है। पिंगल छन्दः सूत्र ३.१२ की टीका में नागी गायत्री के उदाहरण में यादवप्रकाश लिखता है—

४. ययोरिदं विश्वमेजति ता विद्वांसा हवामहे वाम्। वीतं सोम्यं मधु॥

वहीं ३.१५ की टीका में प्रतिष्ठा गायत्री के उदाहरण में यादवप्रकाश लिखता है—

५. देवस्त्वा सविता मधु पाङ्क्तां विश्वचर्षणीः। स्फीत्येव नश्वरः॥

कृत्यकल्पतरु, गार्हस्थ्य काण्ड, पृ० १२६ तथा गृह्य रत्नाकर पृष्ठ १०२, १०३ पर हारीतधर्म सूत्र का एक लम्बा पाठ उद्धृत है। तदन्तर्गत एक ऋचा उद्धृत है। यह पाठ बहुत भ्रष्ट हो चुका है। उसका स्वमति संशोधित पाठ आगे लिखा जाता है—

६. वैश्वानरमतिथिमाददानमन्तर्विधौ परमे व्योमनि।
आत्मन्यात्मानमभि संविदानः प्रति सायमरतिर्याति विद्वान्।
सम्यग्वीरमतिथिं रोचयन्त इमांल्लोकानमृताः संचरेम्॥

महाभारत, आदिपर्व, अध्याय तीन में लिखा है—

स एवमुक्तः उपाध्यायेन स्तोतुं प्रचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिर्ऋग्भिः॥५६॥

इनसे आगे दश वचन हैं, जो ऋक् समान हैं। वेद पढ़ने वालों को इन पर विचार करना चाहिए। महाभारत के इसी अध्याय के १५०–१५३ श्लोक तक मन्त्रवादश्लोक हैं। वे तो स्पष्ट ही साधारण श्लोक हैं।

वैदिक ग्रंथों में पठित और मुद्रित शाखाओं में अनुपलब्ध ऋचाएं हम ने यहां नहीं लिखीं। स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेद के खिलों में पठित कई ऋचाएं सर्वथा कल्पित हैं। वे कभी भी किसी शाखा में नहीं होंगी।

ऋग्वेद और उसकी शाखाओं का यह अति संक्षिप्त वर्णन हो गया। अब यजुर्वेद और उसकी शाखाओं के विषय में लिखा जायेगा।

*

पञ्चदश अध्याय

यजुर्वेद की शाखाएं

शुक्ल और कृष्ण शाखाएं

नाम —यजुर्वेद को प्राचीन वैदिक अध्वर वेद भी कहते थे । यथा—

१. लक्ष्मीधरकृत कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ्यकाण्ड में देवल धर्मसूत्र का पाठ उद्धृत है । वहां ऐसा प्रयोग है ।

२. यास्क मुनि निरुक्त ७.३ में 'आध्वर्यवे' पाठ पढ़ता है ।

शुक्ल की मान्यता – यद्यपि भगवान् व्यास ने वैशम्पायन को कृष्ण यजुर्वेद ही पढ़ाया, तथापि प्राचीन सम्प्रदाय में शुक्ल यजुः की अत्यन्त प्रतिष्ठा रही है ।

१. गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग १.२९ में लिखा है—इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते । अर्थात्—यजुर्वेद के पाठ का आरम्भ शुक्ल यजुः के प्रथम मन्त्र से होता है ।

कृष्ण यजुर्वेद में वायव स्थ के आगे उपायव स्थ पाठ होता है । अतः उस पाठ का यहां अभाव है । इस से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-प्रवक्ता को यहां शुक्ल यजुः का ही प्रथम मन्त्र अभिमत था । वह इसी को यजुर्वेद मानता था ।

२. इसी प्रकार वायुपुराण अध्याय २६ में कहा गया है—

ततः पुनर्द्विमात्रं तु चिन्तयामास चाक्षरम् । प्रादुर्भूतं च रक्तं तच्छेदने गृह्य ता यजुः ॥१९॥
इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः सविता पुनः ।
ऋग्वेदं एकमात्रस्तु द्विमात्रस्तु यजुः स्मृतः ॥२०॥

अर्थात्—शुक्ल यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र ही यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र है ।

तद्विपरीत आथर्वण उत्तम पटल (परिशिष्ट ४६) में कृष्ण यजुः का प्रथम मन्त्र उद्धृत है ।

शुक्ल यजुः नाम की प्राचीनता—शुक्ल यजुः नाम बहुत प्राचीन है । माध्यन्दिन शतपथ का अन्तिम वचन है—आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते । अर्थात्—आदित्य संबंधी ये शुक्ल यजुः वाजसनेय याज्ञवल्क्य के नाम से पुकारे जाते हैं ।

कृष्ण यजुः नाम कितना पुराना है—प्रतिज्ञासूत्र की प्रथम कण्डिका के भाष्य में अनन्त और चरणव्यूह की दूसरी कण्डिका के भाष्यान्त में महिदास यजुः के साथ कृष्ण शब्द का प्रयोग करते हैं । इन से पहले होने वाला आचार्य सायण शुक्लयजुः काण्व-संहिता-भाष्य की भूमिका में दो स्थानों पर कृष्ण यजुः

शब्द का प्रयोग करता है। मुक्तिकोपनिषद् सायण से कुछ पहले की होगी। परन्तु इस संबंध में हम निश्चय से कुछ नहीं कह सकते। सम्भव है यह उस से भी नवीन हो। उस में १.२.३ पर कृष्णयजुर्वेद पद मिलता है। इनके अतिरिक्त एक और प्रमाण अनन्त ने प्रतिज्ञासूत्र भाष्य में दिया है। वह किस ग्रन्थ का है, यह हम नहीं कह सकते। वह प्रमाण नीचे दिया जाता है :–

शुक्लं कृष्णमिति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम्। शुक्लं वाजसनं ज्ञेयं कृष्णं तु तैत्तिरीयकम्॥

तत्र हेतुः—

बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात्तद्यजुःकृष्णमीर्यते। व्यवस्थितप्रकरणं तद्यजुः शुक्लमीर्यते। इत्यादि स्मृतेश्च।

मन्त्रभ्रान्तिहर नाम का एक पुस्तक है। उसे ही सूत्रमन्त्रप्रकाशिका भी कहते हैं। वह किसी किसी चरणव्यूह में भी उल्लिखित है। उस में लिखा है—

यजुर्वेदः कल्पतरुः शुक्लकृष्ण इति द्विधा।
सत्वप्रधानाच्छुक्लाख्यो यातयामविवर्जितात्॥६१॥
कृष्णस्य यजुषः शाखाः षडशीतिरुदाहृताः॥६४॥

अर्थात्—यजुर्वेद कृष्ण शुक्ल भेद से दो प्रकार का है।

यह पुस्तक है तो कुछ प्राचीन, परन्तु निश्चय से इस के काल विषय में अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। अतः निश्चित रूप से तो इतना ही कहा जा सकता है कि इस शब्द का प्रयोग सायण से पूर्व के ग्रन्थों में अभी खोजना चाहिये।

याजुष शाखाएं

पतञ्जलि मुनि अपने व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में लिखता है—एकशतमध्वर्युशाखाः। अर्थात्—यजुर्वेद की एक सौ एक शाखा हैं।

प्रपंचहृदय के द्वितीय अर्थात् वेद प्रकरण में लिखा है—

यजुर्वेद एकोत्तरशतधा।..........। यजुर्वेदस्य—माध्यन्दिन-कण्व-तित्तिरि-हिरण्यकेश-आपस्तम्ब–सत्याषाढ-बौधायन-याज्ञवल्क्य-भद्रंजय-बृहदुक्थ-पाराशर–वामदेव-जातुकर्ण-तुरुष्क-सोगुल्म-तृणबिन्दु–वाजिञ्जय-श्रवस-वश्वरूथ-सनद्वाज-वाजिरत्न-हर्यश्व-ऋणञ्जय-तृणञ्जय-कृतञ्जय-धनञ्जय-सत्यञ्जय-सहञ्जय-मिश्रञ्जय-त्र्यरुण-त्रिवृष-त्रिधामाश्वञ्ज-फलिंगु-उखा-आत्रेयशाखाः।[1]

अर्थात्—यजुर्वेद की ये ३६ शाखाएं प्रपंचहृदय के लेखक को उपलब्ध या ज्ञात थीं। इन में से अनेक नाम शाखाकार ऋषियों के प्रतीत नहीं होते।

दिव्यावदान नामक बौद्धग्रन्थ में लिखा है—

एकविंशति अध्वर्यवः।.......... अध्वर्यूणां मते ब्राह्मणाः सर्वे तेऽध्वर्यवो भूत्वा एकविंशतिधा भिन्नाः। तद्यथा—कठाः। काण्वाः। वाजसनेयिनः। जातुकर्णाः। प्रोष्ठपदा ऋषयः। तत्र दश कठा दश काण्वा एकादष वाजसनेयिनः त्रयोदशजातुकर्णाः षोडश प्रोष्ठपदाः पंचचत्वारिंशद् ऋषयः।

---

१. बोधायनगृह्य ३.१०.५ में भी प्रायः ये नाम मिलते है। आपस्तम्ब गृह्य के कुछ हस्तलेखों में एक उपाकर्म का प्रकरण मिलता है। वहां भी ये नाम मिलते हैं। देखें पं० चिन्न स्वामी सम्पादित हरदत्त वृत्ति सहित आपस्तम्बगृह्य, पृ० १५८।

पूर्वोक्त नामों में 'फलिंगु' का पाठान्तर पलिंगु हो सकता है।

यह पाठ हम ने थोड़ा सा शोध कर लिखा है। परन्तु एकविंशति के स्थान में यहां कभी एकशतं पाठ होगा। दिव्यावदान की गणना के अनुसार १० कठ, १० काण्व, ११ वाजसनेय, १३ जातूकर्ण और १६ प्रोष्ठपद हैं। इस प्रकार कुल ६० शाखाकार हुए। इन के साथ वह ४५ ऋषि और जोड़ता है। यदि पूर्वोक्त पाठ का यही अर्थ समझा जाए, तो इस बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार यजुर्वेद की कुल १०५ शाखाएं होंगी। याजुष शाखाओं का यह विभाग बड़ा विचित्र है और अन्यत्र पाया नहीं जाता।

याजुष शाखा सम्बन्धी दो तालिका—याजुष शाखाओं का वर्णन करने वाली दो तालिका गत चौदह वर्ष के अन्वेषण में हमें मिले हैं। पहली तालिका नासिकक्षेत्रान्तर्गत पंचवटी वासी श्री यज्ञेश्वरदा जी मैत्रायणीय के घर से प्राप्त हुई थी। यह उन की तालिका की प्रतिलिपि है। दूसरी तालिका नासिक-क्षेत्रवास्तव्य श्री अण्णाशास्त्री वारे के पुत्र पण्डित श्रीधर शास्त्री ने अपने हाथ से हमारे लिए नकल की थी। प्रथम तालिकानुसार याजुष शाखाओं का वर्णन आगे किया जाता है।

प्रथम विभाग

वाजिमाध्यन्दिनी-शुक्लयजुः-मुख्य-सप्तदशभेदाः

१. जावालः	नार्मदाः	नर्मदाविंध्ययोर्मध्यदेशे
२. बौधेयाः	रणावटनामकाः	खांदेशे गोदामूलप्रदेशे
३. कण्वाः	कर्णवटाः	गोमतीपश्चिमप्रदेशे
४. माध्यञ्जनाः		शरयूतीरनिवासिनः
५. शापीयाः	नागराः	अमरकण्टकनर्मदाम्लवासिनः
६. स्थापायनीयाः	नारदेवाः	नर्मदोत्तरदेशे
७. कापारः	भृगौडाः	मालवदेशे
८. पौंड्रवत्साः	त्रिवाडनामकः	मालवदेशे
९. आवटिकाः	श्रीमखाः	मालवदेशे
१०. परमावटिकाः	आद्यगौडाः	गौडदेशे
११. पाराशर्याः	गौडगुर्जराः	मरुदेशे
१२. वैधेयाः	श्रीगौडाः	गौडदेशे
१३. वैनेयाः	कंकराः	वौध्यपर्वते
१४. औधेयाः	औधेयाः	गुरथी गुर्जरदेशे
१५. गालवाः	गालवी	सौराष्ट्रदेशे
१६. वैजवाः	वैजवाड	नारायणसरोवरे
१७. कात्यायनाः		नर्मदासरोवरे

प्रथम विभागान्तर्गत संख्या १ वाले जावालों के २६ भेद

१. उत्कलाः		उत्कील गौडदेशे
२. मैथिलाः		विदेहदेशे
३. शवर्याः	मिश्र	ब्रह्मवर्तदेशे
४. कौशीलाः		बाल्हीकदेशे

५. तंतिला:		सौराष्ट्रदेशे
६. बर्हिशीला:		वाहककाश्मीरदेशे
७. खेटवा:		खैवटद्वीपवासदेशे
८. डोंभिल		हिमवद्दक्षिणदेशे
९. गोभिल	डभिला:	गंडकीतीरदेशे
१०. गौरवा:	ग्रामणी	मद्रदेशे
११. सौभरा:		कौशिकदेशे
१२. जृंभका:		आर्यावर्तदेशे
१३. पौंड्रका:	मिश्रो:	कवसलदेशे
१४. हरित:		सरस्वतीतीरगा:
१५. शौंडका:		हिमवद्देशे
१६. रोहिण:	मिश्र	गुर्जरदेशे
१७. माभरा:	माभीर	काश्मीरदेशे
१८. लैंगवा:		कलिंगदेशे
१९. मांडवा:	मांडवी	गौडदेशे
२०. भारवा:		मरुद्देशे
२१. चौभगा:	चोभे	मथुरादेशे
२२. टौनका:		नेपालदेशे
२३. हिरण्यशृंगा:		मागधदेशे
२४. कारुण्वेया:	करुणिका:	मागधदेशे
२५. धूम्राक्षा:		हिमवद्देशे
२६. कापिला:		आर्यावर्तदेशे

प्रथम-विभागान्तर्गत संख्या १५ वाले गालवों के १४ भेद

१. काणा:	कनवजा:	गौडदेशे
२. कुब्जा:	कुलका:	मागधदेशे
३. सारस्वता:		सरस्वतीतीरे
४. अंगजा:		अंगदेशे
५. वंगजा:		वंगदेशे
६. भृंगजा:	भृंगा:	भृंगदेशे
७. यावना:	योवन	संगरदेशे
८. शैवजा:	शैवज	मरुद्देशे
९. पालीभद्रा:	पारीभद्र	सिंकलदेशे
१०. नैलवा:	नैलव	कूर्मदेशे
११. वैतानला:		नेपालदेशे
१२. जनिश्रवा:	जनीश्रव	मत्स्यदेशे

१३. भद्रकाः	भद्रकार	बौध्यपर्वतदेशे
१४. सौभराः		बौध्यपर्वतदेशे
१५. कुथिश्रवाः	कुथिवश्रव	हिमवद्देशे
१६. बौध्यकाः	वोधक	बौध्यपर्वतदेशे
१७. पांचालजाः		पांचालदेशे
१८. उर्ध्वांगजाः		काश्मीरदेशे
१९. कुशेन्द्रवाः		कूर्मदेशे
२०. पुष्करणीयाः		मारवाडदेशे
२१. जयत्रवाराः		मरुद्देशे
२२. उर्ध्वरेतसः	जयंत्रव	मरुद्देशे
२३. कथसाः	काथस	गोदादक्षिणभागे
२४. पालाशनीयाः	पलसी	गोदादक्षिणदेशे

द्वितीय विभाग

वाजसनेय-याज्ञवल्क्य-कण्ठवादिपञ्चदश-शुक्लयाजुषाः

१. कण्वाः		कृष्णाउनदेशे
२. कठाः		गोदादक्षिणे
३. पिञ्जुलकठा	पिञ्जुलककठाः	क्रौंचद्वीपे
४. जृम्भककठाः	जृम्भककठ	श्वेतद्वीपे
५. औदलकठाः		शाकद्वीपे
६. सपिछलकठाः		शाकद्वीपे
७. मुद्गलकठाः		काश्मीरदेशे
८. शृंगलकठाः		सृजयदेशे
९. सौभरकठाः		सिंहलदेशे
१०. मौरसकठाः		कुशद्वीपे
११. चञ्जुकठाः	चण्चुलकठ	यवनदेशे
१२. योगकठाः		यवनदेशे
१३. हसलककठाः		यवनदेशे
१४. दौसलकठाः		सिगलकठः
१५. घोषकठाः		क्रौंचद्वीपे

तृतीय विभाग

कृष्णयजुः तैत्तिरीयाः (प्रथम वर्ग)

१. तैत्तिरीयाः	निरंगुल	गोदादक्षिणदेशे
२. औख्या	आईज	आंध्रदेशे

(द्वितीय वर्ग)

३. कांडिकेयाः	तीरगुल	दक्षिणदेशे प्रसिद्धाः
४. आपस्तम्बी		आन्ध्रदेशे
५. बौधायनीयाः		शेषदेशे
६. सात्याषाढी		देवरुख कृष्णातीरे
७. हिरण्यदेशी		परशुरामसन्निधौ
८. श्रौघेयी		माल्यपर्वतदेशे

चतुर्थ-विभाग

चरकों के १२ भेद

१. चरकाः		पश्चिमदेशे
२. आह्वरकाः		नारायणसरोवरे
३. कठाः		करघ्नयवनदेशे
४. प्राच्यकठाः		प्राची कठघ्नयवनदेशे
५. कपिष्ठलकठाः		कपिलकठघ्नयवनदेशे
६. चारायणीयाः		यवनदेशे
७. वार्तलवेयाः	वार्तलव	श्वेतद्वीपदेशे
८. श्वेताः	श्वेतरी	श्वेतद्वीपे
९. श्वेततराः	श्वेततरानी	श्वेतद्वीपे
१०. औपमन्यवाः		क्रौंचद्वीपे
११. पातांडनीयाः		पातांडीम्यवीमरुते, काश्वपुराणदेशे
१२. मैत्रायणीयाः		गोदादक्षिणदेशे

चतुर्थ विभागान्तर्गत सं० १२ वाले मैत्रायणियों के ७ भेद

१. मानवाः		सौराष्ट्रदेशे
२. दुन्दुभाः	दुन्दुभि	काश्मीरदेशे
३. ऐकेयाः		सौराष्ट्रदेशे
४. वाराहाः		मरुद्देशे
५. हारिद्रवेयाः	हरिद्रव	गुर्जरदेशे
६. शामाः	शामल	गौडदेशे
७. शामायनीयाः		गोदावरीतीरे

इन नामों में आकार या विसर्ग के अतिरिक्त हमने कुछ जोड़ा वा बदला नहीं। इनमें से अधिकांश नाम शाखाकारों के नहीं है, प्रत्युत भिन्न-भिन्न ब्राह्मण कुलों के हैं।

आथर्वणों के ४९ वें अर्थात् चरणव्यूह परिशिष्ट में लिखा हैं —

तत्र यजुर्वेदस्य चतुर्विंशतिर्भेदा भवन्ति। यद्यथा—काण्वाः। माध्यन्दिनाः। जाबालाः। शापेयाः। श्वेताः। श्वेततराः। ताम्रायणीयाः। पौर्णवत्साः। आवटिकाः। परमावटिकाः।

हौल्याः। धौल्याः (औख्याः)। खाडिकाः (खांडिकाः)। आह्वरकाः। चरकाः। मैत्राः। मैत्राय-

णीयाः । हारिकर्णाः (हारिद्रविणाः) । शालायनीयाः । मर्चकठाः । प्राच्यकठाः । कपिष्ठलकठाः । उपलाः । (उलपाः) । तैत्तिरीयाश्चेति ।।२।।

इनमें से पहले दस शुक्ल यजुः और अगले चौदह कृष्ण यजुः हैं । आथर्वण परिशिष्टों के मुद्रित-पाठ बहुत भ्रष्ट हैं । हमने केवल चार पाठ कोष्ठों में कुछ शुद्ध कर दिये हैं ।

अब आगे याज्ञवल्क्य और उसके प्रवचन किये हुए शुक्ल यजुओं का वर्णन होगा ।

वाजसनेय याज्ञवल्क्य-जन्मदेश

महाभारत काल में भारत के पश्चिम में, सौराष्ट्र नाम का एक विस्तीर्ण प्रान्त था । उसका एक भाग आनर्त कहाता था । आनर्त की राजधानी थी चमत्कारपुर । आनर्त देश का एक और प्रधान पुर नगर नाम से विख्यात था । नागर ब्राह्मणों का वही उद्‌गम स्थान है । स्कन्द-पुराण, नागर खण्ड, १७४, ५५ के अनुसार चमत्कारपुर के समीप ही कहीं याज्ञवल्क्य का आश्रम था । योगियाज्ञवल्क्य[१] पूर्व खण्ड १.१, तथा याज्ञवल्क्य स्मृति १.२ में याज्ञवल्क्य को मिथिलास्थ अर्थात मिथिला में ठहरा हुआ कहा गया है । सम्भव है कि जनक के साथ प्रीति होने के कारण मिथिला भी याज्ञवल्क्य का एक निवास स्थान हो ।

कुल, गोत्र और पिता के अनेक नाम — वायुपुराण ६१.२१, ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग, ३५.२४ तथा विष्णु पुराण, ३.५.३ के अनुसार याज्ञवल्क्य के पिता का नाम ब्रह्मरात था ।[२] वायु पुराण, ६०.४१ के अनुसार उसका नाम ब्रह्मवाह था । श्रीमद्‌भागवत, १२.६.६४, के अनुसार उसके पिता का नाम देवरात था । एक देवरात शुनः शेप था ।[३] यह शुनःशेप एक विश्वामित्र का पुत्र बन गया था । वायु पुराण के अनुसार विश्वामित्र का निज नाम विश्वरथ था ।[४] विश्वामित्र के कुल वाले कौशिक कहाते हैं । वायु पुराण ९१.९८ तथा ब्रह्माण्ड पुराण मध्यम भाग ६६.७० के अनुसार याज्ञवल्क्य भी विश्वामित्र कुल में से ही था ।[५] महाभारत, अनुशासन पर्व ७.५१ में भी यही बात कही गई है । और याज्ञवल्क्य को विख्यात विशेषण से स्मरण करके इसकी दिगन्त कीर्ति का परिचय कराया है । अतः सम्भव है कि याज्ञवल्क्य देवरात का ही पुत्र हो । ऐसा भी हो सकता है कि देवरात का कोई पुत्र ब्रह्मरात हो और याज्ञवल्क्य इस ब्रह्मरात का पुत्र हो, अथवा देवरात एक ब्रह्मा हो और इस कारण से उसे ब्रह्मरात भी कहते हों । आगे याज्ञवल्क्य के वर्णन के अंत में महाभारत, शान्ति पर्व, ३१५.४ का एक प्रमाण दिया जायगा, उससे यही निश्चित होता है कि याज्ञवल्क्य के पिता का नाम देवरात था ।

सातवीं शताब्दी विक्रम के समीप का होने वाला याज्ञवल्क्य स्मृति का टीकाकार आचार्य विश्वरूप अपनी बालक्रीडा टीका में लिखता है—यज्ञवल्क्यो ब्रह्मा इति पौराणिकाः । तदपत्यं याज्ञवल्क्यः।।११।।

अर्थात् पौराणिकों के अनुसार यज्ञवल्क्य नाम ब्रह्मा का है ।[६] उसी का पुत्र याज्ञवल्क्य है ।

---

१. यह ग्रन्थ अभी अमुद्रित ही है । तुलना करें, मत्स्य पुराण १९८.४

२. ब्रह्मरात सुताय नमः । याज्ञवल्क्य चरित्र, परिशिष्ट पृ० २२

३. हरिवंश १.२७.५६ के अनुसार शुनः शेप देवरात था । ४.९१.९३

४. याज्ञवल्क्य चरित्र पृ० २५ पर निम्न पाठ द्रष्टव्य हैं—आदि कोविदायनमः, आश्वलायनजामात्रे नमः ; आरण्यनोवासिने नमः; कण्व गुरवेनमः ।

६. पाणिनीय गणपाठ ४.१.१०५ में यज्ञवल्क नाम है ।

वायुपुराण ६०.४२ में लिखा है– ब्रह्मणोऽङ्गात्समुत्पन्नः । अर्थात्—याज्ञवल्क्य ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न हुआ था ।

ब्रह्माण्ड पुराण के इसी प्रकरण में लिखा है—अथान्यस्तत्र वै विद्वान् ब्रह्मणस्तु सुतः कविः । ३४.४४ ।। अर्थात्—याज्ञवल्क्य ब्रह्मा का पुत्र था ।

अन्य सम्बन्धी— जनमेजय को तक्षशिला में महाभारत की समग्र कथा का सुनाने वाला भगवान् व्यास का एक प्रिय शिष्य, सुप्रसिद्ध चरकाचार्य वैशम्पायन इसी प्रतापी ब्राह्मण याज्ञवल्क्य का मामा था । महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३२३ में लिखा है —

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम् । विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः ।।१६।।

अर्थात्—समग्र शतपथ को मैंने किया । और सौ शिष्यों ने मुझसे इसका अध्ययन किया । यह बात मेरे मामा (वैशम्पायन) और उसके शिष्यों के लिए बुरी थी । मामा वैशम्पायन कृष्ण वा चरक यजुओं के प्रवचन कर्त्ता थे, अतः शक्ल यजुओं का प्रचार उन्हें अरुचिकर था ।

याज्ञवल्क्य के पुत्र पौत्र के विषय में स्कन्द पुराण, नागर खण्ड, अध्याय १३०, में लिखा है—

१. पाणिनीय गण, पाठ ४.१.१०५ में यज्ञवल्क नाम पढ़ा गया है ।

एवं सिद्धि समापन्नो याज्ञवल्क्यो द्विजोत्तमः । कृत्वोपनिषदं चारु वेदार्थैः सकलैर्युतम् ।।७०।।
जनकाय नरेन्द्राय व्याख्याय च ततः परम् । कात्यायनं सुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम् ।।७१।।

पुनः अध्याय १३१ में लिखा है—

कात्यायनाभिधं च यज्ञविद्याविचक्षणम् ।।४८।। पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुण सागरः ।।४९।।

अर्थात्—याज्ञवल्क्य का पुत्र कात्यायन और कात्यायन का पुत्र वररुचि था ।

याज्ञवल्क्य कौशिक था, यह अभी कहा जा चुका है । उसका पुत्र कात्यायन भी कौशिक होना चाहिए । वस्तुतः बात है भी ऐसी । वास्तविक प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट में, जो कात्यायन-प्रणीत है, लिखा है —

सोहं कौशिकपक्षः शिष्यः । खण्ड ११ ।। अर्थात्—मैं कात्यायन कौशिक हूं ।

यज्ञसूत्र का कर्ता कात्यायन ही याज्ञवल्क्य का पुत्र था । इसका विचार कल्पसूत्रों के इतिहास में किया जाएगा । इतना कहना पर्याप्त है कि पुराण के इस लेख पर सहसा अविश्वास नहीं हो सकता ।

सम्भवतः दो याज्ञवल्क्य—विष्णुपुराण, ४.४ में लिखा है—

ततश्च विश्वसहो जज्ञे ।।१७६।। तस्माद् हिरण्यनाभः । यो महायोगीश्वराज् जैमिनेश्शिष्याद् याज्ञवल्क्याद् योगमवाप ।।१०७।।

अर्थात् इक्ष्वाकु कुल में श्री राम के बहुत पश्चात् एक राजा विश्वसह उत्पन्न हुआ । उससे हिरण्यनाभ उत्पन्न हुआ । उसने जैमिनि के शिष्य महायोगीश्वर याज्ञवल्क्य से योग सीखा ।

श्रीमद्भागवत ९.१२.३.४ में भी ऐसी ही वार्ता का उल्लेख है ।

विष्णुपुराण के अनुसार इस हिरण्यनाभ के पश्चात् बारहवीं पीढ़ी में बृहद्बल नाम का एक कोसल राजा हुआ । वह अर्जुन पुत्र अभिमन्यु से भारत-युद्ध में मारा गया ।

स्मरण रहे कि वहां पर विष्णुपुराण प्राधान्येन मयेरिताः कह कर केवल प्रधान-प्रधान राजाओं का ही उल्लेख कर रहा है ।

हस्तिनापुर के बसाने वाले महाराज हस्ती के द्वितीय पुत्र द्विज्मीढ के पश्चात् आठवां राजा कृत था। उसके विषय में विष्णुपुराण ४.१९ में लिखा है—

कृतः पुत्रोऽभूत ।।५०।। यं हिरण्यनाभो योगमध्यापयामास ।।५१।। यश्चतुर्विंशतिः प्राच्यसामगानां संहिताश्चकार ।।५२।।

अर्थात् - कृत ने हिरण्यनाभ से योग सीखा। यही हिरण्यनाभ प्राच्य सामगों की २४ संहिताओं का प्रवचनकार है।

वायुपुराण, ६६.१६० में इसी हिरण्यनाभ के साथ कौथुम का विशेषण जुड़ा है।

पुनः ब्रह्माण्ड पुराण, मध्यम भाग, अध्याय ६४ में लिखा है--

व्युषिताश्वसुतश्चापि राजा विश्वसहः किल ।।२०६।।
हिरण्यनाभः कौसल्यो वरिष्ठस्तत्सुतोऽभवत् ।
पौष्पंजेश्च स वै शिष्यः स्मृतः प्राच्येषु सामसु ।।२०७।।
शतानि संहितानां तु पंच योऽधीतवांस्ततः ।
तस्मादधिगतो योगो याज्ञवल्क्येन धीमता ।।२०८।।

अर्थात्—याज्ञवल्क्य ने पौष्पञ्जि के शिष्य हिरण्यनाभ कौसल्य से योगविद्या सीखी। यह मत विष्णुपुराण के मत से सर्वथा विपरीत है। प्रतीत होता है, कि इन स्थानों का पुराण-पाठ बहुत भ्रष्ट हो चुका है, अस्तु।

दूसरी ओर वायु आदि पुराणों के साम-शाखा-प्रवचन प्रकरण में लिखा है कि सामग शाखाकारों का सम्बन्ध निम्नलिखित है—
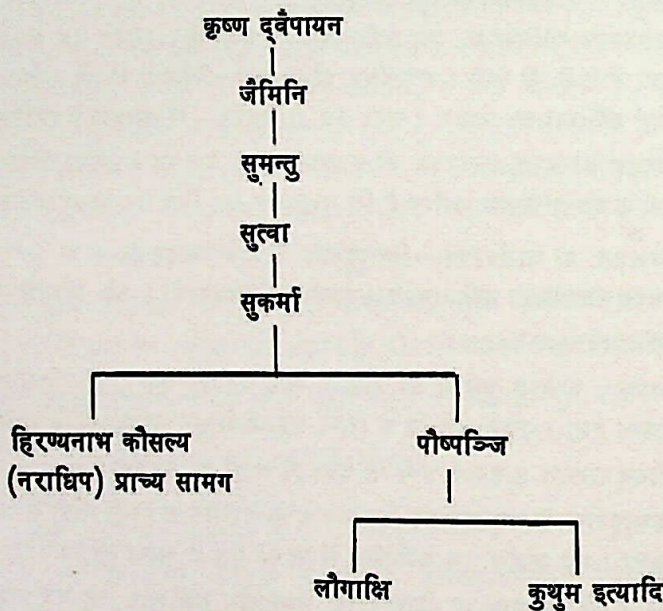
इस परम्परा के अनुसार महाराज हिरण्यनाभ महाभारत-कालीन हो जाएगा। पहली परम्परा के अनुसार वह महाभारत कालीन राजा बृहद्वल से न्यून से न्यून बारह पीढ़ी पहले होगा। यह एक

कठिनाई है जो दूर होनी चाहिए। यदि प्रथम विचार सत्य माना जाए, तो याज्ञवल्क्य सम्भवतः दो होंगे। एक वाजसनेय याज्ञवल्क्य, और दूसरा किसी प्राचीन जैमिनि का शिष्य और हिरण्यनाभ कौसल्य का गुरु याज्ञवल्क्य। परन्तु अधिक सम्भव है कि हिरण्यनाभ कौसल्य चिरजीवी हो, तथा याज्ञवल्क्य एक ही हो। स्कन्द पुराण, नागर खण्ड ५।६ के अनुसार एक याज्ञवल्क्य सूर्यवंशी राजा त्रिशंकु के यज्ञ में उद्गाता का काम करता था। देखो, मालती माधव, १।१४; ३।२६॥

वाजसनेय याज्ञवल्क्य के गुरु—वाजसनेय याज्ञवल्क्य के दो निश्चित गुरुओं की सूचना इतिहास देता है। उन में से एक था प्रसिद्ध चरकाचार्य वैशम्पायन। पुराणों के अनुसार इस गुरु से उसका विवाद हो गया था। उसका दूसरा गुरु था उद्दालक आरुणि। शतपथ ब्राह्मण १४।९।३।१५-२० से ऐसा ज्ञात होता है। स्कन्द पुराण, नागर खण्ड, अध्याय १२९ में याज्ञवल्क्य सम्बन्धी एक कथानक है। यदि वह सत्य है, तो याज्ञवल्क्य का एक गुरु भार्गव अन्वयसम्भूत ब्राह्मण शार्दूल शाकल्य था। वह शाकल्य वर्धमानपुर में रहता था और सूर्यवंशी राजा सुप्रिय का पुरोहित था।

याज्ञवल्क्य एक दीर्घ-जीवी ब्राह्मण—खाण्डव-दाह से बचा हुआ मय नामक विख्यात असुर जब महाराज युधिष्ठिर की दिव्य सभा बना चुका, तो उसके प्रवेश-उत्सव के समय अनेक ऋषि और राजगण इन्द्रप्रस्थ में आए। उनमें एक याज्ञवल्क्य भी था। महाभारत सभापर्व अध्याय ४ में लिखा है—

तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो रोमहर्षणः ॥१८॥

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय भगवान् व्यास ऋत्विजों को लाए। उनके विषय में महाभारत सभापर्व अध्याय ३६ में लिखा है—

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत ॥३३॥
स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः।
धनंजयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥३४॥
याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥३५॥

अर्थात्—उस राजसूय यज्ञ में द्वैपायन ब्रह्मा था, सुसामा उद्गाता, याज्ञवल्क्य अध्वर्यु और धौम्य सहित वसु का पुत्र पैल होता था।

इसी राजसूय के अंत में जब अवभृथ स्नान हो चुका, तब याज्ञवल्क्य आदि की पूजा होने का वर्णन है। सभापर्व, अध्याय ७२ में लिखा है—

याज्ञवल्क्यं कठं चैव कलापं[1] कौशिकं तथा। सर्वांश्च ऋत्विक्प्रवरान् पूजयामास सत्कृतान् ॥६॥

तदनन्तर सम्राट् युधिष्ठिर के अश्वमेध-यज्ञ में भी ऋषि याज्ञवल्क्य उपस्थित था। महाराज युधिष्ठिर भगवान् व्यास से कहते हैं कि, हे व्यास जी आप ही मुझे अश्वमेध यज्ञ में दीक्षित करें। इसका उल्लेख महाभारत आश्वमेधिक पर्व अध्याय ७२ में है। व्यास जी बोले—**अयं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च ॥३॥** अर्थात्—हे कुन्ती पुत्र यह पैल और याज्ञवल्क्य तुम्हारा कृत्य करायेंगे।

इसके पश्चात् जब महाराज युधिष्ठिर को राज्य करते हुए ३६ वर्ष व्यतीत हो चुके[2] और

---

१. तुलना करें, पूना संस्करण, अध्याय ४२, पाठान्तर ४०६ के अन्तर्गत।
२. षट्त्रिंशे त्वथ संप्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः ॥ । ॥ मौसल पर्व, अध्याय १

उन्होंने वृष्ण्यन्धक-कुल का नाश सुन लिया, तो उन्होंने परिक्षित् को सिंहासन पर बिठाकर प्रस्थान का निश्चय किया। उस प्रस्थान के समय जो जन उपस्थित थे, उनके विषय में महाप्रस्थानिक पर्व, प्रथमाध्याय, में लिखा है—

द्वैपायनं नारदं च मार्कण्डेयं तपोधनम्। भारद्वाजं याज्ञवल्क्यं हरिमुद्दिश्य यत्नवान् ॥२॥

अर्थात्—व्यास, याज्ञवल्क्य आदि को युधिष्ठिर ने भोजन कराया, और उनकी कीर्ति गायी।

युधिष्ठिर के पश्चात् ६० वर्ष पर्यन्त परिक्षित् का राज्य रहा। परिक्षित् के पश्चात् जनमेजय और उसके पुत्र शतानीक ने ८० वर्ष तक राज्य किया।[1] इस शतानीक ने याज्ञवल्क्य से वेद पढ़ा था। विष्णुपुराण ४.२१ में लिखा है—

जनमेजयस्यापि शतानीको भविष्यति ॥३॥ योऽसौ याज्ञवल्क्याद् वेदमधीत्य कृपावस्त्राण्यवाप्य विषमविषयविरक्तचित्तवृत्तश्च शौनकोपदेशादात्मज्ञानप्रवीणः परं निर्वाणमवाप्स्यति ॥४॥

महाभारत के एक कोश के अनुसार महाराज युधिष्ठिर की आयु १०८ वर्ष कहा गया है।[2] यह आयु परिमाण ठीक प्रतीत होता है। उसी कोश के अनुसार युधिष्ठिर ने २३ वर्ष राज्य किया था। यह वार्ता १२ वर्ष के वनवास से पूर्व की है। अतः सभा-प्रवेश के पश्चात् युधिष्ठिर ने कम से कम २० वर्ष तक राज्य किया होगा। परन्तु हम १० वर्ष ही गिनती में लेते हैं। अतः यदि सभा के प्रवेश-उत्सव के समय याज्ञवल्क्य की आयु कम से कम ४० की मानी जाए, तो उसकी कुल आयु लगभग निम्नलिखित होगी—

४० वर्ष प्रवेश उत्सव के समय
१० ,, वनवास पूर्व इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर राज्य
१३ ,, वनवास और अज्ञातवास
३६ ,, युधिष्ठिर राज्य
६० ,, परिक्षित् राज्य
८० ,, जनमेजय और शतानीक का राज्य
———
२३९ वर्ष

सम्भव है याज्ञवल्क्य इससे भी अधिक जीवित रहा हो।

याज्ञवल्क्य का संक्षिप्त जीवन—याज्ञवल्क्य के जीवन की अनेक बातें अभी लिखी जा चुकी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी वर्णन योग्य हैं। याज्ञवल्क्य एक महातेजस्वी ब्राह्मण था। जब उसका अपने मामा वैशम्पायन से विवाद हो गया, तो उसने आदित्य संबंधी शुक्ल यजुओं का प्रवचन किया। तब उसके अनेक शिष्य हुए। उनमें से पन्द्रह ने उसके प्रवचन की पन्द्रह शाखाओं का पठन-पाठन चलाया। उन्हीं पन्द्रह शाखाओं का आगे उल्लेख होगा। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं। एक थी ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी और दूसरी थी स्त्री-प्रज्ञा वाली कात्यायनी। महाराज जनक की सभा में उस ने अनेक ऋषियों से महान् संवाद किया था। जनक के साथ उसकी मैत्री थी। इसीलिए वह बहुधा मिथिला में रहा करता था।

---

१. यह गणना सत्यार्थप्रकाश एकादशसमुल्लासान्तर्गत वंशावली के अनुसार है। परन्तु इसमें थोड़ा सा संशोधन हमने किया है।

२. आदि पर्व, पूना संस्करण, पृ० ९१२। स्तम्भ प्रथम।

वह योगीश्वर अपितु परमयोगीश्वर था। उसने संन्यास धर्म पर बड़ा बल दिया है और वह स्वयं भी संन्यासी हो गया था।

याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ—वाजसनेय ब्राह्मण आदि का प्रवचनकार तो निस्सन्देह याज्ञवल्क्य ही है। इनके अतिरिक्त उसके नाम से तीन और ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। वे निम्नलिखित हैं—

१. याज्ञवल्क्य शिक्षा

२. याज्ञवल्क्य स्मृति

३. योगि-याज्ञवल्क्य

ये तीनों ग्रन्थ वाजसनेय याज्ञवल्क्य प्रणीत हैं, अथवा उसकी शिष्य-परम्परा में किसी वा किन्हीं ने पीछे से बनाये हैं। यह विचारास्पद है। हां, इतना कहा जा सकता है कि लगभग सातवीं विक्रम का याज्ञवल्क्य स्मृति का टीकाकार आचार्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को ही इस स्मृति का कर्ता मानता है। यह याज्ञवल्क्य स्मृति कौटल्य अर्थशास्त्र से बहुत पहले विद्यमान थी। और इस स्मृति के अनुसार स्मृति के कर्ता ने ही एक योगशास्त्र बनाया था। याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, यतिधर्मप्रकरण में लिखा है—

ज्ञेयमारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्। योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥१००॥

अर्थात्—योग की इच्छा करने वाले को मेरा कहा हुआ योगशास्त्र जानना चाहिए।

याज्ञवल्क्य स्मृति १.१ में उसे योगीश्वर और १.२ तथा ३.३२४ में उसे योगीन्द्र कहा गया है।

योगियाज्ञवल्क्य ग्रन्थ के दो भाग हैं। एक है मुद्रित, दूसरा मुद्रित रूप में हमारे देखने में नहीं आया। देवणभट्ट प्रणीत स्मृति-चन्द्रिका तथा वाचस्पतिमिश्र आदि के ग्रन्थों में योगियाज्ञवल्क्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं। इस ग्रन्थ के उत्तम संस्करण निकलने चाहिएं।

याज्ञवल्क्य शिक्षा भी दो प्रकार की है। उसके सुसंस्करणों का भी अभी तक अभाव है।

याज्ञवल्क्य और जनक—शान्तिपर्व, अध्याय ३१५ से शरशय्याशायी गाङ्गेय भीष्मजी महाराज युधिष्ठिर को जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद सुनाना आरम्भ करते हैं—

याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशः। पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदांवरः ॥४॥

अर्थात्—प्रश्न पूछने वालों में श्रेष्ठ, महायशस्वी दैवराति मैथिल जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछा।

इस महाभारत-पाठ में सम्भव भूल—हम पृ० २०६ पर लिख चुके हैं कि भागवत पुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य के पिता का नाम देवरात था, अतः दैवराति विशेषण याज्ञवल्क्य का भी हो सकता है। यदि यह सत्य हो तो महाभारत-पाठ दैवरातिः नहीं प्रत्युत दैवरातिं होना चाहिए और जनक का विशेषण तथा निज नाम हमें ढूंढना ही पड़ेगा।

इससे आगे याज्ञवल्क्य व जनक का संवाद आरम्भ होता है। अध्याय ३२३ में याज्ञवल्क्य कथा सुनाता है कि उसने सूर्य से किस प्रकार वेद (श्लोक १०) अथवा उसकी १५ शाखाएं (श्लोक २१,२५) प्राप्त कीं। याज्ञवल्क्य जनक को कहता है कि हे महाराज आपके पिता का यज्ञ भी मैंने कराया था। तभी सुमन्तु, पैल और जैमिनि ने मेरा मान किया था। पुनः याज्ञवल्क्य महाराज जनक को वेदान्त ज्ञान के जानने वाले गन्धर्वराज विश्वावसु से अपना संवाद सुनाता है। याज्ञवल्क्य का सारा उपदेश सुनकर वह

जनक अनेक धन, रत्न और गौएं ब्राह्मणों को दान देकर और अपने पुत्र को विदेह का राज्य देकर आप संन्यास-व्रत में चला गया ।

जिस याज्ञवल्क्य की जीवन घटनाएं पूर्व लिखी गई हैं, उसी प्रतापी वाजसनेय याज्ञवल्क्य की प्रवचन की हुई पन्द्रह शाखाओं का अब वर्णन किया जायगा ।

पन्द्रह वाजसनेय शाखाएं

वाजसनेय के प्रवचन को पढ़ने वाले शिष्य वाजसनेयिन कहाए । उनकी संहिता के लिए वाजी पद का भी व्यवहार होता है ।[1] उनमें से पन्द्रह ने उस प्रवचन को विशेष रूप से पढ़ा पढ़ाया । उनके विषय में वायु-पुराण अध्याय ६१ में लिखा है—

याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्ववैधेयशालिनः ॥२४॥
मध्यन्दिनश्च शापेयी विदिग्धश्चाप्य उद्दलः । ताम्रायणश्च वात्स्यश्च तथा गालवशैशिरी ॥२५॥
आटवी च तथा पर्णी वीरणी सपराशरः । इत्येते वाजिनः प्रोक्ता दश पंच च संस्मृताः ॥२६॥

ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग, अध्याय ३५ का यही पाठ निम्नलिखित है—

याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्वो बौधेय एव च । मध्यन्दिनस्तु शापेयो वैधेयश्चाद्धबौद्धको ॥२८॥
तापनीयाश्च वत्साश्च तथा जाबालकेवलौ । आवटी च तथा पुंड्रो वैणोयः सपराशरः ॥२९॥
इत्येते वाजिनः प्रोक्ता दश पंच च सत्तमः ।

कतिपय चरणव्यूहों का पाठ है—

वाजसनेयानां पंचदशभेदा भवन्ति—

जाबाला बौधायनाः काण्वाः माध्यन्दिनाः शाफेयास् तापनीयाः कपोलाः पौण्डरवत्सा आवटिकाः परमावटिकाः पाराशरा वैणेया वैधेया अद्धा बौधेयाश्चेति ।

दूसरे प्रकार के चरणव्यूहों का पाठ निम्नलिखित है—

काण्वा माध्यन्दिनाः शाबीयास् तापायनीयाः कापालाः पौण्डरवत्सा आवटिकाः परमावटिकाः पाराशर्या वैधेया नैनेया गालव औधेया[2] बैजवाः कात्यायनीयाश्चेति ।

चौखम्बा में काण्वसंहिता पर जो सायण भाष्य मुद्रित हुआ है, उसकी भूमिका में सायण भी यही पाठ उद्धृत करता है । परन्तु इस ग्रन्थ के जो हस्तलेख लाहौर और मद्रास में हैं, उन का पाठ निम्नलिखित है—

जाबाला गौधेयाः काण्वा माध्यन्दिनाः श्यामाः श्यामायनीया गालवाः पिंगला वत्सा आवटिकाः परमावटिकाः पाराशर्या वैणेया वैधेया गालवाः ।

प्रतिज्ञा-परिशिष्ट का पाठ भी देखने योग्य है—

जाबाला बौधेयाः काण्वा माध्यन्दिनाः शापेयास् तापायनीयाः कापोलाः पौण्ड्रवत्सा[3] आवटिकाः परमावटिकाः पाराशरा वैनतेया वैधेयाः कौन्तेया बैजवापाश्चेति ।

महीधर अपने यजुर्वेद भाष्य के प्रारम्भ में लिखता है—जाबाल-बौधेय-काण्व-माध्यन्दिनादिभ्यः

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, ७३.१७

२. बौधेयाः

३. अर्थात् पुण्ड्रनगर का वत्स । तुलना करें—शाकटायन व्याकरण २.३.१०७

पंचदशशिष्येभ्यः ।

ये सारे मत निम्नलिखित तालिका से अधिक स्पष्ट हो जाएँगे —

प्रतिज्ञा	वायु	ब्रह्माण्ड	चरणव्यूह १,	चरणव्यूह २,	सायण मु० ३
१—जाबाला:		जाबाला:	जाबाला:		
२—बौधेया:		बौधेया:	बौधायना:	औधेया:	औधेया:[1]
३—काण्वा:	कण्व:	कण्व:	कण्व:	कण्व:	कण्व:
४—माध्यन्दिन:	मध्यन्दिन:	मध्यन्दिन:	मध्यन्दिन:	मध्यन्दिन:	मध्यन्दिना:
५—शापेया:	शापेयी	शापेय	शाफेया:	शाबीया:	शाबीया:[1]
६—तापायनीया:	ताम्रायणश्च	तायनीया:		तापायनीय:	तापायनीया:[1]
७—कापोला:		केवल	कपोला:	कापोला:	कापाला:
८—पौण्ड्रवत्सा:	वात्स्य:	वत्सा:[2]	पौण्डरवत्सा:	पौण्डरवत्सा:	पौण्ड्रवत्सा:[1]
९—आवटिका:	आटवी	आवटी	आवटी	आवटी	आवटी
१०—परमावटिका:			परमावटिका:	परमावटिका:	परमावटिका:
११—पाराशरा:	पराशर:	पराशर:	पराशर:	पाराशर्या:	पाराशर्या:
१२—वैनतेया:	वीरणी	वैणोय:	वैणेया:	नैनेया:[1]	वैनेया:[1]
१३—वैधेया:	वैधेय:	वैधेया:	वैधेय:	वैधेय:	वैधेय:
१४—कौन्तेया:[4]				कात्यायनीया:[5]	
१५—वैजवापा:					
	शालिन				
	विदिग्ध				
	उद्दल				
	गालव				गालवा:
	शैंषिरी				
	पर्णी	पुंड्र:			
	अद्ध	अद्धा		औधेया	औधेया:
	बौद्धक	बौधेया:		वैजवा:	

शुक्ल यजु–शाखाकारों के ये कुल चौबीस नाम इन स्थानों में मिलते हैं। इनमें से पन्द्रह नाम ठीक हो सकते हैं, शेष नौ नाम लेखक प्रमाद हैं। इन पाठों में कहां-कहां और क्यों भूलें हुई हैं यह बताया जा सकता है, परन्तु विस्तर भय से ऐसा किया नहीं गया। प्रतिज्ञा-परिशिष्ट के पाठ प्रायः ठीक हैं।

---

१. सायण लिखित के पाठान्तर— १—गौधेया: २—श्यामा: । ३—श्यामायनीया: ४—वत्सा: । ५—वैणेया: ।

२. वत्सा: काण्वा: । शांखायन श्रौतसूत्र १६.११.२०

३. 'वैणेय:' पाठान्तर । देखें टि०[1]

४. ब्रह्म प्रोक्त याज्ञवल्क्य संहिता में 'कात्यायना:' पाठ है ।

५. सायण लिखित के पाठान्तर—पिंगला: ।

केवल १४ अंकान्तर्गत कौन्तेयाः के स्थान में 'कात्यायनीयाः' पाठ चाहिए। इन पन्द्रह शाखाओं में से जिस जिस शाखा के संबंध में हमें कुछ ज्ञात हो सका, वह नीचे लिखा जाता है—

१. **जाबालाः**—हमारा अनुमान है कि उपनिषद् वाङ्मय का प्रसिद्ध आचार्य महाशाल[1] सत्यकाम जाबाल ही इस शाखा का प्रवचनकर्ता था। वह वाजसनेय याज्ञवल्क्य का शिष्य और जनक आदि का समकालीन है। महाभारत अनुशासन पर्व ७।५५ के अनुसार एक जाबालि विश्वामित्र कुल का था। वह सम्भवतः गोत्रकार भी था। स्कन्द पुराण, नागर खण्ड ११२।२४, के अनुसार जाबाल गोत्र वाले नगर नाम के पुर में भी रहते थे। मत्स्यपुराण १९८।४ में भी जाबाल कौशिक कहे गए हैं। वायु और ब्रह्माण्ड में ऐसा पाठ नहीं। जाबालों का उल्लेख जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३.७.२ में मिलता है।

वर्तमान काल में जाबालोपनिषद् के अतिरिक्त इस शाखा का अन्य कोई ग्रन्थ ज्ञात-पुस्तकालयों में उपलब्ध नहीं है। जाबाल-ब्राह्मण और कल्प आदि के अनेक ग्रन्थोद्धृत जो प्रमाण हमें मिले हैं,[2] वे इस इतिहास के ब्राह्मण भाग संहिता से सम्बन्ध रखता है, अतः आगे लिखा जाता है। कात्यायनकृत अष्टादश परिशिष्टों में एक हौत्रसूत्र प्रसिद्ध है। इस पर कर्क उपाध्याय का भाष्य भी मिलता है। उसके अध्याय २, खण्ड ८ में लिखा है—**नवपतीश्चिकीर्षेत् इति जाबालाः।**

अर्थात्—जाबालों का मत है कि इस स्थान पर दूसरी ऋचाएं पढ़ें। वे चौदह ऋचाएं आगे प्रतीक मात्र उद्धृत हैं। कर्क उनका समग्र पाठ देता है। उनमें से कुछ ऋचाएं ऋग्वेद में और तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलती हैं। हौत्रसूत्र में प्रतीकमात्र पाठ होने से यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये ऋचाएं जाबाल संहिता में विद्यमान थीं।

जाबाल श्रुति का निम्नलिखित प्रमाण स्थपति गर्ग अपनी पारस्कर गृह्यपद्धति में देता है—**दक्षिणपूर्वद्वारे द्व्यरत्निके जाबालश्रुतेरेतदुपलब्धम्।**[3]

जाबाल गृह्य, गौतम धर्मसूत्र के मस्करी भाष्य (पृ० २४७, २६७, ३८७, आदि) में तथा जाबाल धर्मसूत्र, स्मृति चन्द्रिका, संस्कार काण्ड, पृष्ठ १७१ पर उद्धृत हैं।

२. **बौधेयाः**—ऋग्वेदीय बाष्कल शाखाओं का उल्लेख करते समय आङ्गिरस गोत्र वाले बोध के पुत्र बौध्य का वर्णन हो चुका है। वही ऋग्वेदीय बौध्य शाखा का प्रवर्तक था। दूसरे गोत्र वाले बोध के पुत्र को बौधि कहते हैं। बौधेय का संबंध बुद्ध या बोध से होगा। परन्तु किस गोत्र वाले किस व्यक्ति से इसका संबंध था, यह हम नहीं जान सके।

महाराज जनमेजय के सर्पसत्र में बोधिपिङ्गल नाम का एक आचार्य उपस्थित था। वह था भी अध्वर्यु अर्थात् यजुर्वेदी। महाभारत आदिपर्व, अध्याय ४८, में लिखा है—**ब्रह्माभवच्छार्ङ्गरवो अध्वर्युर्बोधिपिङ्गलः ॥६॥**

क्या इस बोधिपिङ्गल का बौधेयों से कोई संबंध था, यह जानना चाहिए। बौधेयों के संबंध में

---

१. जाबाल शब्द पर लिखते हुए मैकडानल और कीथ अपने वैदिक इण्डैक्स में महाशाल को सत्यकाम से पृथक् व्यक्ति स्वीकार करते हैं। यह एक भूल है। महाशाल तो बड़ी शाला वाले को कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् ५-१-११ में अन्य ऋषि भी महाशाल कहे गए हैं।

२. बालक्रीड़ा, प्रायश्चित्त प्रकरण, पृ० ९४, ९५

३. पंजाब यूनिवर्सिटी का हस्तलेख, पत्र ७ख पंक्ति २।

इससे अधिक हम नहीं जान सके।

चरणव्यूह के कुछ हस्तलेखों में बौधेय के स्थान में बौधायन पाठ भी मिलता है और बौधायन श्रौतसूत्र का माध्यन्दिन और काण्व-शतपथों से सामान्यतया तथा काण्व शतपथ से विशेषतया संबंध है।[1] यही अनुमान होता है कि या तो बौधेय और बौधायन परस्पर भाई हैं, अथवा यह एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं, जो पहले एक शाखा पढ़ता था, और पीछे से उसने दूसरी शाखा अपना ली, और अपना नाम भी बदल लिया। परन्तु यह कल्पनामात्र है और विशेष सामग्री के अभाव में अभी कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

३. काण्वाः—काण्व शाखा की संहिता और ब्राह्मण दोनों ही सम्प्रति उपलब्ध हैं। संहिता का सम्पादन सबसे पहले सन् १८५२ में वैवर ने किया था। तत्पश्चात् सन् १९१५ में मद्रास प्रान्तान्तर्गत आनन्द-वन नामक नगर में कई काण्व शाखीय ब्राह्मणों से संशोधित एक संस्करण निकला था। वह संस्करण अत्यंत उपादेय है। ग्रन्थाक्षरों में भी काण्व संहिता का एक संस्करण कुम्भघोण में छपा था।

काण्व संहिता में ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक और २०८६ मन्त्र हैं। उनका ब्योरा निम्न है—

अध्याय	अनुवाक	मन्त्र	अध्याय	अनुवाक	मन्त्र
१	१०	५०	२१	७	१०६
२	७	६०	२२	८	७५
३	९	७६	२३	६	६०
४	१०	४९	२४	२१	४७
५	१०	५५	२५	१०	६७
६	८	५०	२६	८	४४
७	२२	४०	२७	१५	४५
८	२२	३२	२८	१२	१४
९	७	४६	२९	६	५०
१०	६	४३	३०	४	४६
	१११	५०१		९७	५५४
११	१०	४७	३१	७	५१
१२	७	८५	३२	६	८४
१३	७	११६	३३	२	४६
१४	७	६५	३४	४	२२
१५	९	३५	३५	४	५५
१६	७	८५	३६	१	२४
१७	८	६४	३७	३	२०
१८	७	८६	३८	७	२७
१९	९	४३	३९	९	१२
२०	५	४६	४०	१	१८
	७६	६७२		४४	३५९

१. देखें डा० कालेण्ड सम्पादित काण्वीय शतपथ की भूमिका, पृ० ९४-१०१

यह गणना आनन्दवन के संस्करणानुसार है। इस प्रकार चारों दशकों में कुल संख्या निम्नलिखित है—

दशक	अनुवाक	मन्त्र	दशक	अनुवाक	मन्त्र
१	१११	५०१	३	९७	५५४
२	७६	६७२	४	४४	३५९
		११७३		३२८	२०८६

काण्व-शाखा का प्रवर्तक

कण्व के शिष्य काण्व कहाते हैं उन्हीं शिष्यों में कण्व का प्रवचन सबसे पहले प्रवृत्त हुआ होगा। कण्व एक गोत्र है, अतः कण्व नाम के अनेक ऋषि समय-समय पर हुए होंगे। कण्व नार्षद[1], कण्व श्रायस[2], कण्वाः सौश्रवसाः[3], कण्व घौर[4] आदि अनेक कण्व हो चुके हैं। कश्यप कुल का एक कण्व महाराज दुःषन्त के काल में था। उसी के आश्रम में शकुन्तला वास करती थी। इसी ने भरत का वाजिमेध यज्ञ कराया था। आदिपर्व ६९.४८ में लिखा है:—**याजयामास तं कण्वः**। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय प्रथम में लिखा है कि द्वैपायन, नारद, देवल, देवस्थान और कण्व अपने शिष्यों सहित भारत युद्ध के अवसर पर महाराज युधिष्ठिर से मिलने गये। पुनः शान्तिपर्व अध्याय ३४४ में लिखा है कि अंगिरा के पुत्र चित्रशिखण्डी नाम के एक बृहस्पति का शिष्य राजा उपरिचर वसु था। उस राजा ने एक महान् अश्वमेघ यज्ञ किया था। उस यज्ञ के १६ सदस्यों में कोई एक कण्व भी था। इन कण्वों में से प्रत्येक का भेद गोत्र से प्रतीत होता है। मौसल पर्व २०४ में भी एक कण्व उल्लिखित है। विश्वामित्र और नारद के साथ उसी ने यादवों को कुलान्त करने वाला शाप दिया था। बहुत सम्भव है कि शांति पर्व के आरम्भ में उल्लिखित कण्व और उस के शिष्य ही काण्व शाखा से संबंध रखने वाले हों। कण्व लोग अंगिरा गोत्र वाले हैं। हरिवंश अध्याय ३२ में लिखा है:— **एते ह्याङ्गिरसः पक्षं संश्रिताः कण्वमौद्गलाः ॥६८॥**

ब्रह्माण्ड पुराण मध्यम भाग १. ११२ में भी यही लिखा है। वायु पुराण ५९. १०० में भी कण्व अंगिरा कहे गये है।

कण्व का आश्रमः—आदि पर्व ६४.१८ के अनुसार मालिनी नदी पर कण्व का आश्रम था। यह स्थान प्राचीन मध्यदेशान्तर्गत है। काण्व संहिता में एक पाठ है—**एष वः कुरवो राजैष पंचाला राजा**।

इसी के स्थान में माध्यन्दिन पाठ है— **एष वोऽमी राजा**। तैत्तिरीय आदि संहिताओं में इस पाठ में अन्य जनपदों के नाम है। इस से प्रतीत होता कि काण्वों का स्थान कुरू-पंचालों के समीप ही था।

---

१. जैमिनीय ब्राह्मण १. २१६, कालेण्ड ७९

२. तैत्तिरीय संहिता, ५. ४. ७. ५., काठक संहिता २१. ८., मैत्रायणी संहिता, ३. ३. ९.

३. काठक संहिता १३. १२.

४. ऋग्वेद १. ३. ७. आदि का ऋषि। सम्भवतः घोर आंगिरस का शिष्य।

कण्वों का एक आगम, काठक गृह्य ५.८ के देवपाल भाष्य में उद्धृत है । कण्व के श्लोक स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्धकाण्ड, पृ० ६७,६८ पर उद्धृत हैं । कण्व और कण्व धर्मसूत्र के प्रमाण गोतम धर्मसूत्र के मस्करी भाष्य में बहुधा मिलते हैं । काण्व नाम के दो आचार्य आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्मरण किये गये हैं ।

भारत के काण्व राजा—पुष्यमित्र स्थापित शुंग राज्य के पश्चात् मगध का राज्य काण्वों के पास चला गया । ये काण्व राजा ब्राह्मण थे । पुराणों में इन्हें काण्वायन भी कहा गया है । ये राजा काण्व-शाखीय ब्राह्मण ही होंगे ।

काण्वी शाखा वालों का पांचरात्रागम से संबंध—पांचरात्रागम का काण्व शाखा से कोई संबंध विशेष प्रतीत होता है । इस आगम की जयाख्य संहिता के प्रथम पटल में लिखा है—

काण्वीं शाखामधीयानाव् औपगायनकौशिकौ । प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठतावुभौ ।।१०९।।
तद्गोत्रसम्भवा एव कल्पान्तं पूजयन्तु माम् । जयाख्येनाथ पाद्मेन तन्त्रेण सहितेन वै ।।१११।।
अत्राधिकार उभयोस्तयोरेव कुलीनयोः । शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिर्मौञ्जायनस्तथा ।।११५।।
इमौ च पंचगोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रिताः । श्रीपांचरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि ।।११६।।

अर्थात्—पांचरात्रागम वाले अपने कर्मकाण्ड में मुख्यता से काण्व शाखा का आश्रय लेते हैं । उनके अनेक आचार्य काण्वशाखीय ही हैं ।

४. माध्यन्दिनाः—शुक्ल यजुओं में इस समय माध्यन्दिन शाखा ही सब से अधिक पढ़ी जाती है । कश्मीर, पंजाब, राजपूताना, गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास, बंगाल, विहार और संयुक्त प्रान्त में प्रायः सर्वत्र ही इस शाखा का प्रचार है । संहिता के हस्तलिखित ग्रन्थों में इसे बहुधा यजुर्वेद या वाजसनेय संहिता कहा गया है । संभव है कि स्वर और उच्चारण आदि भेदों के अतिरिक्त इस का मूल से पूरा सादृश्य हो ।

माध्यन्दिन ऋषि कौन और किस देश का था, यह हम अभी नहीं बता सकते । शाखा अध्येता इस शाखा में कुल १९७५ मन्त्र कहते हैं । यह गणना कण्डिका मन्त्रों की है । इस से आगे प्रत्येक कण्डिका मन्त्र में भी कई मन्त्र हैं । उन मन्त्रों की गणना वासिष्ठी शिक्षा के अंत में मिलती है । वह आगे दी जाती है—

एकीकृत्वा ऋचः सर्वा मुनिषड्वेदभूमिताः । अब्धिरामाथ वा ज्ञेया वसिष्ठेन च धीमता ।।१।।
एवं सर्वाणि यजूंषि रामाश्विवसुयुग्मकाः । अथ वा पंचभिर्न्यूनाः संहितायां विभागतः ।।२।।

अर्थात्—सारी ऋचाएं १४६७ हैं । इनकी संख्या का विकल्प अस्पष्ट है । इस प्रकार सारे २८२३ अथवा २८१८ हैं ।

यह हुई ऋक् और यजुओं की गणना । अब अनुवाकसूत्राध्याय के अनुसार अनुवाकों की संख्या लिखी जाती है । अनुवाक सूत्राध्याय के अन्तिम श्लोक निम्नलिखित हैं ।

दशाध्याये समाख्यातानुवाकाः सर्वसंख्यया । शतं दशानुवाकाश्च नवान्ये न मनीषिभिः ।।१।।
सप्तषष्टिश्चितो ज्ञेया सौत्रे द्वाविंशतिस्तथा । अश्व एकोनपंचाशत्पंचत्रिंशत् खिले स्मृताः ।।२।।
शुक्रियेषु तु विज्ञेया एकादश मनीषिभि । एकीकृत्य समाख्यातं त्रिशतं त्र्यधिकं मतम् ।।३।।

अर्थात्—प्रथम १० अध्यायों में ११९ अनुवाक हैं । अग्निचयन अथवा ११-१८ अध्यायों में ६७ अनुवाक हैं । १९-२१ अर्थात् सौत्रामणि अध्यायों में २२ अनुवाक हैं । अश्वमेध अर्थात् २२-२५ अध्यायों

में ४६ अनुवाक है। २६–३५ अर्थात् खिल अध्यायों में ३५ अनुवाक हैं। शुक्रिय अर्थात् अन्तिम ५ अध्यायों में ११ अनुवाक हैं। अर्थात् ११६+६७+२२+४६+३५+११=३०३ अनुवाक हैं।

चालीस अध्यायों के अनुवाकों, मन्त्रों, ऋचाओं और यजुओं की संख्या आगे लिखी जाती है। इनमें से अनुवाक और नन्त्रों की संख्या तो अनुवाकसूत्राध्याय के अनुसार है और ऋचाओं और यजुओं की गणना वासिष्ठी शिक्षा के अनुसार है। काशी के शिक्षा संग्रह में मुद्रित वासिष्ठी शिक्षा का पाठ बहुत भ्रष्ट है, अतः ऋचाओं और यजुओं की गणना में पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर भी भावी विचार के लिए मुद्रित ग्रन्थ के आधार पर ही यह गणना की जाती है।

अध्याय	अनुवाक	मन्त्र	ऋक्	यजुः
१	१०	३१	१	११७
२	७	३४	१२	७६
३	१०	६३	६३ या ६२	३४ या ६६
४	१०	३७	२१ या २०	६५ या ६६
५	१०	४३	१७	११५
६	८	३७	१७	८३
७	२५	४८	३०	१११
८	२३	६३	४३	१०३ या १०४
९	८	४०	२२	८४
१०	८	३४	१२	१०२
११	७	८३	७६	२६
१२	७	११७	११४	१२
१३	७	५८	५२	८७
१४	८	३१	१७	१५४
१५	७	६५	४६	९०
१६	९	६६	३३	१२९
१७	९	९९	९५	११
१८	१३	७७	३६	३६८
१९	७	९५	९४	३०
२०	९	९०	८४	१४
२१	६	१६	२८	३३
२२	१९	३४	१३	११३
२३	११	६५	५८	२४
२४	४	४०	०	४०
२५	१५	४७	४३	०

२६	२	२६	२५	१५
२७	४	४५	४४	१
२८	४	४६	०	४६
२९	४	६०	५७	३२
३०	२	२२	३	१७७
३१	२	२२	२२	०
३२	२	१६	२५	०
३३	७	९७	११९	०
३४	६	५८	६२	०
३५	२	२२	२१	६
३६	२	२४	२०	२२
३७	२	२१	५	३१
३८	३	२८	१३ या १४	५२
३९	२	१३	२	१०७
४०	२	१७	१७	७
	३०३	१९७५		

माध्यन्दिनों का कोई श्रौत और गृह्य कभी था वा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। माध्यन्दिन के नाम से दो शिक्षा-ग्रन्थ शिक्षासंग्रह में छपे हैं। उन का इस शाखा से संबंध भी है। पदपाठ की अनेक बातें और गलित ऋचाओं का वर्णन उनमें मिलता है। ये शिक्षाएं कितनी प्राचीन हैं, यह विचार साध्य है।

५. शापेयाः – इस नाम के कुछ पाठान्तर पृ० २६६ पर आ चुके हैं। उन सब में से शापेयाः पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है। पाणिनीय सूत्र **शौनकादिभ्यश्छन्दसि** (४.३.१०६) पर जो गण पढ़ा गया है, उस में भी यह नाम पाया जाता है। गणपाठ के हस्तलेखों और उन हस्तलेखों की सहायता से मुद्रित हुए ग्रन्थों में इस नाम के और भी कई पाठान्तर हैं। गणरत्नमहोदधि ४.३०५ में वर्धमान लिखता है—
शपस्यापत्यं शापेयः। शापेयिनः। शाफेय इत्यन्ये।

कात्यायन-प्रातिशाख्य अध्याय ३ सूत्र ४३ पर अनन्तभट्ट अपने भाष्य में लिखता है – **दुःनाशं। दूणाशं सख्यं तव। इदं शाबीयादिशाखोदाहरणम्।** अर्थात्– कई शाखाओं में दुःनाशं पाठ है, परन्तु शापेय शाखा में दूणाशं पाठ है।

ऋग्वेद में **दूणाशं सख्यं तव** ६.४५.२५ पाठ है। यह ऋचा माध्यन्दिन शाखा में नहीं है, परन्तु शापेय शाखा में होगी।

पुनः वहीं अनन्तभट्ट ३.४७ के भाष्य में लिखता है– **षद् दन्तः। षोडन्तो अस्य महतो महित्वात्। शाबीयादेरेतत्।**

यह मन्त्र वैदिक कानकार्डेंस में हमें नहीं मिला।

६. तापनीयाः—नासिकक्षेत्र वास्तव्य श्री अप्पाशास्त्री बारे के पुत्र श्री पण्डित श्रीधर शास्त्री ने

गोपीनाथ भट्टी में से निम्नलिखित प्रमाण लिख कर हमें दिया था—**तापनीयश्रुतिरपि । सप्तद्वीपवती-भूमिर्दक्षिणार्थं न कल्प्यते – इति ।**

तापनीय उपनिषदों में यह वचन हमारी दृष्टि में नहीं आया, अतः सम्भव है कि यहवच न तापनीय ब्राह्मण या आरण्यक में हो।

७–८. कापोलाः, पौण्ड्रवत्साः – इन में से पहली शाखा के विपय में हम अभी तक कुछ नहीं जान सके। पौण्ड्रवत्स लोग वत्सों वा वात्स्यों का ही कोई भेद थे। ऋग्वेद के शाकल चरण की एक वात्स्यशाखा का वर्णन हम पृ० १६५ पर कर चुके हैं। अब इन वत्सों और वात्स्यों के संबंध में कुछ विस्तार से लिखा जाता है।

वत्स और वात्स्य—स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्धकाण्ड, पृ० ३२६ पर वत्ससूत्र का एक लम्बा प्रमाण मिलता है। उसी प्रमाण को अपने श्राद्ध प्रकरण में लिखकर हेमाद्रि कहता है—**चरकाध्वर्युसूत्रकृत् वत्सः।** अर्थात् वत्स चरकाध्वर्युओं का सूत्रकार था। पुनः स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड, पृ० २ पर वत्स नाम का एक धर्मसूत्रकार लिखा गया है।

महाभारत आदिपर्व ४८.६ के अनुसार जनमेजय के सर्पसत्र में वात्स्य नाम का एक सदस्य उपस्थित था। कात्यायन श्रौत के परिभाषा अध्याय में वात्स्य नाम का आचार्य स्मरण किया गया है। मानवों के अनुग्राहिक सूत्र के द्वितीय खण्ड में एक वात्स्य का मत मिलता है। इसी अनुग्राहिक सूत्र[१] के २३ खण्ड में चित्रसेन वात्स्यायन आचार्य का मत दिया है। तैत्तिरीय आरण्यक १.७.२१ में पंचकरण वात्स्यायन का मत मिलता है। पौण्ड्रवत्सों का इनमें से किसी के साथ कोई संबंध था वा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

९–१४ शाखाओं के तो अब नाममात्र ही मिलते हैं। इनमें से पराशर शाखा के विषय में इतना ध्यान रखना चाहिये कि ऋग्वेदीय वाष्कल चरणान्तर्गत भी एक पराशर शाखा है।

१५. बैजवापाः—बैजवाप-गृह्य-संकलन हम मुद्रित कर चुके हैं।[२] बैजवापश्रौत के कई सूत्र यत्र तत्र उद्धृत मिलते हैं। इनका पूरा उल्लेख कल्पसूत्रों के इतिहास में किया जाएगा। बैजवाप ब्राह्मण और संहिता का हमें अभी तक पता नहीं लग सका। चरक १.११ में लिखा है कि हिमालय पर एकत्र होने वाले ऋषियों में एक बैजवापि भी था। बैजवापों की एक स्मृति भी यत्र तत्र उद्धृत मिलती है।

कात्यायनाः—श्रीपति रचित श्रीकर नामक वेदान्त भाष्य १.२.७ पर यह शाखा उद्धृत है। कात्यायन श्रौत और कातीय गृह्य तो प्रसिद्ध ही हैं। स्मरण रहे कि कातीय गृह्य पारस्करगृह्य से कुछ विलक्षण है। एक कात्यायन शतपथ ब्राह्मण होशियारपुर में है। उसमें पहले चार काण्ड हैं। वह काण्व शतपथ से मिलता है। क्या ये सब ग्रन्थ किसी शाखा विशेष के हैं, यह विचारणीय है।

शुक्लयजुः की मन्त्र-संख्या—ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग, अध्याय ३५, श्लोक ७६, ७७ तथा वायु पुराण अध्याय ६१ श्लोक ६७, ६८ का पाठ निम्नलिखित है—

द्वे सहस्रे शते न्यूने मन्त्रे वाजसनेयके। ऋग्गणः परिसंख्यातो ब्राह्मणं तु चतुर्गुणम् ॥

---

१. इसका हस्तलेख हमारे पास था।

२. pp. 59-67, Vol II, Fourth A. I. O. Conference, Proceedings, 1928.

अष्टौ सहस्राणि शतानि चाष्टावशीतिरन्यान्यधिकश्च पादः ।
एतत्प्रमाणं यजुषामृचां च सशुक्रियं सखिलं याज्ञवल्क्यम् ॥

अर्थात्—वाजसनेय आम्नाय में १९०० ऋचाएं हैं। तथा शुक्रिय और खिल सहित यजुओं और ऋचाओं का प्रमाण ८८८० और एक पाद है। इस प्रकार पुराणों के अनुसार वाजसनेयों के पाठ में कुल मन्त्र ८८८० और एक पाद हैं। अथवा ६९८० यजुओं की संख्या तथा १९०० ऋचाएं और एक पाद हैं।

एक चरणव्यूह का पाठ है—

द्वे सहस्रे शते न्यूने मन्त्रे वाजसनेयके । ऋग्गणः परिसंख्यातस्ततोऽन्यानि यजूंषि च ।
अष्टौ शतानि सहस्राणि चाष्टाविंशतिरन्यान्यधिकञ्च पादम् ।
एतत्प्रमाणं यजुषां हि केवलं सवालखिल्यं सशुक्रियम् ।
ब्राह्मणं च चतुर्गुणम् ।

चरणव्यूह और पुराणों के पाठ का स्वल्प अन्तर है। चरणव्यूह के अनुसार वाजसनेयों की कुल मंत्र संख्या ८८२० और एक पाद है।

प्रतिज्ञापरिशिष्ट सूत्र के चतुर्थ खण्ड में लिखा है—**वाजसनेयिनाम्-अष्टौ सहस्राणि शतानि चान्यान्यष्टौ संमितानि ऋग्भिर्विभक्तं सखिलं सशुक्रियं समस्तो यजूंषि च वेद ॥४॥**

अर्थात्–वाजसनेयों की मंत्र संख्या ८८०० है। इतना ही सम्पूर्ण यजुः है। इसमें ऋचाएं, खिल और शुक्रिय अध्याय सम्मिलित हैं।

चरणव्यूह का टीकाकार महिदास इसी श्लोक के अर्थ में ऋक् संख्या १९२५ मानता है। उस के इस परिणाम पर पहुंचने का कारण जानना चाहिए।

यह ऋक् और यजुः संख्या १५ शाखाओं की सम्मिलित संख्या प्रतीत होती है। पहले लिखा जा चुका है कि वासिष्ठी शिक्षा के अनुसार माध्यन्दिन शाखा में १४६७ ऋचाएं है। पन्द्रह शाखाओं की ऋक् संख्या १९०० है। अतः शेष १४ शाखाओं में कुल ४३३ ऋचाएं ऐसी होंगी जो माध्यन्दिन शाखा में नहीं हैं। इसी प्रकार माध्यन्दिन यजुः संख्या २८२३ है। प्रतिज्ञासूत्रानुसार ऋचाएं निकाल कर ८८००-१९००=६९०० यजुः है। अतः ६९००—२८२३=४०७७ नए यजुः अन्य चौदह शाखाओं में होंगे।

माध्यन्दिन शाखा के समान यदि काण्व शाखा के भी ऋक्, यजुः गिन लिए जाएं, तो विषय अति स्पष्ट हो सकता है।

स्मरण रहे कि जिन ग्रन्थों से यह संख्या ली गयी है, उन का पाठ शुद्ध होने पर इस संख्या में थोड़ा बहुत भेद करना पड़ेगा।

वाजसनेयों का कुरुजांगल राज्य में व्यापक-प्रभाव—वैशंपायन का कौरव जनपद से घनिष्ठ संबंध था। वैशंपायन ही महाराज जनमेजय को भारत-कथा सुनाता है। अतः स्वाभाविक ही वहां पर चरकों का प्रचार होना चाहिए। परन्तु वस्तुतः ऐसा हुआ नहीं। परिक्षित् के पुत्र महाराज जनमेजय ने वाजसनेयी ब्राह्मणों को अपने यज्ञ में स्थापन किया। वैशंपायन इसे सहन न कर सका। उसने जनमेजय को शाप दिया। उस शाप से जनमेजय का नाश हो गया।[1] यह वृत्तान्त वायु पुराण अध्याय ९९,श्लोक

---

१. तुलना करें – कौटिल्य अर्थशास्त्र १. ६

२५०-२५५ तक पाया जाता है। कई अन्य पुराणों में भी यही वार्ता पाई जाती है। इससे प्रतीत होता है कि पौरव राज्य में वाजसनेयों का प्रभाव अधिक हो गया था। शनैः शनैः कश्मीर के अतिरिक्त सारे उत्तर भारत और सौराष्ट्र में शुक्ल यजुओं का ही अधिक प्रचार हो गया।

क्या कोई वाजसनेय संहिता भी थी

बौधायन, आपस्तम्ब और वैखानस श्रौतसूत्रों में कई बार वाजसनेय वा वाजसनेयकों के वचन उद्धृत मिलते हैं। वे वचन ब्राह्मण सदृश्य हैं। परन्तु माध्यन्दिन और काण्व शतपथों में वे पाठ नहीं मिलते। वासिष्ठधर्म सूत्र १२. ३१ तथा १४. ४६ में भी दो बार वाजसनेय ब्राह्मण का पाठ मिलता है। प्रथम पाठ की तुलना माध्यन्दिन शतपथ १०.५.२-९ से की जा सकती है। वस्तुतः ये दोनों पाठ भी इन शतपथों में नहीं हैं। इससे किसी वाजसनेय ब्राह्मण विशेष के अस्तित्व की सम्भावना प्रतीत होती है। अथवा यह भी सम्भव है कि जाबाल आदि किसी ब्राह्मण विशेष को ही वाजसनेय ब्राह्मण कहते हों। इसी प्रकार यह भी विचारणीय है कि क्या शुक्ल यजुओं की आरम्भ से ही १५ संहिताएं थी, अथवा कोई मूल वाजसनेय संहिता भी थी।

अनेक हस्तलिखित शुक्लयजुः संहिता पुस्तकों के अन्त में इति वाजसनेय संहिता अथवा इति यजुर्वेद लिखा मिलता है। वह संहिता माध्यन्दिन पाठ से मिलती है। इस पर पूरा पूरा विचार करना चाहिए।

वाजसनेयों के दो प्रधान मार्ग—प्रतिज्ञापरिशिष्ट खण्ड ११ के अनुसार वाजसनेयों के दो प्रधान मार्ग थे। प्रतिज्ञापरिशिष्ट का तत्संबन्धी पाठ यद्यपि बहुत अशुद्ध है, तथापि उस का अभिप्राय यही है। उन मार्गों में से एक मार्ग था आदित्यों का और दूसरा था आङ्गिरसों का। आदित्यों का मार्ग ही विश्वामित्र या कौशिकों का मार्ग हो सकता है। ये ही दो मार्ग माध्यन्दिन शतपथ ग्रहकांड ४, प्रपाठक ४, खंड १९ में वर्णित हैं। इन्हीं दोनों मार्गों का उल्लेख कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ६ में मिलता है। वहां ही लिखा है कि (देवकी पुत्र श्रीकृष्ण के गुरु) घोर आंगिरस ने आदित्यों के यज्ञ में अध्वर्यु का काम किया था। इस भेद के अनुसार याज्ञवल्क्य के पन्द्रह शिष्य भी दो भागों में विभक्त हो जाएंगे। एक होंगे कौशिक पक्ष वाले व दूसरे आंगिरस पक्ष वाले। कात्यायन आदि कौशिक हैं और काण्व आदि आंगिरस हैं।

वाजसनेय और शंखलिखित सूत्र—शंखलिखित रचित एक धर्मसूत्र है। वह वाजसनेयों से ही पढ़ा जाता है। ऐसी परम्परा क्यों चली, इस का निर्णय कल्पसूत्रों के इतिहास में करेंगे।

कृष्ण यजुर्वेद प्रचारक वैशंपायन–त्रिकालदर्शी भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास का दूसरा प्रधान शिष्य वैशंपायन था। वैशंपायन के पिता का नाम अथवा उसका जन्म स्थान हम नहीं जानते। वायु पुराण ६१.५ के अनुसार वैशंपायन एक गोत्र था, परन्तु ब्रह्माण्ड पुराण ३४.८ के लगभग वैसे ही पाठानुसार वैशंपायन एक नाम-विशेष था। वैशंपायन का दूसरा नाम चरक था। अष्टाध्यायी की काशिका वृत्ति ४.३.१०४ में लिखा है–**चरक इति वैशंपायनस्याख्या ॥**[१]

याज्ञवल्क्य इसी वैशंपायन का भागिनेय और शिष्य भी था। शान्तिपर्व ३४४.९ के अनुसार तित्तिरि या तैत्तिरि वैशंपायन का ज्येष्ठ भ्राता था। महाभारत के इस प्रकरण के पाठ से कुछ संदेह होता है कि यह वैशंपायन किसी पहले युग का हो। परन्तु अधिक सम्भावना यही है कि यह वैशंपायन हमारा वैशंपायन ही है।

---

१. तुलना करें–शाकटायन व्याकरण चिन्तामणि वृत्ति।

वैशंपायन का आयु— अन्य ऋषियों के समान वैशंपायन भी एक दीर्घजीवी ब्राह्मण था। आदि पर्व १. ५७ के अनुसार तक्षशिला में सर्पसत्र के अनन्तर व्यास जी की आज्ञा से इसी वैशंपायन ने जनमेजय को भारत-कथा सुनाई थी। जब जनमेजय ने वाजसनेयों को पुरोहित बनाकर यज्ञ किया, तो इसी वैशंपायन ने उसे यह शाप दिया था जो उस के नाश का कारण बना है। वैशंपायन का आयु परिमाण भी याज्ञवल्क्य के तुल्य ही होगा। व्यास जी से कृष्ण यजुर्वेद का अभ्यास करके इसने आगे अनेक शिष्यों को उस का अभ्यास कराया। उन शिष्यों के कारण इस कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाएं हुईं।

शबरस्वामी अपने मीमांसा-भाष्य १.१.३० में किसी प्राचीन ग्रन्थ का प्रमाण देता हुआ लिखता है—**स्मर्यंते च — वैशंपायनः सर्वशाखाध्यायी।** अर्थात्—वैशंपायन इन सब ८६ शाखाओं को जानता था।

इसी वैशंपायन का कोई छन्दोबद्ध ग्रन्थ भी था। उसी के श्लोकों को काशिका वृत्तिकार ४.३.१०७ पर **चारकाः श्लोकाः** लिखता है। सम्भव है ये श्लोक महाभारतस्थ '**वैशंपायन उवाच**' हों।

कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाओं के तीन प्रधान भेद— पुराणों के अनुसार इन शाखाओं के तीन प्रधान भेद हैं—

वैशंपायनगोत्रोऽसौ यजुर्वेदं व्यकल्पयत्। षडशीतिस्तु येनोक्ताः संहिता यजुषां शुभाः॥
षडशीतिस्तथा शिष्याः संहितानां विकल्पकाः। सर्वेषामेव तेषां वै त्रिधा भेदाः प्रकीर्तिताः॥
त्रिधा भेदास्तु ते प्रोक्ता भेदेऽस्मिन्नवमे शुभे। उदीच्या मध्यदेश्याश्च प्राच्याश्चैव पृथग्विधाः॥
श्यामायनिरुदीच्यानां प्रधानः सम्बभूव ह। मध्यदेशप्रतिष्ठाता चारुणिः(चासुरिः ? ब्र० पु०) प्रथमः स्मृतः।
आलम्बिरादिः प्राच्यानां त्रयोदेश्यावयस्तु ते। इत्येते चरकाः प्रोक्ताः संहितावादिनो द्विजाः॥[1]

अर्थात्—कृष्ण यजुः की ८६ शाखाओं के तीन भेद हैं। वे भेद हैं उदीच्य=उत्तर, मध्यदेशीय और प्राच्य=पूर्वदेशस्थ आचार्यों के भेद से। श्यामायनि उत्तर देश के कृष्ण याजुषों में प्रधान था। मध्यदेश वालो में आरुणि या आसुरि प्रथम था। और पूर्वदेश वालों में से आलम्बि पहला था।

काशिकावृत्ति ४. ३. १०४ में इस विषय पर और भी प्रकाश डाला गया है—

आलम्बिश्चरकः प्राचां पलंगकमलावुभौ।
ऋचाभारुणिताण्ड्याश्च मध्यमीयास्त्रयोऽपरे॥
श्याममायन उदीच्येषु उक्तः कठकलापिनोः।

अर्थात्—आलम्बि, पलंग और कमल पूर्वदेशीय चरक थे। ऋचाभ, आरुणि और ताण्ड्य् मध्यदेशीय चरक थे। तथा श्यामायन, कठ और कलाप उत्तरदेशीय चरक थे।

व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि मुनि भी सूत्र ४.२.१३८ पर लिखता है—**त्रयः प्राच्याः। त्रय उदीच्याः। त्रयो मध्यमाः।**

अर्थात्—(वैशम्पायन के नौ शिष्यों में से) तीन पूर्वीय, तीन उत्तरीय और तीन मध्यदेशीय आचार्य हैं।

इसी प्रकार आर्ष श्रुतर्षियों का वर्णन करके ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग अध्याय ३३ में लिखा है—
वैशंपायनलौहित्यौ कठकालापशावधः॥५॥
श्यामायनिः पलंगश्च ह्यालंबिः कामलायनिः। तेषां शिष्याः प्रशिष्याश्च षडशीतिः श्रुतर्षयः॥६॥

मुद्रित पाठ अत्यंत भ्रष्ट है। यह हमारा शोधित पाठ है। इस पाठ में भी पांचवे श्लोक का

---

१. यह पाठ वायु ६१.५-१० तथा ब्रह्माण्ड, पूर्व भाग ३४.८-१३ को मिलाकर दिया गया है।

अंतिम पद अस्पष्ट हैं।

वायु और ब्रह्माण्ड का जो लम्बा पाठ ऊपर दिया गया है, तदनुसार इन यजुओं की ८६ संहिताएं थीं। यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती। आपस्तम्बादि अनेक कृष्ण यजुः शाखाएं ऐसी हैं, जो सौत्ररूप ही हैं। कभी उनकी स्वतन्त्र संहिता रही हो, यह उन सम्प्रदायों में अवगत नहीं। अतः पुराण के इस लेख की पूरी आलोचना आवश्यक है। अब इन चरक-चरणों और उन की अवान्तर शाखाओं का वर्णन किया जाता है।

१. चरक संहिता—वैशंपायन की मूल चरक संहिता कैसी थी, यह हम नहीं कह सकते। एक चरक संहिता चरणव्यूहादि में कही गयी है।

यजुर्वेद ७.२३ और २५.२७ के भाष्य में उवट चरकों के मंत्र उद्धृत करता है। कात्यायन प्रातिशाख्य ४.१६७ के भाष्य में उवट-चरकों के एक संधि नियम का उल्लेख करता है। चरक ब्राह्मण भी बहुधा उद्धृत मिलता है। इसका उल्लेख इस इतिहास के ब्राह्मण भाग में है। चरक श्रौत के अनेक प्रमाण शांखायन श्रौत के आनर्तीय भाष्य में मिलते हैं। इनका वर्णन इस इतिहास के श्रौत भाग में होगा। सुनते हैं नागपुर का प्रसिद्ध श्रेष्ठी गृह, जिन्हें बूटी कहते हैं, चरक शाखा वालों का है। परन्तु वहां चरक शाखा अथवा उसके ग्रन्थों का अब कोई अस्तित्व नहीं, ऐसा सुना जाता है। मुद्रित कठ संहिता में कई स्थानों पर यह लिखा मिलता है—**इति श्रीमद्यजुषि काठके चरकशाखायाम्**। इसके अभिप्राय पर ध्यान करना चाहिए।

इन चरकाध्वर्युओं का खण्डन शतपथ में बहुधा मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ३. १ में मद्र देश में चरकों के अस्तित्व का उल्लेख है। आयुर्वेदीय, चरकसंहिता, सूत्रस्थान १४. १०१ में पुनर्वसु भी चन्द्रभाग कहा गया है। चन्द्रभागा-चनाव नदि के पास ही मद्र देश था अतः संभव है कि मद्र देश में या उस के समीप ही वैशंपायन का आश्रम हो।

व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि सम्भवतः चरक शाखाध्यायी था। वह कठ पाठ उद्धृत करता है।

२-३. आलम्बिन तथा पालंगिन शाखाएं—गणरत्नमहोदधि ४.३०५ में लिखा है— **अलम्बस्यापत्यम् आलम्बिः। आलम्बिनः।**

इन शाखाओं का अब नाममात्र ही शेष है। आलम्बि और पलङ्ग पूर्वदेशीय आचार्य थे। एक आलम्बायन आचार्य का वर्णन महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय ४९ में मिलता है—

चारुशीर्षस्ततः प्राह शक्रस्य दयितः सखा। आलम्बायन इत्येवं विश्रुतः करुणात्मकः ॥५॥

अर्थात्— सुन्दर शिर वाला, इन्द्रसखा, विश्रुत, करुणामय आलम्बायन बोला। [हे युधिष्ठिर। गोकर्ण में तप तथा शिव-स्तुति से मैंने पुत्र प्राप्त किए थे।]

इन्द्र सखा—आलम्बायन निश्चय ही इन्द्र का प्रिय था। वाग्भट्ट अष्टांग-संग्रह १. १०४ में लिखता है कि आयुर्वेद शिक्षा प्राप्त करने के लिए पुनर्वसु आत्रेय के साथ आलम्बायन भी गया। आलम्बायन का वैद्यक ग्रन्थ माधवनिदान की मधुकोश व्याख्या ६९.२८ पर उद्धृत है।[1]

आलम्बि पूर्व दिशा का था। इन्द्र राज्य भी इसी दिशा में था। अतः आलम्बायन का इन्द्र

---

१. आलम्बायन के अगदतन्त्र के लिए देखें आयुर्वेद का इतिहास जो छप रहा है।

सखा होना स्वाभाविक ही है।

सभा पर्व ४. २० के अनुसार युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश समय अनेक ऋषियों के साथ एक **आलम्ब** भी वहां उपस्थित था। माध्यन्दिन शतपथ के अंत में जो वंश कहा गया है, वहां भी आलम्बी और आलम्बायनी दो नाम मिलते हैं।

४. कमल की शाखा—काशिकावृत्ति ४.१.१०४ के अनुसार इस शाखा के पढ़ने वाले **कामलिन** कहाते हैं। कामलायिन नाम की भी एक शाखा थी। उसका एक लम्बा पाठ अनुग्राहिक सूत्र के १७वें खण्ड से आरम्भ होता है — **अथ ऊं याजिकल्पं कामलायिनः समामनंति वसंते वै ......।**[1]

कामलिन और कामलायिन क्या एक थे वा दो, यह जानना आवश्यक है। हम अभी तक कोई सम्मति स्थित नहीं कर सके। व्याकरण में कामलिनः पाठ है और पुराण में उसी का कामलायिनः 'गाठ है। तीसरा नाम कामलायन है। इन तीनों नामों का संवंध जानना चाहिए।

छान्दोग्य उपनिषद् ४.१०.१ में लिखा है — **उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास।**

अर्थात्—उपकोसल कामलायन सत्यकाम जाबाल का शिष्य था। यहां उपकोसल का अभिप्राय यदि उपकोसल देश वासी है, तो यह आचार्य इस शाखा से संबंध रखने वाला हो सकता है। कमल शाखा का प्रवक्ता पूर्वदेशीय था, और कमल भी प्राच्य कहा गया है।

५. आर्चाभिन शाखा—निरुक्त २.३ में आर्चाभ्याम्नाय के नाम से यास्क इसे उद्धृत करता है। दुर्ग, स्कन्द आदि निरुक्त टीकाकारों के मुद्रित ग्रन्थों में इस शब्द का ठीक अर्थ नहीं लिखा। वे आर्चाभ्याम्नाय का अर्थ ऋग्वेद करते हैं। उस अर्थ की मूल–विवेचना इस इतिहास के दूसरे भाग के निरुक्त प्रकरण में है।

६,७. आरुणिन अथवा आसुरि और ताण्डिन शाखाएं—एक आरुणि शाखा का उल्लेख ऋग्वेद की शाखाओं के वर्णन में हो चुका है। क्या यह शाखा ऋग्वेदीय है, या याजुष, अथवा दोनों वेदों में इस नाम की एक-एक शाखा है, यह अभी संदिग्ध है। हो सकता है कि याजुष शाखा का वास्तविक नाम आसुरि शाखा हो। ब्रह्माण्ड पुराण में आरुणि का पाठान्तर आसुरि मिलता है। आसुरि नाम का एक आचार्य याजुष साहित्य में प्रसिद्ध भी है। एक तण्डि ऋषि का नाम अनुशासन पर्व ४८. १७६ में मिलता है। इसी पर्व के ४७वें तथा अन्य अध्यायों में भी उसका उल्लेख है। महाभाष्य ४.१.१९ में एक **आसुरीयः कल्पः** लिखा है।

महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ३४४.७ में राजा उपरिचर वसु के यज्ञ में महान् ऋषि ताण्ड्य का उपस्थित होना लिखा है। एक ताण्ड्य आचार्य माध्यन्दिन शतपथ ६.१.२.२५ में भी स्मरण किया गया है। सामवेद का भी एक ताण्ड्य ब्राह्मण मिलता है। तण्डि और ताण्ड्य का संबंध, तथा साम और यजुः से सम्बन्ध रखने वाले ताण्ड्य नाम के दो आचार्य थे, वा एक, यह सब अन्वेषणीय है।

मनुस्मृति ८.११६ पर मेधातिथि **छान्दोग्ये ताण्डके** पाठ लिखता है। यह विचारणीय है।

८. श्यामायन शाखा—शाकटायन व्याकरण लघुवृत्ति पृष्ठ २८६ तथा गणरत्नमहोदधि ३.२२२ पर लिखा है — **श्यामेयो वासिष्ठः, श्यामायनोऽन्यः।**

---

१. हमारा हस्तलेख पृ० १० क

पुराणों के अनुसार वैशंपायन के प्रधान शिष्यों में से एक श्यामायन है। परन्तु चरणव्यूहों में श्यामायनीय लोग मैत्रायणीयों का अवान्तर भेद कहे गये हैं। महाभारत अनुशासन पर्व ७.५५ के अनुसार श्यामायन विश्वामित्र गोत्र का कहा गया है। इस विषय में इससे अधिक हम अभी तक नहीं जानते।

६. कठ अथवा काठक शाखा — प्रक्रिया कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ८०७ के अनुसार कठ उदीच्य थे।

जिस प्रकार वैशम्पायन चरक के सब शिष्य चरक कहाते हैं, वैसे ही कठ के भी समस्त शिष्य कठ ही कहाते हैं। अष्टाध्यायी ४.३.१०७ का भी यही अभिप्राय है। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३४४ में जहां राजा उपरिचर वसु के यज्ञ का वर्णन है, वहां १६ ऋत्विजों में से आद्य कठ भी एक था — **आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशंपायनपूर्वजः ॥६॥**

इससे प्रतीत होता है कि अनेक कठों में जो प्रधान कठ था, अथवा जो उन सबका मूल गुरु था, उसे ही आद्य कठ कहा है। महाभारत आदिपर्व अध्याय ८ में शुनक के पिता रुरु का आख्यान है। भृगु कुल में च्यवन एक ऋषि था। इसके कुल का वर्णन अनुशासनपर्व, अध्याय ८ में भी स्वल्प पाठान्तरों से मिलता है। इस च्यवन का पुत्र प्रमति था। प्रमति का रुरु और रुरुसुत शुनक था। इसी शुनक का पुत्र सुप्रसिद्ध शौनक था। रुरु का विवाह स्थूलकेश ऋषि की पालिता कन्या प्रमद्वरा से हुआ। प्रमद्वरा को सांप ने काट खाया। उस समय अनेक द्विजवर वहां उपस्थित हुए। पूना संस्करण के अनुसार आदिपर्व के आठवें अध्याय का २२६वां प्रक्षेप निम्नलिखित है —**उद्दालकः कठश्चैव श्वेतकेतुस्तथैव च।**

सभापर्व अध्याय ४.२४ के अनुसार युधिष्ठिर की दिव्य-सभा के प्रवेश संस्कार समय कालाप और कठ वहां विद्यमान थे।

कठ एक चरण है—कठ एक चरण है। इसकी अवान्तर शाखाएं अनेक होंगी। काशिकावृत्ति ४.२.४६ में लिखा है — **चरणशब्दाः कठकालापादयः।**

कम से कम दो कठ तो चरणव्यूहों में कहे गये हैं, अर्थात् प्राच्य कठ और कपिष्ठल कठ। एक मर्च कठ आथर्वण चरणव्यूह में वर्णित है।

काठक आम्नाय—व्याकरण महाभाष्य ४.३.१२ के अनुसार कठों का धर्म वा आम्नाय काठक कहाता है। इस आम्नाय की महाभाष्य ४.२.६६ में वड़ी प्रशंसा है—

यथेह भवति—पाणिनीयं महत् सुविहितम् इत्येवमिहापि स्यात् कठ महत् सुविहितमिति।

अर्थात्—पाणिनि का ग्रन्थ महान् और सुन्दर रचना वाला है। तथा कठों का ग्रन्थ (श्रौतसूत्र आदि ?) भी महान् और सुन्दर रचना वाला है।

कठ देश और कठ जाति—कठों का सम्प्रदाय अत्यन्त विस्तृत था। पुराणों के पूर्वलिखित प्रमाणों के अनुसार कठ उत्तरदेशीय थे। उत्तर दिशा में अल्मोडा, गढ़वाल, कुमाऊं, काश्मीर, अफगानिस्तान आदि देश हैं। इनमें से कठ कोई देश विशेष होगा। उस देश में कठ जाति का निवास था। महाभाष्य में—पुंवत् कर्मधारय-जातीय देशीयेषु ६.३.४२ सूत्र के व्याख्यान में लिखा है — **जातेश्च (४१) इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति। कठी वृन्दारिका कठवृन्दारिका। कठजातीया कठदेशीया।**

अर्थात्—कठ जाति अथवा कठ देश की स्त्री।

सम्प्रति कठ ब्राह्मण काश्मीर देश में ही मिलते हैं। महाभाष्य ४.३.१०१ के अन्तर्गत पतंजलि का कथन है कि उसके समय में ग्राम-ग्राम में कठ संहिता आदि पढ़े जाते थे — **ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते।**

नासिक में एक ब्राह्मण ने हम से कभी कहा था कि मूलतापी निवासी कुछ कठ ब्राह्मण उन्हें एक बार मिले थे। वे अपनी संहिता जानते थे। मूलतापी दक्षिण में है। वहां हमें जाने का अवसर नहीं मिला। परन्तु यह बात हमारे ध्यान में नहीं आई, तथापि इसका निर्णय होना चाहिए।

कट्यूरों का कठों से संबंध—कुमाऊं प्रदेश के उत्तर की ओर एक पार्वत्य स्थान है। उसका नाम कट्यूर है। वहां सूर्यवंशी राजा राज्य करते रहे हैं। पूर्वकाल में उनकी राजधानी जोशीमठ में थी। एक महाशय हम से कहते थे कि यही लोग कठार्य हैं। वे ऐसा भी कहते थे कि काठियावाड़ की काठि जाति भी कठ जाति ही है, और कभी उत्तरीय कट्यूरों और काठीयों का परस्पर संबंध भी था। ये बातें अभी हमारी समझ में नहीं आईं। इन को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता है।

कठ और लौगाक्षि—काठक गृह्यसूत्र, लाहौर और श्रीनगर, काश्मीर में मुद्रित हो चुका है। कई हस्तलेखों में इसे लौगाक्षि गृह्य भी कहा गया है। इस से प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कठ और लौगाक्षी समान व्यक्ति थे। हमारा विचार है कि ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। हो सकता है कि काठक शाखा पर लौगाक्षी का ही कल्प हो, और उसी का नाम काठकयज्ञसूत्र या काठक कल्प हो गया हो। परन्तु कठ का यदि कोई यज्ञसूत्र था, तो लौगाक्षी का सूत्र उस से पृथक् रहा होगा। पुनः बहु समानता के कारण ये दोनों सूत्र परस्पर मिलकर एक हो गए होंगे। इस पर विचार- विशेष कल्प-सूत्र भाग में करेंगे। वैखानसों की आनन्द-संहिता में काठकसूत्र से लौगाक्षिसूत्र सर्वथा पृथक् गिना गया है। अतः इन दोनों सूत्रों के विभिन्न होने की बड़ी संभावना है। पाणिनीय सूत्र ४. ३. १०६ के गण में काठशाठिनः या काठशाडिनः प्रयोग मिलता है। तथा ६-२-३७ के गणान्तर्गत **कठकालापाः** और **कठकौथुमाः** प्रयोग मिलते हैं। इन स्थलों में कठों के साथ स्मृत आचार्यों का गहरा संबंध होगा। पाणिनीय सूत्र ७-४-३ पर हरदत्त अपनी पदमंजरी में लिखता है-वह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा। हमें इस बात की सत्यता में संदेह है।

माहेश्वर—भास्कर अपने वेदान्त भाष्य पृष्ठ १२७ पर लिखता है—**माहेश्वराश्चत्वारः पाशुपताः, शैवाः, कापालिकाः, काठकसिद्धांतिनश्चेति।** काश्मीर का शैव मत काठक सिद्धान्तियों का है।

कठ वाङ्मय

काठक संहिता अध्यापक श्रोडर की कृपा से मुद्रित हो चुकी है। कठ ब्राह्मण के कुछ अंश डा० कालेण्ड ने मुद्रित किए थे। अब वे और अन्य नूतनोपलब्ध अंश हमारे मित्र अध्यापक सूर्यकान्त जी लाहौर में मुद्रित कर रहे हैं।[1] कठों की एक पद्धति मैंने लाहौर से प्राप्त की थी। उसमें कठ ब्राह्मण के अनेक ऐसे प्रमाण मिले हैं, जो अन्यत्र नहीं मिले थे। इस ब्राह्मण का नाम शताध्ययन ब्राह्मण भी था। न्यायमंजरीकार भट्ट जयन्त ऐसा ही लिखता है।[2] कठ-गृह्य के देवपाल भाष्य (पृ० २५१) में यह नाम मिलता

१. देखें काठक-संकलनम्।

२. न्यायमंजरी, विजयनगर ग्रन्थमाला, पृ० २५८।

है। काठक-यज्ञ-सूत्र अभी तक अनुपलब्ध है। हां, इसका गृह्य-भाग मुद्रित हो चुका है। लौगाक्षि-धर्म-सूत्र का एक प्रमाण गौतमधर्मसूत्र १०।४२ के मस्करी भाष्य में उद्धृत है।

कुछ चरणव्यूहों में लिखा है — **तत्र कठानान्तुपगा यजुर्विशेषाः चतुश्चत्वारिंशदुपग्रन्थाः।**

अन्य चरणव्यूहों में इसके स्थान में निम्नलिखित पाठ है—**तत्र कठनान्तु बुकाध्ययनादिविशेषः। चत्वारिंशदुपग्रन्थाः। तन्नास्ति यन्न काठके।** अर्थात्—काठकों के चालीस उपग्रन्थ हैं। बुकाध्ययन कदाचित् शताध्ययन हो। जो काठक में नहीं, वह कहीं नहीं।

कठ आरण्यक या कठ-प्रवर्ग्यब्राह्मण का त्रुटित पाठ श्रौडर ने मुद्रित किया था। कठ उपनिषद् तो प्रसिद्ध ही है। एक कठश्रुत्युपनिषद् भी मुद्रित हो चुकी है। कठों से सम्बन्ध रखने वाली एक लौगाक्षिस्मृति है। इस का पाठ ४००० श्लोक के लगभग है। इसका हस्तलेख हमारे मित्र श्री पं० राम अनन्तकृष्ण शास्त्री ने हमें दिया था। वह अब दयानन्द कालेज के पुस्तकालय होशियारपुर में सुरक्षित है।

गोत्रप्रवरमंजरी नामक ग्रन्थ में पुरुषोत्तम पंडित लौगाक्षि प्रवर-सूत्र के अनेक लम्बे पाठ उद्धृत करता है। वह लौगाक्षिसूत्र कात्यायन-प्रवर-सूत्र से बहुत मिलता जुलता है। वाजसनेयों के साथ भी कई कठों का सम्बन्ध बताया जाता है। वह सम्बन्ध कैसा था, यह अन्वेषणीय है।

विष्णु स्मृति भी कठशाखीय लोगों का ग्रन्थ है। वाचस्पति अपने श्राद्धकल्प या पितृभक्ति-तरंगिणी में लिखता है—**यत्त्वग्निं परिस्तीर्य पौष्णं श्रपयित्वा पूषा गा इति विष्णुस्मृतावुक्तं तत्कठ-शाखिपरं तस्य तत्सूत्रकारत्वात्।**[1] अर्थात्—विष्णुस्मृति कठशाखा सम्बन्धी है।

१०. कालाप शाखा—वैशंपायन का तीसरा उत्तरदेशीय शिष्य कलापी था। इसी का उल्लेख अष्टाध्यायी ४।३।१०४, १०८ में मिलता है। महाभारत सभापर्व ४।२४ के अनुसार युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश समय एक कालाप भी वहां उपस्थित था। कलापी की संहिता कालाप कहाती है, और उसके शिष्य भी कालाप कहाते हैं।

कालापग्राम—नन्दलाल दे के भौगोलिक कोशानुसार कलाप ग्राम बदरिकाश्रम के समीप ही था। सम्भव है कि कलापी का वास-स्थान होने से इसका नाम कलापग्राम हो गया हो। वायुपुराण ४१।४३ में इसकी स्थिति का वर्णन है।

कलापी के चार शिष्य—अष्टाध्यायी ४।६।१०४ पर काशिका-वृत्ति में किसी प्राचीन ग्रन्थ का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है—

हरिद्रुरेषां प्रथमस्ततश्छगलितुम्बुरू। उलपेन चतुर्थेन कालापकमिहोच्यते॥

अर्थात्—चार कालाप हैं। पहला हरिद्रु, दूसरा छगली, तीसरा तुम्बुरु और चौथा उलप।

मैत्रायण और कालापी—चरणव्यूहों के एक पाठानुसार मानव, वाराह, दुन्दुभ, छागलेय हारिद्रवीय और श्यामायनीय मैत्रायणीयों के छः भेद हैं। दूसरे पाठानुसार मानव, दुन्दुभ, ऐकेय, वाराह, हारिद्रवीय, श्याम और श्यामायनीय सात भेद हैं। इनमें से हरिद्रु नाम दोनों पाठों में समान है। प्रथम पाठ में छगली भी एक नाम है। हरिद्रु और छगली कलापि-शिष्य हैं। निरुक्त १०।५ पर भाष्य करते हुए आचार्य दुर्ग लिखता है—**हारिद्रवो नाम मैत्रायणीयानां शाखाभेदः।** इससे कई लोग अनुमान करते हैं

---

१. काणे के धर्मशास्त्रेतिहास में उद्धृत, पृ० vi।

कि मैत्रायण और कलापी कदाचित् समान व्यक्ति हों।

व्याकरण महाभाष्य में लिखा है कि कठ और कालाप संहिताएं ग्राम, ग्राम में पढ़ी जाती हैं। वस्तुतः ये दोनों संहिताएं बहुत समान होंगी। मुद्रित काठक और मैत्रायणीय संहिताएं बहुत मिलती जुलती हैं। आचार्य विश्वरूप याज्ञवल्क्यस्मृति १।७ पर अपनी बालक्रीडा टीका में लिखता है—**न हि मैत्रायणीशाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा**। अर्थात्—मैत्रायणी शाखा काठक से बहुत भिन्न नहीं है। आचार्य विश्वरूप ने यह पंक्ति सम्भवतः महाभाष्य के निम्न वचन के आधार पर लिखी होगी— **अनुवदते कठः कलापस्य** ।

चान्द्रव्याकरण १।४।९४ में **'कलापस्य'** के स्थान पर **'कालापस्य'** पाठ है, वह चिन्त्य है।

इन बातों से एक अनुमान हो सकता है कि मैत्रायणी और कालाप एक ही संहिता के दो नाम हैं। इसका उपोद्वलक दिव्यावदान में निम्न वचन उपलब्ध होता है — **किं चरणः। आह—कलाप-मैत्रायणीयः। पृष्ठ ६३७**

दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि मैत्रायणी और कालाप दो संहिताएं थीं, और परस्पर बहुत मिलती थीं। यदि मैत्रायणी और कालाप दो भिन्न २ संहिताएं थीं, तो सम्प्रति कालाप संहिता और ब्राह्मण का हमें ज्ञान नहीं है, अस्तु। हरिद्रु आदि जो चार कालापक अभी कहे गये हैं, उन का वर्णन आगे किया जाता है।

११. हारिद्रवीय शाखा—हरिद्रु के कुल, जन्म, स्थान आदि के विषय में हम कुछ नहीं जान सके। इस शाखा का ब्राह्मण ग्रन्थ तो अवश्य विद्यमान था। सायणकृत ऋग्वेदभाष्य ५।४०।८ और निरुक्त १०।५ में वह उद्धृत है। हारिद्रवीय गृह्य का महापाठ कौषीतकि गृह्यसूत्र १।२०।६ के भवत्रात विवरण में उद्धृत है।

वायुपुराण ६१।६६ तथा ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग, ३५।७५ में अध्वर्यु—छन्द-संख्या गिनते समय लिखा है—**तथा हारिद्रवीयणां खिलान्युपखिलानि तु**। अर्थात्—हारिद्रविक शाखा वालों के खिल और उपखिल भी हैं।

प्रतीत होता है कि हारिद्रविकों की पूर्ण गणना के श्लोक इन दोनों पुराणों में से लुप्त हो गये। कई ग्रन्थों में हारिद्रविकों के पांच अवान्तर भेद कहे गये हैं। यथा—**हारिद्रव, आसुरि, गार्ग्य, शार्कराक्ष और अग्रावसीय**। इनमें से हारिद्रव तो वर्णन किये गए हैं, शेष चार कदाचित् खिल और उपखिल ही हों।

१२. छागलेय शाखा—छगली ऋषि के शिष्य छागलेय कहलाते हैं। अष्टाध्यायी ४।३।१०९ के अनुसार उन्हें छागलेयी भी कहते हैं। शाकटायन व्याकरण लघुवृत्ति पृष्ठ २८४ के अनुसार—**छागल आत्रेयः। छागलिरन्यः** विचारणीय है।

अब चरणव्यूहों में चरकों के जो बारह भेद कहे गए हैं, वे आगे लिखे जाते हैं। इनमें से चरकों और कठों का वर्णन पहले हो चुका है, अतः शेष दस भेद ही लिखेंगे।

१५. आह्वरक शाखा—आह्वरकों के संहिता और ब्राह्मण दोनों ही विद्यमान थे। ब्राह्मण सम्बन्धी उल्लेख जहां-जहां मिलता है, वह यथास्थान लिखा जायेगा। आह्वरक शाखा का एक मन्त्र यादवप्रकाश पिंगलसूत्र ३।१५ की अपनी टीका में उद्धृत करता है। पृ० १९९ पर संख्या ५ के अन्दर वह मन्त्र लिखा जा चुका है।

आह्वरकों का उल्लेख— १. निरुक्त की दुर्ग वृत्ति (३।२१) में लिखा है—उक्तं चाह्वरकाणाम्—ब्राह्मणस्पत्याभिरग्निमुपतिष्ठेत ।

२. धर्मकीर्ति-प्रणीत प्रमाणवार्तिक की कर्णिक गोमी कृत टीका पृष्ठ ५९६ पर लिखा है—**इदानीमपि कानिचिद् आह्वरकप्रभृतीनि शाखान्तराणि त्रिरलाध्येतृकाणि ।**

३. सरस्वती कण्ठाभरण १।४।१८९ पर लिखा है– **अपहर्तार आह्वरकाः श्राद्धे सिद्धमन्नम् ।** यही उदाहरण कुछ भेद से काशिका वृत्ति ३।२।१३५ में है ।

१६. प्राच्यकठ शाखा–इस शाखा का अब नाममात्र ही शेष रह गया है । किसी प्राच्य देश में रहने वाला उत्तरीयकठ का कोई शिष्य ही इस शाखा का प्रवचनकर्ता होगा । अष्टाध्यायी ४।३।१०४ पर व्याकरण महाभाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है । उस पर पतंजलि लिखता है कि **कठान्तेवासी खाडायन** था । इस खाडायन का प्राच्य आदि कठों में से किससे सम्बन्ध था, यह जानना चाहिए ।

१७. कपिष्ठल कठ शाखा–जिस प्रकार प्राच्यकठ देशविशेष की दृष्टि से प्राच्य कहाते हैं, क्या वैसे ही कपिष्ठल कठ भी देशविशेष की दृष्टि से कपिष्ठल कहाते हैं, यह विचारणीय है । पाणिनीय गण २।४।६९ और पाणिनीय सूत्र ८।३।९१ में गोत्रवाची कपिष्ठल शब्द विद्यमान है । इस शाखा की संहिता आठ अष्टकों और ६४ अध्यायों में विभक्त थी । सम्प्रति प्रथमाष्टक, चतुर्थाष्टक, पंचमाष्टक और षष्ठाष्टक ही मिलते हैं । इनमें से भी कई स्थानों का पाठ त्रुटित हो गया है । यह हस्तलेख काशी में सुरक्षित है । सन् १९३२ के अन्त में यह संहिता लाहौर में मुद्रित हो गई है । इसका मुद्रण मेरी प्रति से हुआ है । यह प्रति भी बनारस के ही हस्तलेख की नकल है और अब दयानन्द कालेज के पुस्तकालय, होशियारपुर, में है ।

कपिष्ठल कठ गृह्य का एक हस्तलेख मैंने ७ अगस्त सन् १९२८ को सरस्वती भवन काशी के पुस्तकालय में देखा था । उसका बहुत सा पाठ त्रुटित है ।

कपिष्ठल कठों का कोई अन्य ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया ।

१८. चारायणी शाखा– चर ऋषि का गोत्रापत्य चारायण है । चर का नाम पाणिनीय गण ४।१।९९ में स्मरण किया गया है ।

चरण—चारायणीयों का स्वतन्त्र प्रातिशाख्य होने से यह एक चरण है । पाकयज्ञविवृत्ति में ऐसा लिखा भी है ।[1]

दवपाल के गृह्यभाष्य में कहीं चारायणीय गृह्य और कहीं काठक गृह्य नाम का प्रयोग मिलता है । सम्भव है कि स्वल्प भेद वाले दो गृह्यों को तत् तत् शाखा वाले एक ही भाष्य के साथ पढ़ते हों, और उन्हीं के कारण हस्तलेखों में ये दो नाम आ गये हों । चारायणीय एक शाखा विशेष थी और उसका एक स्वतंत्र गृह्य होना उचित ही है ।

चारायणगृह्य परिशिष्ट हेमाद्रि कृत **कालनिर्णय**, पृष्ठ ३७०, पर उद्धृत है ।

चारायणीयों का एक मन्त्रार्षाध्याय अब भी मिलता है । उसका एक हस्तलेख दयानन्द कालेज लाहौर में और दूसरा बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में है । अध्यापक हैल्मथ फान ग्लैसनप ने बर्लिन के हस्तलेख के पाठान्तर, लाहौर की मुद्रित प्रति पर करा कर मुझे भेजे थे । ये पाठान्तर उनके शिष्य

---

१. **लौगाक्षिगृह्य**, काश्मीर संस्करण, भूमिका पृष्ठ २ ।

दिये हैं। शोक से कहना पड़ता है कि यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सका।[1]

१. चारायणीय संहिता का विभाग अनुवाकों और स्थानकों में था। इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही लिखा है—**गोषदसि इत्यनुवाकद्वयं सवितुश्यावाश्वस्य** । तथा ४० खण्ड के साथ स्थालिखा है, यदि काठक संहिता को देखकर यह नहीं लिखा गया, तो अवश्य ही चारायणीय संहिता भी स्थानकों में विभक्त थी।

२. चारायणीय संहिता में **याज्यानुवाक्या ऋचाएं** चालीसवें स्थानक के अन्त में एकत्र पढ़ी गई थीं। काठक संहिता में ये यत्र-तत्र बहुत स्थानों में पाई जाती हैं।

३. चारायणीय संहिता में कहीं तो काठक संहिता का क्रम था और कहीं मैत्रायणीय संहिता का।

४. चारायणी संहिता के कई पाठ काठक में नहीं हैं और कई मैत्रायणी में नहीं है।

५. चारायणीय संहिता के अन्त में अश्वमेधादि का पाठ था। मन्त्रार्षाध्याय के अन्त में लिखा है—

प्राजापति मुखात् पूर्वमार्षं छन्दश्च दैवतम्। योगः प्राप्तोत्रिमुनिना बोधो लौगाक्षिणा ततः॥

अर्थात्—ऋषि, छन्द और देवता अत्रि मुनि ने प्रजापति से प्राप्त किए और तदनन्तर लौगाक्षि को उनका ज्ञान हुआ।

प्रातिशाख्य—काठक गृह्य ५।१ के भाष्य में देवपाल किसी चारायणीय सूत्र का एक प्रमाण देता है। वह प्रातिशाख्य-पाठ प्रतीत होता है।

एक चारायण आचार्य कामसूत्र १।१।१२ में स्मरण किया गया है। वह कामसूत्र रचयिता वात्स्यायन से पूर्व और दत्तक के पश्चात् हुआ होगा। दीर्घचारायण नाम के एक ब्राह्मण की वार्ता कौटल्य अर्थशास्त्र प्रकरण ९३ में मिलती है। पं० गणपति की टीका के अनुसार यह विद्वान् कौटल्य से पुरातन किसी मगध राज्य का आचार्य था।[2]

एक चारायणीय शिक्षा भी कश्मीर से प्राप्त हुई थी। उसका उल्लेख इण्डियन एण्टीक्वेरी जुलाई सन् १८७६ में अध्यापक कीलहार्न ने किया है।

व्याकरण महाभाष्य १।१।७३ में **कम्बलचारायणीयाः** प्रयोग मिलता है।

१९. वारायणीय शाखा—वारायणीय नाम यद्यपि दो प्रकार के चरणव्यूहों में पाया जाता है, तथापि इसके अस्तित्व में हमें सन्देह है। कदाचित् चारायणीय से ही यह नाम बन गया हो।

२०. वार्तन्तवीय शाखा—शाखाकार वरतन्तु का उल्लेख पाणिनीय सूत्र ४।३।१०२ में मिलता है। कालिदास अपने रघुवंश ५।१ में एक कौत्स के गुरु वरतन्तु का नाम लिखता है। इनके किसी ग्रन्थादि का हमें अभी तक पता नहीं लग सका।

---

१. हमने सन् १९३४ में दयानन्द कालेज का स्थान छोड़ दिया। उस समय हम इस ग्रन्थ को छपवा चुके थे। तत्पश्चात् पं० विश्वबन्धु जी ने उसी अवस्था में प्रकाशित कर दिया, पर हमारा नाम उस पर नहीं छपवाया।

२. एक दीर्घ कारायण महाराज प्रसेनजित् कौसल का मन्त्री था। मज्झिम निकाय २।४।९, पृष्ठ ३६४

वीरमित्र के श्राद्धप्रकाश, पृष्ठ १२९ पर निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य हैं — **प्राणायामपूर्वकं सत्यान्तं कृत्वा गायत्रीं सप्रणवां सव्याहृतिकां पठेत्—इति वरतन्तुस्मरणात्** । सम्भवतः यह वरतन्तु के धर्म-सूत्र का पाठ है ।

२१. **श्वेताश्वतर शाखा**—श्वेताश्वतर के ब्राह्मण का एक प्रमाण बालक्रीडा टीका, भाग १, पृ० ८, पर उद्धृत है । श्वेताश्वतरों की मन्त्रोपनिषद् प्रसिद्ध ही है । इस मन्त्रोपनिषद् के अतिरिक्त इस शाखा वालों की एक दूसरी मन्त्रोपनिषद् भी थी । उसका एक मन्त्र **अस्यवामीय सूक्त** भाष्यकार आत्मानन्द १६वें मन्त्र के भाष्य में उद्धृत करता है । वह मन्त्र उपलब्ध उपनिषद् में नहीं मिलता ।

२२-२३. **औपमन्यव और पाताण्डनीय शाखाएं**—औपमन्यव एक निरुक्तकार था । उसका उल्लेख यथास्थान होगा । औपमन्यव शाखा के किसी ग्रन्थ का भी हमें ज्ञान नहीं है । ब्रह्माण्ड पुराण मध्यम भाग ८।९७, ९८, में कुणि नामक इन्द्रप्रमति के कुल का वर्णन है । वहां लिखा है कि वसु का पुत्र उपमन्यु और उसके पुत्र औपमन्यव थे । असली पाताण्डनीय शाखा का भी कुछ पता नहीं लग सका ।

औपमन्यव श्रौत सूत्र का उल्लेख आगे करेंगे ।

२४. **मैत्रायणीय शाखा**—इस शाखा का प्रवचन-कर्ता मैत्रायणी ऋषि होगा । उत्तर पांचाल कुलों में दिवोदास नाम का एक राजा था । उसका पुत्र ब्रह्मर्षि महाराज मित्रयु और उसका पुत्र मैत्रायण था । हरिवंश ३२।७६ में इसी मैत्रायण के वंशज मैत्रेय कहे गये हैं । ये मैत्रेय भार्गव पक्ष में मिश्रित हो गये थे । मैत्रायणी ऋषि इनसे भिन्न कुल का प्रतीत होता है । इसी मैत्रायणी आचार्य के शिष्य प्रशिष्य मैत्रायणीय कहाये ।

संहिता विभाग—मुद्रित मैत्रायणीय संहिता काण्ड और अनुवाकों में विभक्त है । हेमाद्रि, श्राद्धकल्प, परिभाषा प्रकरण, पृष्ठ १०७६, पर अनुवाक विभाग का उल्लेख करता है । मैत्रायणीय संहिता मुद्रित हो चुकी है । शार्मण्यदेशीय अध्यापक श्रोडर को इसके सम्पादन का श्रेय है । इस शाखा का ब्राह्मण था या नहीं, इसका विवेचन यथास्थान करेंगे ।

मैत्रायणीय और तत्सम्बन्धी आचार्यों का ज्ञान **मानवगृह्यपरिशिष्ट** के तर्पण प्रकरण से सुविदित होता है, अतः वह आगे उद्धृत किया जाता है—प्राचीनावीति ।

> **सुमन्तुजैमिनिपैलवैशंपायनाः सशिष्याः । भृगुच्यवनाप्नवानौरवजामदग्नयः सशिष्याः ।**
> **आंगिरसाम्बरीषयौवनाश्वहरिद्रु छागलिलंवय (?) तुम्बुरु औलपायनाः सशिष्याः ।**
> **मानववराहदुंदुभिकपिलबादरायणाः सशिष्याः । मनुपराशरयाज्ञवल्क्यगौतमाः सशिष्याः ।**
> **मैत्रायण्यासुरीगार्गिशाक्वर ऋषयः सशिष्याः । आपस्तम्बकात्यायनहारीतनारदवैजंपायनाः सशिष्याः ।**
> **शालंकायनांतकर्मन्तकायिनाः (?) सशिष्याः ।**[1]

इस दूसरे अर्थात् अन्तिम खण्ड के पाठ में तीन नामों के अतिरिक्त शेष सब नाम स्पष्ट हैं । यहां हरिद्रु आदि एक गण में, मानव, वराह आदि दूसरे गण में और मैत्रायणी, आसुरी आदि एक पृथक् गण में पढ़े गये हैं ।

एक मैत्रायणी वाराहगृह्य ९।१ में स्मरण किया गया है ।

---

१. मेरा हस्तलेख, **मानवगृह्यपरिशिष्ट** पंचमहायज्ञविधानम्, पत्र २ ख।

माध्यन्दिन, काण्व, काठक और चारायणीय संहिताओं के समान मैत्रायणी संहिता में भी चालीस अध्याय हैं। सम्प्रति मैत्रायणी संहिता खानदेश, नासिकक्षेत्र और मोर्वी आदि देशों में पढ़ी जाती है। इस शाखा के कल्प अनेक हैं। उनमें से कई एक गृह्य के हस्तलेखों के अन्त में मैत्रायणीगृह्य और कई एक के अन्त में मानवगृह्य लिखा मिलता है। हमारा अनुमान है कि इन दोनों सूत्रों की अत्यन्त समानता के कारण, आधुनिक पाठक इन्हें एक ही गृह्य मानने लग पड़े हैं। नासिक में हमने यज्ञेश्वर दाजी के घर में मैत्रायणी संहिता का एक कोश देखा था। उस के अन्त में लिखा था — **इति मैत्रायणी-मानव-वाराहसंहिता समाप्ता।**

इससे प्रतीत होता है कि इन तीनों शाखाओं के पृथक्-पृथक् गृह्य थे। यदि मैत्रायणी और मानवगृह्य एक ही होते, तो मैत्रायणीश्रौत और मानवश्रौत भी एक ही होते। बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। हेमाद्रि आदि में उद्धृत मैत्रायणीश्रौत वा उसके परिशिष्टों के पाठ वाराहश्रौत और उसके परिशिष्टों के पाठ से अधिक मिलते हैं। मैत्रायणी, मानव और वाराहों की यह समस्या इन ग्रन्थों के भावी सम्पादकों को सुलझानी चाहिए।

स्मरण रखना चाहिए कि इन तीनों शाखाओं के शुल्वसूत्रों में शाखा-भेदक पर्याप्त विभिन्नता है। महाशय विभूति भूषण दत्त के अनुसार मैत्रायणी में चार, मानव में सात और वाराह में तीन ही खण्ड हैं।[1] परन्तु मैत्रायणी और मानव के दत्त निर्दिष्ट खण्ड विभाग में हमें अभी सन्देह है।

अब मैत्रायणीयों के अवान्तर भेदों का कथन किया जाता है।

२५. मानव शाखा—यह सौत्र शाखा ही है। इसके श्रौत का अधिकांश भाग मुद्रित हो चुका है। गृह्य भी कई स्थानों पर छप चुका है। मानवों के श्रौत और गृह्य के अनेक परिशिष्ट हैं। उनके हस्तलेख इस शाखा के पढ़ने वाले कई गृहस्थों के पास मिलते हैं। प्रसिद्ध पुस्तकालयों में भी यत्र-तत्र मानवों के कुछ ग्रन्थ पाये जाते हैं। मेरे पास भी कुछ एक ग्रन्थ हैं। मानव परिशिष्टों का संस्करण अत्यन्त उपादेय होगा।

२६. वाराह शाखा—वराह ऋषि महाराज युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश समय उनके राज दरबार में उपस्थित था। इसका श्रौत मेहरचन्द लक्ष्मणदास संस्कृत पुस्तक-विक्रेता लाहौर द्वारा मुद्रित हो गया है। उसका पाठ कई स्थलों पर त्रुटित है। यत्न करने पर इसके पूर्ण हस्तलेख नन्दुर्बार[1] आदि से अब भी मिल सकेंगे। वाराह श्रौत के परिशिष्ट भी मुद्रित होने योग्य हैं। इनका विस्तृत वर्णन कल्पसूत्रों के भाग में करेंगे। वाराह गृह्य भी पंजाब यूनिवर्सिटी की ओर से मुद्रित हो चुका है। इस संस्करण के लिए जो दो हस्तलेख काम में लाये गये हैं, वे नासिक क्षेत्र वासी श्री रामचन्द्र पौराणिक ने हमें दिये थे। उस ब्राह्मण का घर गोदावरी-तट पर बड़े पुल के पास है। कभी वह नदी में स्नान कर रहा था, जब एक वृद्धा ने पुस्तकों का एक बण्डल नदी में डाल दिया। ब्राह्मण ने उसे निकाल लिया और अन्य हस्तलेखों के साथ वाराहगृह्य के भी दो हस्तलेख सम्भाल लिए। उन्हीं हस्तलेखों के आधार पर यह संस्करण मुद्रित हुआ है। मैं यहां पर उनका धन्यवाद करना अपना कर्तव्य समझता हूं।

यहां पर यह और लिखना अरुचिकर न होगा कि इसी ब्राह्मण के ज्येष्ठ भ्राता से मैंने

---

1. The Science of the Śulba, Calcutta, 1932, p. 6
१. यह स्थान खानदेश में है।

मैत्रायणी संहिता का सस्वर पाठ सुना है। और संहिताओं के पाठ से इसमें कुछ भिन्नता है। यह संहिता-पाठी ब्राह्मण इस समय बैलगाड़ी चला कर अपनी आजीविका करता है। काल की गति का क्या कहना।

रत्नशास्त्र—व्यास और अगस्त्य के समान वराह मुनि किसी रत्नशास्त्र का रचयिता भी था।[१]

२६. दुन्दुभ शाखा—इस शाखा का तो अब नाम मात्र ही अवशिष्ट है।

२७. ऐकेय शाखा—कई चरणव्यूहों में मानवों का एक भेद ऐकेयों का कहा गया है। एक ऐकेय आचार्य का मत अनुग्राहिक सूत्र[२] खण्ड १६ में दिया गया है।

२८. तैत्तिरीय शाखा—वैशंपायन के शिष्यों अथवा प्रशिष्यों में से एक तित्तिरि था। महाभारत के प्रमाण से पृ० २२२ पर यह लिखा जा चुका है कि एक तित्तिरि वैशंपायन का ज्येष्ठ भ्राता था। ४।३।१०२ सूत्र में पाणिनि का कथन है कि तित्तिरि से छन्द पढ़ने वाले अथवा तितिरि का प्रवचन पढ़ने वाले तैत्तिरीय कहाते हैं। युधिष्ठिर की सभा के प्रवेश-समय तित्तिरि भी अलंकृत कर रहा था। यही तित्तिरि वेदवेदांग पारग और शाखा प्रवचन-कर्ता था। यादवों का जो सात्वत् विभाग था, उसमें कपोतरोम का पुत्र तैत्तिरि, तैत्तिरि का पुत्र पुनर्वसु, और पुनर्वसु का पुत्र अभिजित् कहा गया है। हरिवंश अध्याय ३७, श्लोक १७-१६ में यह वार्ता कही गई है।[३] आयुर्वेद की चरक संहिता के आरम्भ में पुनर्वसु (श्लोक ३०) और अभिजित् (श्लो० १०) के नाम मिलते हैं। यह चरक संहिता है भी वैशंपायन अथवा उसके शिष्यों में से किसी की प्रति संस्कृत की हुई। आधुनिक पाश्चात्य अध्यापकों का विचार कि यह आयुर्वेद-ग्रन्थ कनिष्क के काल में बनाया गया, सर्वथा भ्रान्त है। कनिष्क के काल में चरक शाखा का पढ़ने वाला कोई चरक विद्वान् होगा, परन्तु आयुर्वेदीय चरक संहिता बहुत पहले बन चुकी थी। इस पर विस्तृत विचार आगे करेंगे।

तित्तिरि वा तैत्तिरि के सम्बन्ध में अधिक जानने की अभी बड़ी आवश्यकता है।

तित्तिरि-प्रोक्त तैत्तिरीय संहिता में ७ काण्ड हैं। इस विभाग के विषय में प्रपंचहृदयकार का लेख देखने योग्य है—

तथा यजुर्वेदे तैत्तिरीयशाखा मन्त्रब्राह्मणमिश्रा। सा द्विविधा संहिताशाखाभेदेन। तत्र संहिता चतुष्पादा सप्तकाण्डा चतुश्चत्वारिंशत्प्रश्ना च। तत्र प्रथमकाण्डेऽष्टौप्रश्नाः। द्वितीयसप्तमौ पंच पंच। तृतीय चतुर्थौ सप्त सप्त। पंचमषष्ठौ षडेकैकौ (?) तस्मादेकादशैकादश प्रश्नाश्चत्वारः पादाः।

अर्थात्—संहिता के सात काण्डों के चार पाद हैं। प्रथम काण्ड में आठ प्रश्न, दूसरे सातवें में पांच-पांच, तीसरे चौथे में सात सात और पांचवें छठे में छः छः प्रश्न हैं। कुल प्रश्न—८+५+७+७+६+६+५=४४ हैं। इसलिए ग्यारह-ग्यारह प्रश्नों के चार पाद हैं।

तैत्तिरीय संहिता के सात काण्डों में जो विषय विभाग है, वह काण्डानुक्रमणिका में भले प्रकार लिखा गया है। लौगाक्षिस्मृति में इसी विभाग की विस्तृत व्याख्या मिलती है। वहां प्रपाठक और अनुवाकानुसार सारा वर्णन किया गया है। उस वर्णन के कतिपय श्लोक यहां उद्धृत किए जाते हैं—

---

१. देखें, मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित, सन् १९५१, चण्डेश्वर कृत रत्नदीपिका, पृ० १।

२. मानवसूत्र परिशिष्ट, मेरा हस्तलेख, पत्र ६ ख।

३. तुलना करें, मत्स्य पुराण ४४।६२।६६॥

तानि काण्डानि वेदस्य प्रवदामि च सुस्फुटम् । पौरोडाशो याजमानं हौतारो हौत्रमेव च ॥१॥
पितृमेधश्च कथितो ब्राह्मणेन च तत्परम् । तथैवानुब्राह्मणेन प्राजापत्यानि चोचिरे ॥२॥
तत्काण्डौघविशेषज्ञा वसिष्ठाद्या महर्षयः । तद्विशेषप्रकाशार्थं सम्यगेतद् विविच्यते ॥३॥
पौरोडाशा इषेत्याद्या अनुवाकास्त्रयोदश । तद्ब्राह्मणं तृतीयस्यां प्रत्युष्टं पाठकद्वयम् ॥४॥
एवं चतुश्चत्वारिंशं काण्डानां तैत्तिरीयके । महाशाखाविशेषस्मिन्[1] कथिता ब्रह्मवादिभिः ॥५॥[2]

इन श्लोकों से एक बात स्पष्ट है कि वसिष्ठादि महर्षि और ब्रह्मवादी लोग इस काण्डादि विभाग के विशेषज्ञ थे । क्या सम्भव हो सकता है कि उन्होंने ही ये काण्डादि बनाए हों । तथा तैत्तिरीय एक महाशाखा या चरण है ।

तैत्तिरीय और कठों का सम्बन्ध—तैत्तिरीय और कठों का आरम्भ से ही गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है । काण्डानुक्रमणी में कहा है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय काठक कहाते हैं । तित्तिरि का प्रवचन उनसे पहले समाप्त हो जाता है । लौगाक्षिस्मृति का कठों से सम्बन्ध है, परन्तु उसमें भी तैत्तिरियों के काण्डविभाग का विस्तृत वर्णन बताता है कि इन दोनों चरणों का आदि से ही सम्बन्ध-विशेष हो गया था ।

तैत्तिरीयों के दो भेद हैं । अब उनका वर्णन किया जाता है ।

२९. औखेय शाखा—चरणव्यूह में लिखा है – तत्र तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति । औखेयाः खाण्डिकेयाश्चेति । अर्थात्–औखेय और खाण्डिकेय नाम के तैत्तिरीयों के दो भेद हैं ।

काण्डानुक्रमणी के अनुसार तित्तिरि का शिष्य उख था । इसी उख का प्रवचन औखेय कहाता है । पाणिनीय सूत्र ४।३।१०२ के अनुसार उख के शिष्य औखीय थे । औखीय और औखेयों में गोत्रादि का कोई भेद हमें ज्ञात नहीं है । हमें ये दोनों नाम एक ही लोगों के प्रतीत होते हैं । ऐसा ही नामभेद खाण्डिकीय या खाण्डिकेयों का है ।

उख्य संहिता के नियम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १०।२० तथा १६।२३ में उपलब्ध होते हैं ।

औखेय और वैखानस—वैखानसश्रौतसूत्र की व्याख्या के आरम्भ में एक श्लोक है—

येन वेदार्थं विज्ञाय लोकानुग्रहकाम्यया । प्रणीतं सूत्रं औखेयं तस्मै विखनसे नमः ॥

अर्थात्—औखेयों का सूत्र विखना ने बनाया ।

आनन्दसंहिता के आठवें अध्याय में एक श्लोक है—

औखेयानां गर्भचक्रं न्यासचक्रं वनौकसाम् ।
वैखानसान् विनान्येषां तप्तचक्रं प्रकीर्तितम् ॥३॥
औखेयानां गर्भचक्रदीक्षा प्रोक्ता महात्मनाम् ॥२८॥[3]

अर्थात्—औखेयों को गर्भचक्र से प्रदीक्षा होती है । माता के गर्भ समय यज्ञ करते हुए विष्णु

---

१. तुलना करें कौहलीय शिक्षा, ४५
२. ये अंक हमने लगाए हैं । स्मृति में लगभग २७० श्लोक के पश्चात् ही हमारा पहला श्लोक आरम्भ होता है ।
३. परलोकगत डा० कालेण्ड के ग्रन्थ से उद्धृत पृ० ११ । On the Sacred Books of the Vaikhanasas, Amsterdam. 1928.

बलि के अवसर पर एक चक्र का चिन्ह चांवलों के समूह पर लगाया जाता है। उसे गर्भिणी माता खाती है। वैखानसों में भी यह क्रिया ऐसे ही की जाती है।

प्रपंचहृदय के पूर्वोद्धृत पाठ में उसकी शाखा का स्पष्ट वर्णन है। बौधायन गृह्यसूत्र ३.९.६ में ऋषितर्पण के समय उस्व स्मरण किया गया है। इस शाखा की संहिता वा ब्राह्मण थे या नहीं, और यदि थे तो कैसे, इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। चरणव्यूहों में वैखानसों का कोई उल्लेख नहीं है।

३०. **आत्रेय शाखा**—आत्रेयों का उल्लेख काण्डानुक्रणी और प्रपंचहृदय आदि में मिलता हैं। आत्रेय एक गोत्र है, और इस नाम को धारण करने वाले अनेक आचार्य हो चुके हैं। स्कन्द पुराण, नागर खण्ड, अध्याय ११५ में अनेक गोत्रों की गणना की है। वहां लिखा है— **आत्रेया दश संख्याताः शुक्लात्रेयास्तथैव च ॥१६॥ कृष्णात्रेयास्तथा पंच ॥२३॥**

अर्थात्—दश आत्रेय गोत्र वाले, दश ही शुक्ल आत्रेय गोत्र वाले, तथा पांच कृष्णात्रेय थे।

आयुर्वेद की चरक संहिता जो महाभारत काल में प्रतिसंस्कृत हुई, पुनर्वसु आत्रेय का मूल उपदेश है। हमें इसी पुनर्वसु आत्रेय का सम्बन्ध इस आत्रेयी संहिता से प्रतीत होता है। लगभग सातवीं शताब्दी का जैन आचार्य अकलंकदेव अपने राजवार्तिक के पृ० ५१ और २९४ पर अज्ञान-दृष्टि वाले वैदिक लोगों की ३७ शाखाएं गिनता हुआ वसु शाखा का भी स्मरण करता है। बहुत सम्भव है कि इस नाम से भी आत्रेय शाखा कभी प्रसिद्ध रही हो। आत्रेय शाखा वाले ही कृष्ण आत्रेय कहाते होंगे।[1] भेल संहिता[2] में पुनर्वसु को चान्द्रभाग लिखा गया है। इसका यही अभिप्राय है कि उसका आश्रम कहीं चन्द्रभागा या चनाब नदी पर था। पुनर्वसु को भेल संहिता[3] में कृष्णात्रेय भी कहा गया है। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २१२ में लिखा है – **देवर्षिचरितं गर्गो कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्** ॥३३॥ अर्थात्—कृष्ण आत्रेय ने चिकित्सा शास्त्र रचा।

इन सब स्थलों के देखने से प्रतीत होता है कि पुनर्वसु, पुनर्वसु आत्रेय और कृष्णआत्रेय एक ही व्यक्ति के नाम हैं। यह आत्रेय एक चरक था, अतः आयुर्वेद संहिता भी चरक नाम से ही पुकारी जाने लगी थी।

आत्रेय संहिता का स्वरूप—काण्डानुक्रमणी में जिस संहिता का वर्णन विशेष किया गया है, वह यद्यपि तैत्तिरीय संहिता से बहुत समानता रखती है, तथापि है वह तैत्तिरीय संहिता नहीं। वह वर्णन तो आत्रेयी संहिता का ही है। आत्रेयी संहिता में याज्या ऋचाएं एक ही स्थान पर हैं। वर्तमान तैत्तिरीय संहिता में वे पहले चार काण्डों में यत्र तत्र मिलती हैं। इस प्रकार आत्रेयी संहिता में अश्वमेघ प्रकरण भी एक ही स्थान पर है। तैत्तिरीय संहिता में ऐसा नहीं। आत्रेयी संहिता में होतृकर्म भी अन्य स्थान पर था।

आत्रेय ऋषि तैत्तिरीय संहिता का पदपाठकार भी है। बौधायन गृह्यसूत्र आदि में ऋषितर्पण के समय इसे पदकार आत्रेय के नाम से स्मरण किया जाता है।

३१. **वैखानस शाखा**—वैखानस शाखा सौत्र शाखा ही है। इसका कल्प सम्प्रति उपलब्ध है।

---

१. चरक चिकित्सा स्थान १६।१३१ पर टीका करता हुआ चक्रपाणि लिखता है—**कृष्णात्रेयः पुनर्वसोरभिन्न एवेति वृद्धाः।**

२. पृ० ३०, ३९। चरकसंहिता, सूत्र स्थान, १३।१०१ में भी ऐसा ही कथन है। ३. पृ० ४६,९८।

इसका वर्णन कल्प-सूत्र-भाग में होगा। वैखानसों का वर्णन अध्यापक कालेण्ड के ग्रन्थ में देखने योग्य है।[1]

३२. खाण्डिकीय शाखा—पाणिनीय सूत्र ४।३।१०२ में खण्डिक का स्मरण किया गया है। उसी के शिष्य खाण्डिकीय कहाते हैं। इनकी संहिता वा ब्राह्मण का हमें कुछ पता नहीं लग सका। एक खण्डिक या षण्डिक औद्भारि मैत्रायणी संहिता १।४।२२ तथा जैमिनीय ब्राह्मण २।१२२ में स्मरण किया गया है। औद्भारि विशेषण से पता लगता है कि इसके पिता का नाम उद्भार था। दूसरे किसी खण्डिक का अभी तक हमें पता नहीं लगा।

चरणव्यूहों में खाण्डिकेयों की पांच शाखाएं कही गयी हैं।

३३–३७. पांच खाण्डिकीय शाखाएं—खाण्डिकीय शाखाओं के विषय में चरणव्यूहों का पाठ दो प्रकार का है। एक पाठ में नाम हैं—**कालेता शाट्यायनी हिरण्यकेशी भारद्वाजी आपस्तम्बी।**

दूसरे पाठ में नाम हैं—**आपस्तम्बी बौधायनी सत्याषाढी हिरण्यकेशी औधेयी।**

इन दोनों पाठों में से तीन नाम हमारी समझ में नहीं आए। वे हैं—**कालेता, शाट्यायनी और औधेयी (औखेयी ?)**। आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, हिरण्यकेशी और भारद्वाज सौत्र शाखएं हैं। इनका वर्णन कल्प-सूत्र-भाग में होगा। इन सब के कल्प ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

३८. वाधूल शाखा—तैत्तिरीय संहिता से संबंध रखने वाली केरल देश प्रसिद्ध एक और भी सौत्र शाखा है। वह है वाधूल शाखा। इसका कल्प भी अब प्राप्त हो गया है।

पाणिनि गणपाठ ६.२.३७ का **कटुकवाधूलेयः** पाठ देखना चाहिए।

३९–४०. कौण्डिन्य और अग्निवेश शाखाएं—कृष्ण यजुर्वेद वालों की दो और सौत्र शाखाएं हैं। वे हैं कौण्डिन्य और अग्निवेश। इनके नाम आनन्द संहिता में मिलते हैं। वहां यजुर्वेद के पन्द्रह सूत्र-ग्रन्थ गिनाएं हैं। उनमें कौण्डिन्य और अग्नि वेश के अतिरिक्त तीन और सूत्र हैं, जो सम्प्रति लुप्त हैं। उन लुप्त सूत्रों के याजुष-सूत्र होने का हमें सन्देह है, अतः वे यहां नहीं लिखे गए। कौण्डिन्य और अग्नि वेश सूत्र से उद्धृत वचन कई ग्रन्थों में मिलते हैं। उन का उल्लेख आगे होगा। कुण्डिन को बौधायन आदि गृह्यों के तर्पण प्रकरण में तैत्तिरियों का वृत्तिकार भी कहा गया है, अतः उसके कल्प का याजुष होना बहुत सम्भव है।

कौण्डिन्य का मत अर्थशास्त्र में — सत्याषाढ सूत्र २७-४-२४ की व्याख्या में महादेवकृत उज्ज्वला में लिखा है — **अत्र कौण्डिन्येन देशस्य पथः प्रमाणमुक्तम्, पंचारत्नी रथपथश्चत्वारो हस्तिपथः द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्याणाम्।** सम्भवतः यह कौण्डिन्य धर्मसूत्र का प्रमाण है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र पटल ९, कण्डिका २४, सूत्र १३ की व्याख्या में हरदत्त लिखता है —**तत्र कौटिल्यः—पंचारत्नीरथश्चत्वारो हस्तिपथः......**

इसकी तुलना कौटल्य अर्थशास्त्र २.४.२२ के पाठ से करनी चाहिए —**पंचारत्नयो रथपथश्च-त्वारः पशुपथः।**

यहा कौटिल्य का मुद्रित पाठ ठीक है अथवा हरदत्त उद्धृत पाठ, यह चिन्त्य है। महादेव के

१. On the Sacred Books of the Vaikhānasas, Amsterdam, 1928.

पाठ में कौटिल्य का कौण्डिन्य हुआ है अथवा हरदत्त के पाठ में कौण्डिन्य का कौटिल्य बन गया है।

कौण्डिन्य श्रौत – पुरुषोत्तम कृत प्रवरमंजरी में कौण्डिन्य श्रौत स्मृत है। इसी प्रकार तन्त्र-वार्तिक १.३.११ में कौण्डिन्य कल्पसूत्र स्मृत है।

अग्निवेश कल्प का रचयिता वही आचार्य प्रतीत होता है जो आयुर्वेदीय चरक-संहिता के मूल का कर्त्ता था। वह कृष्ण-यजुर्वेदीय आत्रेय का ही शिष्य था, अतः उसका कल्प भी याजुष था। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ९.४ में यह शाखा स्मृत है।

४१. हारीत शाखा—यह भी एक सौत्र शाखा है। हारीत श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र के वचन अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। बौधायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ धर्मसूत्रों में हारीत का मत बहुधा उद्धृत किया गया है। धर्मशास्त्रेतिहास लेखक काणे के अनुसार हारीत भगवान मैत्रायणी का स्मरण करता है।[1] मानव श्राद्धकल्प और मैत्रायणी परिशिष्टों के कई वचन हारीत के वचनों से बहुत मिलते हैं। अतः अनुमान होता है कि हारीत भी कृष्ण यजुर्वेद का सूत्रकार था।

अग्निवेश का सहपाठी हारीत किसी आयुर्वेद संहिता का रचयिता था। एक कुमार हारीत का नाम बृहदारण्यक उपनिषद् ४.६.३ में मिलता है।

हारीत शाखा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १४.१८ में स्मृत है।

उपसंहार

कृष्ण यजुर्वेद की ४१ शाखाओं का वर्णन हो चुका। इन के साथ कठों की यदि ४४ उपशाखाए मिला दी जाएं, तो कुल ८५ शाखाएं बनती हैं। चाहिएं वस्तुतः ये ८६। यदि ८६ संख्या इसी प्रकार पूर्ण होनी चाहिए, तो हम कह सकते हैं कि कृष्ण यजुर्वेद का पर्याप्त वाङ्मय हमें उपलब्ध है। अस्तु, शेष ग्रन्थों के खोजने का यत्न करना चाहिए।

कृष्ण यजुर्वेद की मन्त्र संख्या—चरणव्यूहों का एक पाठ है—**अष्टादश यजुः सहस्राण्यधीत्य शाखापारो भवति**। दूसरा पाठ है—**अष्टाशत यजुसहस्राण्यधीत्य शाखापारो भवति**।

प्रथम पाठ के अनुसार यजुः संख्या १८००० है और दूसरे पाठ के अनुसार संख्या बहुत अधिक है। दूसरा पाठ वस्तुतः अशुद्ध है। शुक्ल यजुः में ऋक्संख्या १९०० है। क्या कृष्णयजुः में भी ऋक्संख्या इतनी ही होगी?

याजुष मन्त्रों का अवान्तरभेद निगद—भागवत पुराण १२.६.५२ में यजुर्गण का अभिप्राय नगद स्पष्ट है। मधुसूदन सरस्वती प्रस्थानभेद में प्रैष को निगद कहता है।

याजुष शाखाओं का वर्णन हो चुका। अब आगे साम शाखाओं का वर्णन किया जाएगा।

---

[1]. भाग १, पृ० ७१

षोडश अध्याय

सामवेद की शाखाएं

पतञ्जलि अपने व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में लिखता है — सहस्रवर्त्मा सामवेदः। अर्थात्—सहस्र शाखा युक्त सामवेद है।

१. प्रपञ्चहृदय के द्वितीय अर्थात् वेदप्रकरण में लिखा है—

तत्र सामवेदः सहस्रधा।......तत्रावशिष्टाः सामबाह्वृचयोर्द्वादश द्वादश। तत्र सामवेदस्य-तलवकार-छन्दोग-शाट्यायन-राणायनि-दुर्वासस-भागुरि-गौःतलवकारालि (गौतम-वार्कलि)-सावर्ण्य-गार्ग्य-वार्षगण्य औपमन्यवशाखाः।

अर्थात्—सामवेद की सहस्र शाखाओं में से अब बारह बची हैं। प्रपञ्चहृदय के सातवें आठवें नामों का पाठ बहुत अशुद्ध हो गया है।

२. दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रन्थ में लिखा है—

ब्राह्मण सर्व एते छन्दोगाः पक्तिरित्येका भूत्वा साशीतिसहस्रधा भिन्ना। तद्यथा—शीलवल्का अरणेमिकाः लौकाक्षाः कौथुमा ब्रह्मसमा महासमा महायाजिकाः सात्यमुग्राः समन्तवेदाः। तत्र—

शीलवल्काः पञ्चविंशतिः	[२५]	लौकाक्षाश्चत्वारिंशत्	[४०]
कौथुमानां शतं	[१००]	ब्रह्मसमानां शतं	[१००]
महासमानां पञ्चशतानि	[५००]	महायाजिकानां शतं	[१००]
सात्यमुग्राणां शतं	[१००]	समन्तवेदानां शतम्।	[१००]

इतीयं ब्राह्मण छन्दोगानां शाखाः पक्तिरित्येका भूत्वा साशीतिसहस्रधा भिन्ना। [१०६५]

अर्थात्—सामवेद की १०८० शाखाएं हैं।

दिव्यावदान में साम शाखाओं की संख्या दी तो १०८० गई है, परन्तु प्रत्येक चरण की अवान्तर शाखाओं का ब्योरा जोड़ने से साम शाखाओं की कुल संख्या १०६५ बनती है। दिव्यावदान का यह पाठ पर्याप्त भ्रष्ट हो गया है।

३. आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह में लिखा है—

तत्र सामवेदस्य शाखासहस्रमासीत्। ....तत्र केचिदवशिष्टाः प्रचरन्ति। तद्यथा–राणायनीयाः। सात्यमुग्राः। कालापाः। महाकालापाः। कौथुमाः। लाङ्गलिकाश्चेति।

कौथुमानां षड्भेदा भवन्ति। तद्यथा–सारायणीयाः। वातरायणीयाः। वैतधृताः। प्राचीनास्तेजसाः। अनिष्टकाश्चेति।

यह पाठ भी पर्याप्त भ्रष्ट है।

४. सुब्रह्मण्य शास्त्री की रची हुई गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका के नित्याह्निक प्रयोग में निम्नलिखित तेरह सामग आचार्यों का तर्पण करना लिखा है—

राणायनि[1]। सात्यमुग्रिः। व्यासः (दुर्वासा)। भागुरिः। औगूण्डिः। गौल्गुलविः[2]। भानुमानौपमन्यवाः। कराटिः। मशंको गार्ग्यः। वार्षगण्यः। कौथुमिः। शालिहोत्रिः। जैमिनिः।

इससे आगे उसी ग्रन्थ में दश प्रवचनकारों का तर्पण कहा गया है—

शटिः। भाल्लविः। काल्बविः। ताण्ड्यः। वृषाणः (वृषगणः)। शमबाहुः। रुरुकिः। अगस्त्यः। बष्कशिराः। हूहूः।

सामशाखाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन २३ आचार्यों का नाम स्मरण रखना चाहिए।

५. सायण से धन्वी पुराना है, और धन्वी से रुद्रस्कन्द पुराना है। वह रुद्रस्कन्द खादिर गृह्य ३।२।१४ की टीका में इन्हीं १३ आचार्यों और १० प्रवचनकारों की ओर संकेत करता है। यथा—तथैव राणायनादीनाचार्यान् त्रयोदश, शाट्यायनादिप्रवचनकर्तॄन् दश।

६. चरणव्यूह की टीका में महिदास भी इसी अभिप्राय के दो श्लोक लिखता है—

राणायनी सात्यमुग्रा दुर्वासा अथ भागुरिः। भारुण्डो गोर्गुजवीर्भगवानौपमन्यवः ॥१॥
दारालो गार्ग्यसावर्णी वार्षगण्यश्च ते दश। कुथुमिः शालिहोत्रश्च जैमिनिश्च त्रयोदश ॥२॥

७. जैमिनिगृह्यसूत्र के तर्पण-प्रकरण १।१४ में निम्नलिखित तेरह आचार्यों के नाम मिलते हैं—जैमिनि–तलवकारं–सात्यमुग्रं–राणायनिं–दुर्वाससं–च-भागुरिं-गौरुण्डि–गौर्गुलविं–भगवन्तमौपमन्यव–कारडिं–सावर्णि–गार्ग्यवार्षगण्यं–दैवन्त्यम् इति।

प्रपञ्चहृदय, गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका और जैमिनिगृह्य के पाठों को मिलाकर अनेक अशुद्ध हुए हुए नाम भी पर्याप्त शुद्ध किए जा सकते हैं।

८. ब्रह्मप्रोक्त याज्ञवल्क्य संहिता प्रथमाध्याय श्लोक २६ से आगे सामशाखाओं का वर्णन है। यह पुस्तक श्री मनसुखराय मोर द्वारा स्मृति सन्दर्भ के चतुर्थ भाग में सं० २०१० में प्रकाशित हुआ। उस का पाठ अधिक भ्रष्ट है, अतः लिखा नहीं गया।

अब सामाचार्य जैमिनि और साम शाखाओं का वर्णन होगा।

सामवेद प्रचारक जैमिनी

कृष्णद्वैपायन व्यास का तीसरा प्रधान शिष्य जैमिनि था। सभापर्व ४।१७ से हम जानते हैं कि युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश समय जैमिनि वहां उपस्थित था। आदिपर्व अध्याय ४८ में लिखा है–उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान कौत्सार्यजैमिनिः ।।६।। अर्थात्—महाराज जनमेजय के सर्पसत्र में कौत्स कुल वा कौत्स-गोत्र वाला वृद्ध विद्वान् ब्राह्मण आर्य जैमिनि उद्गाता का कर्म करता था।

सामसंहिताकारों के लाङ्गल-समूह में भी एक जैमिनि का नाम मिलता है। यह निर्णय करना अभी कठिन है कि वह जैमिनि कौन था। भौगोलिककोश के कर्ता नन्दलाल दे ने द्वैतवन शब्द के अन्तर्गत

---

१. राणायनो वासिष्ठ, राणिरन्यः। शाकटायन व्याकरण पृ० २८२।

२. गौरग्रीवि, गणपाठ ४।३।१३१ ॥

लिखा है कि द्वैतवन जैमिनि का जन्म स्थान था।

मीमांसाकार जैमिनि–निश्चय ही साम संहिता तथा तलवकार ब्राह्मणकार जैमिनि और मीमांसाकार जैमिनि एक थे। कीथ आदि की एतद्विषयक कल्पनाएं निराधार हैं। यथा—

The works were produced not by Bādarāyaṇa or Jaimini themselves, but by schools expressing their views.[1]

अर्थात्–जैमिनि द्वादशाध्यायी मीमांसा का कर्ता नहीं था, प्रत्युत जैमिनि के अनुयायिओं ने उसके विचारों पर यह ग्रंथ रचा।

योरोपीय लेखक अथवा उनके उच्छिष्ट भोजी ही ऐसा निराधार लेख लिख सकते हैं। गत पांच सहस्र वर्ष में किसी भारतीय विद्वान् ने ऐसा नहीं लिखा।

जैमिनि से उत्तरवर्ती परम्परा—व्यास से पढ़कर जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को सामवेद पढ़ाया। उसने अपने पुत्र सुत्वा को वही वेद पढ़ाया। सुत्वा ने अपने पुत्र सुकर्मा को उसी वेद की शिक्षा दी। सुकर्मा ने उसकी एक सहस्र संहिताएं बनाईं। उसके अनेक शिष्य उन्हें पढ़ने लगे। पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि जिस देश में ये सामग लोग पाठ करते थे, वहां कोई इन्द्र-प्रकोप हुआ, अर्थात् कोई भूकम्प आदि आया। उसमें सुकर्मा के शिष्य और उनके साथ वे शाखाएं भी नष्ट हो गयीं। तदनन्तर सुकर्मा के दो बड़े प्रतापी महाप्राज्ञ शिष्य हुए। एक का नाम था पौष्पिंजी और दूसरे का राजा हिरण्यनाभ कौसल्य। पौष्पिंजी ने ५०० संहिताएं प्रवचन कीं। उनके पढ़ने वाले उदीच्य अर्थात् उत्तरीय सामग कहाते थे। इसी प्रकार कोसल के राजा हिरण्यनाभ ने भी ५०० संहिताओं का प्रवचन किया। इनको पढ़ने वाले प्राच्य अर्थात् पूर्व दिशा में रहने वाले सामग कहाते थे।

उदीच्य सामग पौष्पिंजी की परम्परा—वायु और ब्रह्माण्ड दोनों पुराणों में साम-संहिताकारों का वर्णन अत्यन्त भ्रष्ट हो गया है। ऐसी अवस्था में अनेक सामग ऋषियों के यथार्थ नामों का जानना महादुष्कर है। हमारे पास इन दोनों पुराणों के हस्तलेख भी अधिक नहीं हैं, अतः पर्याप्त सामग्री के अभाव में अगला वर्णन पूर्ण सन्तोषदायक नहीं होगा।

पौष्पिंजी के चार संहिता-प्रवचनकर्ता शिष्य थे। उनके नाम थे, लौगाक्षी, कुथुमि, कुसीदी और लाङ्गलि। इनमें से लौगाक्षी के पांच शिष्य थे। वे थे, राणायनि, ताण्डच, अनोवेन या मूलचारी, सकैतिपुत्र और सात्यमुग्र। ब्रह्माण्ड के पाठ के अनुसार लौगाक्षि के छः शिष्य हो जाते हैं। उनमें एक सुनामा है। हमें यह नाम सुसामा का अपपाठ प्रतीत होता है।

महाभारत काल में सामग सुसामा—सभापर्व ३६.३४ के अनुसार युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में धनञ्जयों का ऋषभ सुसामा सामग का कृत्य करता था। लाट्यायन और द्राह्यायण श्रौतसूत्रों में इति धानञ्जय्यः प्रयोग बहुधा मिलता है। यह धानञ्जय महाभारत के धनञ्जयों में से ही कोई होगा। सम्भव है, यह सुसामा[2] ही हो। पुराण पाठ की अनिश्चित दशा में इससे अधिक नहीं कहा जा सकता।

कुथुमि के तीन पुत्र - पौष्पिंजी के दूसरे शिष्य कुथुमि के तीन पुत्र या शिष्य थे। नाम थे, उनके औरस, पराशर और भागवित्ति। एक चूड़ भागवित्ति बृहदारण्यक उपनिषद् ६.३.९ में स्मरण किया गया है। ये सब कौथुम थे। औरस या भागवित्ति के शिष्यों में शौरिद्यु और शृङ्गिपुत्र ने तीन संहिताएं

1. p. 472, History of Sanskrit Literature.
२. अष्टाध्यायी ८.३.९५ सुषामा।

प्रवचन कीं। उनके पढ़ने वाले थे, चैल, प्राचीनयोग और सुराल। छान्दोग्य उपनिषद् ५.१३.१ में सत्ययज्ञ पौलुषि को प्राचीनयोग्य पद से सम्बोधित किया गया है। जैमिनि ब्राह्मण २.५६ में सात्ययज्ञ = सत्ययज्ञ के पुत्र सोमशुष्म का उल्लेख है। उसे भी वहां प्राचीनयोग्य पद से सम्बोधन किया है।

पाराशर्य कौथुम ने छः संहिताओं का प्रवचन किया। उनको पढ़ते थे, आसुरायण, वैशाख्य, प्राचीनयोगपुत्र और बुद्धिमान् पतञ्जलि। शेष दो नाम अपपाठों के कारण लुप्त हो गए हैं। हमारा अनुमान है कि यही पतञ्जलि निदान सूत्र का कर्ता है। छन्दोगश्रौतप्रयोगप्रदीपिका[1] के आरम्भ में तालवृन्तनिवासी लिखता है--द्राह्यायणीय-पातञ्जल-वाररुच-माशकानुपसंगृह्य।

तालवृन्तनिवासी का अभिप्राय यदि यहां पातञ्जल निदानसूत्र से नहीं है, तो अवश्य ही कोई पातञ्जल श्रौत भी होगा।

लाङ्गलि और शालिहोत्र ने भी छः छः संहिताएं प्रवचन कीं। शालिहोत्र और कुसीदी एक ही व्यक्ति के नाम हैं या नहीं, यह विचारार्ह है। लाङ्गलि के छः शिष्य थे, भाल्लवि, कामहानि[2] जैमिनि, लोमगायानि, कण्डु और कहोल। ये छः लाङ्गल कहाते हैं।

हिरण्यनाभ कौसल्य प्राच्यसामग—सुकर्मा का दूसरा शिष्य कोसल देश का राजा हिरण्यनाभ था। इसके विषय में पूर्व पृ० २०८ पर लिखा जा चुका है। तदनुसार हिरण्यनाभ का काल अनिश्चित ही है। इसके विषय में जितने विकल्प हैं, वे पहले दिए जा चुके हैं। प्रश्न उपनिषद् ६.१ में लिखा है कि सुकेशी भारद्वाज पिप्पलाद ऋषि के पास गया। उसने पिप्पलाद से कहा कि राजपुत्र हिरण्यनाभ कौसल्य मेरे पास आया था। प्रतीत होता है कि सुकेशी भारद्वाज के पास जाने वाला हिरण्यनाभ ही पीछे से साम-संहिताकार हुआ। इस प्रमाण से यही परिणाम निकलता है कि हिरण्यनाभ कौसल्य महाभारत-काल में विद्यमान था। पुराण पाठों की अस्त-व्यस्त अवस्था में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

कृत—हिरण्यनाभ का शिष्य राजकुमार कृत था। विष्णु पुराण ४.१०.५० के अनुसार द्विजमीढ़ के कुल में सन्नतिमान का पुत्र कृत था। विष्णुपुराण के इस लेख के अनुसार कृत भी महाभारत काल से बहुत पहले हुआ था। इस लेख से भी पूर्व-प्रदर्शित ऐतिहासिक अड़चन उत्पन्न होती है, और ऐसा प्रतीत होता है कि सामवेद के प्रवक्ता जैमिनि का गुरु कोई बहुत पहला व्यास हो। परन्तु यह सब कल्पना-मात्र है।

कृत के चौबीस शिष्य—कृत के विषय में पाणिनीय सूत्र कार्त-कौजपादयश्च (६.२.६७) का गण भी ध्यान रखने योग्य है। इस कृत के सामसंहिताकार चौबीस शिष्य थे। उनके नाम वायु और ब्रह्माण्ड के अनुसार नीचे लिखे जाते हैं।

वायु	**राडः**	**राडवीयः**	**पञ्चमः**	**वाहनः**	**तलकः**	**माण्डुकः**
ब्रह्माण्ड	**राडिः**	**महवीर्यः**	,,	,,	**तालकः**	**पाण्डकः**
वायु	**कालिकः**	**राजिकः**	**गौतमः**	**अजवस्त**	**सोमराजायनः**	**पुष्टिः**
ब्रह्माण्ड	,,	,,	,,	,,	**सोमराजा**	**पृष्टघ्नः**
वायु	**परिकृष्टः**	**उलूखलकः**	**यवीयस**	**वैशालः**	**अङ्गुलीयः**	**कौशिक**
ब्रह्माण्ड	,,	,,	,,	**वैशाली**	,,	,,

१. मद्रास, राजकीय संग्रह का हस्तलेख, वैदिक ग्रन्थों का सूचीपत्र, पृ० ७६२ संख्या १०३९।
२. औदगामहानि, गणपाठ ४.२.१३८

वायु	सालिमञ्जरि	सत्यः	कापीयः	कानिकः	पराशरः
ब्रह्माण्ड	शालिमञ्जरि	पाकः	शधीयः	कानिनः	पाराशर्याः

चौबीसवां नाम दोनों पुराणों में लुप्त हो गया है। जो नाम मिलते हैं उनके पाठों में भी बहुत शोधन आवश्यक है। इससे आगे साम-शाखा वर्णन के अन्त में पुराणों में लिखा है कि साम-संहिताकारों में पौष्पिञ्जी और कृत सर्वश्रेष्ठ हैं।

एक प्रकार के चरणव्यूहों में राणायनीयों के सप्त भेद लिखे हैं—

राणायणीयाः। सात्यमुग्राः। कापोलाः। महाकापोलाः। लाङ्गलायनाः। शार्दूलाः। कौथुमाः चेति।

दूसरे प्रकार के चरणव्यूहों में राणायणीयों के नव भेद लिखे हैं

राणायणीयाः। शाठ्यायनीयाः। सात्यमुग्राः। खल्वलाः। महास्वल्वलाः। लाङ्गलाः। कौथुमाः गौतमाः। जैमिनीयाः चेति।

प्रथम प्रकार के चरणव्यूहों में कौथुमों के सप्त भेद कहे हैं—

आसुरायणाः। वातायनाः। प्राञ्जलिद्वैनभृताः। कौथुमाः। प्राचीनयोग्याः। नैगेयाः चेति।

दूसरे प्रकार के चरणव्यूहों में राणायनीयों के नव भेदों से पूर्व का पाठ है—

आसुरायणीयाः। वासुरायणीयाः। वार्तान्तरेयाः। प्राञ्जलाः। ऋग्वैनविधाः। प्राचीनयोग्याः। राणायनीयाः चेति।

दिव्यावदान पृष्ठ ६३७ पर लिखा है—

छन्दोगानां भेदः? षट्—कौथुमाः। वारायणीयाः (राणायनीयाः)। लाङ्गलाः। सौवर्चसाः। कपिञ्जलेयाः। आर्ष्टिषेणाः।

साम की अनेक शाखाओं के नाम, जो पुराण आदिकों में मिलते हैं, वर्णन हो चुके। अब इन में से जिन शाखाओं का हमें पता है, अथवा जिनका कोई ग्रंथ मिलता है, उनका वर्णन आगे किया जाता है।

सामसंहिताओं के दो भेद - गान और आर्चिक प्रत्येक सामसंहिता के गान और आर्चिक नाम के दो भेद हैं। गान के आगे चार विभाग हो जाते हैं। और आर्चिक के दो ही रहते हैं। कौथुमों की संहिता के ये विभाग उपलब्ध हैं। गानों के अन्तिम दो विभाग पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय, इस विषय में निदान सूत्र २.१ और जैमिनि सूत्र और उसका शावर भाष्य ९.२.१, २ देखने योग्य हैं।

१. कौथुमाः—ग्रामे गेयगान = वेयगान—इसमें १७ प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक के पुनः पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। इसका सम्पादन सत्यव्रत सामश्रमी ने सन् १८७४ में किया था। इससे भी एक शुद्ध संस्करण कृष्णस्वामी श्रौति का है। वह ग्रंथाक्षरों में तिरुपति से सन् १८८९ में मुद्रित हुआ था। उसका नाम है—सामवेदसंहितायां कौथुमशाखायां वेयगानम्।

अरण्ये गेयगान = आरण्यगान। दो-दो भागों वाले छः प्रपाठकों में है। इसमें चार पर्व हैं, अर्कपर्व द्वन्द्वपर्व, व्रतपर्व, और शुक्रियपर्व। इन्हीं के अन्त में महानाम्नी ऋचाएं हैं। सामश्रमी के संस्करण में यह गान मुद्रित हो चुका है।

ऊहगान—यह सप्तपर्व-युक्त है, दशरात्र संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्र। इसमें दो-दो भागों वाले कुल २३ प्रपाठक हैं। यह भी कलकत्ता संस्करण में मुद्रित है।

ऊह्यगान—इसमें भी सात पर्व हैं। इनके नाम वही हैं, जो ऊहगान के पर्वों के नाम हैं। इसमें १६ प्रपाठक और ३२ अर्धप्रपाठक हैं। यह भी कलकत्ता संस्करण में छप चुका है।

आर्चिक रूपी सामसंहिता=सामवेद

पूर्वार्चिक। इसमें छः प्रपाठक हैं। ग्रामेगेयगान के साम इन्हीं मन्त्रों पर हैं। स्टीवनसन सन् १८४३, बैनफी सन् १८४८, और सामश्रमी द्वारा यह सामसंहिता मुद्रित हो चुकी है।

आरण्यकसंहिता। पांच दशतियों में।

उत्तरार्चिक। नौ प्रपाठकों में। ऊहगान के मन्त्र इसी में हैं। यह संहिता कौथुमों की कही जाती है।

कौथुमों की साम संख्या

ग्रामेगेयगान	११९७
आरण्यगान	२९४
ऊहगान	१०२६
ऊह्यगान	२०५
	२७२२

कालेण्ड के अनुसार कौथुम संहिता की कुल मंत्र संख्या १८६९ है।

कौथुम गृह्य—संस्कृत हस्तलेखों के राजकीय पुस्तकालय मैसूर के सन् १९३२ में मुद्रित हुए सूचीपत्र के पृ० ६८ पर लिखा है कि उस पुस्तकालय में इक्कीस खण्डात्मक एक कौथुम गृह्य सूत्र है। हमारे मित्र अध्यापक सूर्यकान्त जी ने हमारी प्रार्थना पर उसकी प्रतिलिपि मंगाई थी। उनका कहना है कि यह एक स्वतन्त्र गृह्य सूत्र है। पूना के भण्डारकर इण्स्टीट्यूट में सांख्यायन गृह्यसूत्र व्याख्या नाम का एक हस्तलेख है। उसका लेखन काल संवत् १६५५ है। उसमें पत्र एक पर लिखा है —

कौथुमिगृह्ये। कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात्। सायंप्रातरौ होमौ गृहाः। पत्नीगृह्य एषोऽग्नि-र्भवति। इति।

इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि कौथुमों का कोई स्वतन्त्र कल्पसूत्र भी था।

२. जैमिनीयाः—जैमिनीय संहिता, ब्राह्मण, श्रौत और गृह्य सभी अब मिलते हैं। ब्राह्मण आदि का वर्णन यथास्थान करेंगे। यहां संहिता का ही उल्लेख किया जाता है। इसके हस्तलेख बड़ोदा और लाहौर में मिलते हैं। लण्डन का हस्तलेख अपूर्ण है। यह संहिता भी दो प्रकार की है। अनेक हस्त-लेखों के अनुसार जैमिनीय गानों की साम संख्या निम्नलिखित है :

ग्रामेगेयगान	१२३२
आरण्यगान	२९१
ऊहगान	१८०२
ऊह्य=रहस्यगान	३५६
	३६८१

अध्यापक कालेण्ड ने धारणालक्षण नामक लक्षणग्रन्थ से जैमिनीयों की साम संख्या दी है।

पंजाव यूनिवर्सिटी पुस्तकालय के जैमिनीय शाखा के एक ग्रन्थ में यह संख्या कुछ भिन्न प्रकार से दी हुई है। वही नीचे लिखी जाती है—

आग्नेयस्य शतं प्रोक्ता ऋचो दश च षट् तथा। ऐन्द्रस्य त्रिशतं चैव द्विपंचाशदृचो मिताः ॥१॥
एकोनविंशतिशतं पावमान्यः स्मृता ऋचः[1]। पंचपंचाशदित्युक्ता आरणस्य क्रमादृचः ॥२॥
प्रकृतः षट्शतं चैव द्विचत्वारिंशदुत्तरम्।
प्रकृति ऋक्संख्या रघुस्तु ६४३। प्रकृतिसामसंख्या गिरीशोयं १५२३।

अर्थात्—आग्नेय पर्व में	११६
ऐन्द्र में	३५२
पावमान्य में	११९
और आरण में	५५
कुल	६४२ प्रकृति ऋक्संख्या है।

तथा ग्रामेगेयगान और आरण्यगान की कुल संख्या १५२३ है। इससे आगे धारणालक्षण में इन १५२३ सामों का व्योरा है। तत्पश्चात् ऊह और ऊह्यगान की संख्या गिनी गई है। जैमिनीय सामगान की कुल संख्या ३६८१ है। अर्थात् कौथुम शाखा की अपेक्षा जैमिनीय शाखा के गानों में ९५९ साम अधिक हैं। जैमिनीय संहिता का अभी तक कोई भाग मूल हस्तलेखों से मुद्रित नहीं हुआ।

जैमिनीय संहिता के पाठान्तर कालेण्ड ने रोमन लिपि में सम्पादन किए हैं, परन्तु इस संहिता के देवनागरी लिपि में छपने की परमावश्यकता है। कौथुम संहिता से इस का भेद तो है, परन्तु स्वल्प ही ही। जैमिनीय संहिता की मंत्र संख्या कालेण्ड के अनुसार १६८७ है। पूर्वार्चिक और आरण्य में ६४६ और उत्तरार्चिक में १०४१। पूर्वार्चिक की प्रकृति ऋक्संख्या हम पहले ६४२ लिख चुके हैं। तदनुसार आरण में ५५ मन्त्र हैं। यह चार मन्त्रों का भेद विचारणीय है। सम्भव है हमारे हस्तलेख का पाठ यहां अशुद्ध हो। इस प्रकार जैमिनीय संहिता में कौथुम संहिता की अपेक्षा १८२ मन्त्र न्यून हैं। परन्तु स्मरण रहे कि जैमिनीय-संहिता में कई ऐसी ऋचाएं भी हैं, जो कौथुम संहिता में नहीं हैं

जैमिनीय और तलवकार

जैमिनीय ब्राह्मण को बहुधा तलवकार ब्राह्मण भी कहा जाता है। जैमिनी गुरु था और तलवकार शिष्य था। ब्राह्मण क्यों उन दोनों के नाम से पुकारा जाने लगा, यह विचारणीय है। संभव है कि जैमिनीयों का अवान्तर शाखा तलवकार हो। जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण सम्प्रति दक्षिण मद्रास के तिन्नेवल्ली जिला में मिलते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर अध्याय १४६ में जैमिनीय धर्मशास्त्र का उल्लेख है।

३. राणायनीयाः—राणायन वासिष्ठ थे।[2] राणायन-शाखीय ब्राह्मण हमें अनेक मिले हैं, परन्तु राणायन शाखा हमने किसी के पास नहीं देखी। अध्यापक विण्टर्निट्ज का मत है कि स्टीवनसन की सम्पादन

---

१. चरणव्यूहों का निम्नलिखित पाठ विचारणीय है—

अशीतिशतमाग्नेयं पावमानं चतुःशतम्। एन्द्रं तु षड्विंशतिर्यानि गायन्ति सामगः।

शावर मीमांसा भाष्य १०.५.२३ में यही श्लोक स्वल्प पाठान्तर से मिलता है।

२. गणरत्नमहोदधि ३.२३६

की हुई संहिता ही राणायनीय संहिता है।[1] यह बात युक्त प्रतीत नहीं होती। कुछ मास हुए, लाहौर में ही एक ब्राह्मण हमें मिले थे। उनका पता भी हमने लिख लिया था।[2] वे कहते थे कि उनके पास राणायनीय संहिता का एक बहुत पुराना हस्तलेख है। जब तक इस चरण के मूल ग्रन्थ न मिल जाएं, तब तक हम इसके विषय में कुछ नहीं कह सकते।

राणायनीयों के खिलों का एक पाठ शांकर वेदान्त भाष्य ३.३.२३ में मिलता है। उससे आगे राणायनीयों के उपनिषद् का भी उल्लेख है। हेमाद्रि रचित श्राद्धकल्प के १०७६ पृष्ठ पर राणायनीय सम्बन्धी लेख देखने योग्य है।

४. **सात्यमुग्राः**—राणायनीय चरण की एक शाखा का नाम सात्यमुग्र है। इनके विषय में आपिशली शिक्षा के षष्ठ प्रकरण में लिखा है—**छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति।**

अर्थात् सात्यमुग्र शाखा वाले सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व पढ़ते हैं।

पुनः व्याकरण महाभाष्य १.२४, ४८ में लिखा है—

ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। सुजाते एऽश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यद्यजतम्।

सात्यमुग्रों का भी कोई ग्रन्थ अभी तक हमें नहीं मिल सका।

५. **नैगेयाः** इस शाखा का नाम चरणव्यूहों के कौथुमों के अवान्तर-विभागों में मिलता है। नैगेयपरिशिष्ट नाम का एक ग्रन्थ है। उसमें दो प्रपाठक हैं। प्रथम में ऋषि और दूसरे में देवता का उल्लेख है। यह ग्रन्थ नैगेय शाखा पर लिखा गया है। इससे इस शाखा के आकार प्रकार का पता मिलता है। नैगेय आचार्य का मत ऋक्तन्त्र सूत्र ५९, १५९ की टीका और सूत्र १६२ पर मिलता है।

६. **शार्दूलाः**—काशी के एक ब्राह्मण घर के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र में इस शाखा का नाम लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि शार्दूल संहिता का पुस्तक कभी वहां विद्यमान था, परन्तु अब यह ग्रन्थ वहां से कोई ले गया है। खादिर नाम का एक गृह्यसूत्र सम्प्रति उपलब्ध है। उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि वह शार्दूल शाखीय लोगों का गृह्यसूत्र है।[3] श्राद्धकल्प परिभाषाप्रकरण पृ० १०७८, १०७९ पर हेमाद्रि लिखता है—**तद्यथा शार्दूलशाखिनां स पूर्वो महानामिति मधुश्चुन्निधनम्।**

यह पाठ शार्दूल शाखा का है। इससे आगे भी हेमाद्रि इस शाखा का पाठ देता है। यही पाठ वीरमित्रोदयकृत श्राद्धप्रकाश पृष्ठ १३० पर भी मिलता है। यत्न करने पर इस शाखा के ग्रन्थ अब भी मिल सकेंगे।

७. **वार्षगण्याः** साम आचार्यों में वार्षगण्य का नाम पूर्व लिखा जा चुका है। इस शाखा के संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ कभी अवश्य होंगे। सौभाग्य का विषय है कि वार्षगण्यों का एक मन्त्र अब भी उपलब्ध है। पिंगल छन्दः सूत्र ३.१२ पर टीका करते हुए यादवप्रकाश नागी गायत्री के उदाहरण में लिखता है—

---

१. भारतीय वाङ्मय का इतिहास, अंग्रेजी पृ० १६३, टिप्पणी

२. पं० हरिहरदत्त शास्त्री, भण्डारी गली, घर नम्बर ८/१० बांस फाटक, बनारस सिटी।

3. Report on a search of Sanskrit mss. in the Bombay Presidency, 1891-1895, by V. Kathavate, Bombay, 1901, No. 19,

ययोरिदं विश्वमेजति ता विद्वांसा हवामहे वाम् । वीतं सोम्यं मधु ।। इति वार्षगण्यानाम् ।

अर्थात्---नागी गायत्री का यह उदाहरण वार्षगण्यों की संहिता में मिलता है ।

यही मन्त्र निदानसूत्र में भी उद्‌धृत है ।

सांख्य शास्त्र प्रवर्तकों में वार्षगण्य नाम का एक प्रसिद्ध आचार्य था । कई एक विद्वानों के अनुसार षष्ठितन्त्र का रचयिता वार्षगण्य ही था । सांख्यकार वार्षगण्य और साम-संहिताकार वार्षगण्य निश्चय ही एक थे । वार्षगण्यों का इससे अधिक इतिवृत्त हम नहीं जान सके ।

८. गौतमाः– गौतमों की कोई स्वतंत्र संहिता थी वा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता । गौतम धर्मसूत्र और गौतम पितृमेधसूत्र इस समय भी मिलते हैं । गौतम शिक्षा भी सम्प्रति उपलब्ध है । यत्न करने पर इस शाखा के अन्य ग्रन्थों के मिलने की सभावना है ।

९. भाल्लविनः—इस शाखा का ब्राह्मण कभी विद्यमान था । संहिता के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते । भाल्लवियों के निदान ग्रन्थ के प्रमाण अनेक ग्रन्थों में उद्‌धृत मिलते हैं । भाल्लवि कल्प भी कभी मिलता होगा । भाल्लवियों का वर्णन विशेष ब्राह्मण भाग में है । सुरेश्वर के बृहदारण्यक-भाष्य वार्तिक में भाल्लवि शाखा की एक श्रुति लिखी है । सुरेश्वर का तत्सम्बन्धी लेख आगे लिखा जाता है ।

अतः संन्यस्य कर्माणि सर्वाण्यात्मावबोधतः ।
हत्वाऽविद्यां धियैवेयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ।।२१९।।
इति भाल्लविशाखायां श्रुतिवाक्यमधीयते ।।२२०।।

अर्थात्—हत्वाऽविद्या......पदम् भाल्लविश्रुति का है ।

यह पाठ निदान सूत्र में भी है । भाल्लवियों के उपनिषद् ग्रन्थ भी थे ।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २.४.७ में भाल्लवियों का मत उल्लिखित है । इससे पता लगता है कि इस ब्राह्मण के काल से पहले या समीप ही भाल्लवि शाखा का प्रवचन हो चुका था । जैमिनीय ब्राह्मण ३.१५६ में आषाढ भाल्लवेय और १.२७ में इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय के नाम मिलते हैं । भाल्लवियों और भाल्लवेयों के गोत्र जानने चाहिएं ।

१०. कालबविनः—इस शाखा के ब्राह्मण के प्रमाण अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं । उनका उल्लेख ब्राह्मण भाग में करेंगे । कालबवियों के कल्प, निदान और संहिता का पता हमें नहीं लगा ।

११. शाट्यायनिनः—इस शाखा के ब्राह्मण, कल्प और उपनिषद् कभी विद्यमान थे । संहिता के सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता । शाट्यायनि आचार्य का मत जैमिनि उपनिषद्-ब्राह्मण में बहुधा उद्‌धृत मिलता है ।

१२. रौरुकिणः—इस शाखा के प्रमाण भी अनेक ग्रंथों में मिलते हैं । रौरुकि ब्राह्मण के विविध ग्रन्थों में उदधृत अनेक पाठ इस समय भी मिलते हैं ।

१३. कापेयाः—काशिकावृत्ति ४.१.१०७ में कापेय आंगिरस से भिन्न गोत्र के माने गए हैं । आंगिरस गोत्र वाले काप्य होंगे, बृहदारण्यक उपनिषद् ३.३.१ का पतञ्जल काप्य आंगिरस गोत्र का होगा । एक शौनक कापेय जैमिनि-उपनिषद् ब्राह्मण ३.१.२१ में उल्लिखित है । जैमिनीय ब्राह्मण २.२६८ में भी इसी कापेय का नाम मिलता है । इस शाखा के ब्राह्मण का वर्णन आगे होगा ।

कठ संहिता १३.१२ तथा पञ्चविंश ब्राह्मण २०.१२.५ में कापेयों का उल्लेख है।

१४. **माषशराव्यः** – द्राह्यायण श्रौत ८.२.३० पर धन्वी लिखता है—**माषशराव्यो नाम केचिच्छाखिनः।**

१५. **करद्विषः**—इस शाखा का नाम ताण्डच ब्राह्मण २.१५.४ में मिलता है।

१६. **शाण्डिल्याः** -- आपस्तम्ब श्रौत के रुद्रदत्त कृत भाष्य ९.११.२१ में एक शाण्डिल्यगृह्य उद्धृत किया गया है। लाटचायन, द्राह्यायण आदि कल्पों में शाण्डिल्य आचार्य का मत बहुधा लिखा गया है, अतः हमारा अनुमान है कि शाण्डिल्य गृह्य किसी साम शाखा का ही गृह्य था। आनन्द संहिता के अनुसार शाण्डिल्य सूत्रकार याजुष है। एक सुयज्ञ **शाण्डिल्य** जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४.१७.१ के वंश में लिखा गया है।

१७. **ताण्डचाः**—ताण्डचों की एक स्वतन्त्र शाखा बहुत प्राचीनकाल से मानी जा रही है। वेदान्त भाष्य ३.३.२७ में शंकर लिखता है—"**अन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिनः शाटचायनिनः।**"

पुनः ३.३.२४ में वही लिखता है—"**यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च।**"

वर्तमान छान्दोग्योपनिषद् इन्हीं की उपनिषद् है। शांकर वेदान्त भाष्य ३.३.३६ में लिखा है—"**यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके......स आत्मा.....।**"

यह पाठ छान्दोग्योपनिषद् ६.८.७ की प्रसिद्ध श्रुति है। छान्दोग्यनाम एक सामान्य नाम है। पहले इस उपनिषद को **ताण्डच-रहस्य-ब्राह्मण** या **ताण्डच आरण्यक** भी कहते होंगे। शांकर वेदान्तभाष्य ३.३.२४ से ऐसा ही ज्ञात होता है।

ताण्डच शाखा कौथुमों का अवान्तर विभाग समझी जाती है। अध्यापक कालेण्ड का ऐसा ही मत था। गोभिलगृह्य भी कौथुमों का ही गृह्य माना जाता है। परन्तु श्राद्धकल्प पृ० १४६०, १४६८ पर हेमाद्रि लिखता है कि **गोभिलराणायनीयसूत्रकृत** है। यदि हेमाद्रि की बात ठीक है, तो ताण्डच गृह्य का अन्वेषण होना चाहिए।

ताण्डच ब्राह्मण और कौथुम संहिता

अध्यापक कालेण्ड ने ताण्डच ब्राह्मण से दो ऐसे उदाहरण दिये हैं जहां ब्राह्मण का पाठ वर्तमान कौथुम संहिता के पाठ से भिन्न हो जाता है—

ताण्डय ब्राह्मण	साम संहिता
इन्द्रं गीर्भिर्हवामहे ११.५.४	इन्द्र गीर्भिर्नवामहे।[1]
अक्रान्त्समुद्रः परमे विधर्मन् १५.१	अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन्।[1]

ताण्डच ब्राह्मणगत ये भेद निदान सूत्र में भी विद्यमान हैं। आर्षेय कल्प में दूसरा प्रमाण मिलता है, और वह भी ब्राह्मणानुकूल है। इससे एक सम्भावना होती है कि ताण्डच ब्राह्मण का सम्बन्ध कदाचित् किसी अन्य सामसंहिता से रहा हो।

१. ये साम संहितास्थ मन्त्र ऋग्वेद में भी मिलते हैं। उनका पाठ साम संहिता के सदृश है। परमे और प्रथमे का भेद अन्यत्र भी पाया जाता है। मनुस्मृति १.१८० में कोई परमे पढ़ता है और कोई प्रथमे।

अन्य साम-प्रवचनकार

लाटचायन, द्राह्यायण, गोभिल, खादिर, मशक और गार्ग्य के प्रवचन-ग्रंथ इस समय भी उपलब्ध हैं। पहले पांचों के रचे हुए कल्प वा कल्पों के भाग हैं और गार्ग्य का साम पदपाठ विद्यमान है। महाभाष्य आदि में गार्गकम्, वात्सकम् प्रयोग भी बहुधा मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि गर्गों की कोई साम संहिता भी विद्यमान थी। द्राह्यायण और खादिर का परस्पर सम्बन्ध भी विचारणीय है। इन विषयों पर कल्पसूत्र भाग में लिखा जाएगा।

शालिहोत्र—सामसंहिताकार शालिहोत्र ही द्वादशसाहस्री अश्वशास्त्र संहिता का रचयिता था।

कीथ मौन—असमंजस में पड़ा कीथ इस विषय में मौन है। वह लिखता है—
The science of horses, Aśvaśāstra, is ascribed to another sage, शालिहोत्र।

शालिहोत्र का स्मरण पाण्डव नकुल अपने अश्व-वैद्यक ग्रन्थ में करता है।[1]

पाण्डव नकुल के ग्रन्थ को महाभारत युद्ध के सहस्रों वर्ष उत्तर में मानना योरोपीय लेखकों की अविद्या है। अश्वविद्या का इतिहास हम लिख चुके हैं।[1]

साम-मंत्र संख्या

शतपथ ब्राह्मण १०-४-२-२ में लिखा है—अथेतरौ वेदौ व्यौहत्। द्वादशैव बृहतीसहस्राण्यष्टौ यजुषा चत्वारि साम्नाम्। एतावद्धं तयोर्वेदयोर्यत् प्रजापतिसृष्टे।

अर्थात्—साम-मन्त्र पाठ चार सहस्र बृहती छन्द के परिमाण का है। इतना ही प्रजापति सृष्ट साम है। एक बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं, अतः ४००० × ३६ = १४४००० अक्षर के परिमाण के सब साम हैं। यह साम संख्या सहस्र साम-शाखाओं में से सौत्र शाखाओं को छोड़कर शेष सब शाखाओं की होगी।

वायुपुराण १.६१.६३ तथा ब्रह्माण्ड पुराण २.३५.७१-७२ में साम गणना के विषय में लिखा है—

अष्टौ सामसहस्राणि समानि च चतुर्दश। सारण्यकं सहोहं च एतद्गायन्ति सामगाः॥

अर्थात्—आरण्यक आदि सब भागों को मिलाकर कुल ८०१४ साम हैं, जिन्हें सामग गाते हैं।
इसी प्रकार का एक पाठ एक प्रकार के चरणव्यूहों में है—

अष्टौ सामसहस्राणि सामानि च चतुर्दश। अष्टौ शतानि नवतिर्दशतिर्वालखिल्यकम्॥[2]
सरहस्यं ससुपर्णं प्रेक्ष्य तत्र सामदर्पणम्। सारण्यकानि ससौर्याण्येतत्सामगणं स्मृतम्॥

इसी का दूसरा पाठ दूसरे प्रकार के चरणव्यूहों में है—

अष्टौ साम सहस्राणि सामानि च चतुर्दश। अष्टौ शतानि दशभिर्दशसप्तसुवालखिल्यः ससुपर्णः प्रेक्ष्यम्। एतत्सामगणं स्मृतम्।

---

१. देखें वेदवाणी, वर्ष ४, अंक २, दिसम्बर १९५१ में हमारा लेख।
२. तुलना करें—ब्राह्मप्रोक्त याज्ञवल्क्य संहिता १.३०

एक और प्रकार के चरणव्यूह का निम्नलिखित पाठ भी ध्यान देने योग्य है—

अष्टौ सामसहस्राणि छन्दोगार्चिक संहिता।
गानानि तस्य वक्ष्यामि सहस्राणि चतुर्दश॥
अष्टौ शतानि ज्ञेयानि दशोत्तरदशैव च।
ब्राह्मण पञ्चोपनिषदं सहस्रं त्रितयं तथा॥

अन्तिम पाठ का अभिप्राय बहुत विचित्र प्रकार का है तदनुसार साम आर्चिक संहिता में ८००० साम थे। उसी के गान १४८२० थे। साम गणना के पुराणस्थ और चरणव्यूह कथित, पाठों में स्वल्प भेद हो गया है। उस भेद के कारण इन वचनों का स्पष्ट और निश्चित अर्थ लिखा नहीं जा सकता। हां, इतना निर्णीत ही है कि आर्चिक संहिता में शतपथ प्रदर्शित १४४००० अक्षर परिमाण के सब मन्त्र होने चाहिएं। और अनेक स्थानों में ८००० के लगभग साम संख्या कहने से यह भी कुछ निश्चित है कि सामवेद की समस्त शाखाओं में कुल ८००० के लगभग मन्त्र होंगे।

★

सप्तदश अध्याय

अथर्ववेद की शाखाएं

१. पतञ्जलि अपने व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में लिखता है—नवधाथर्वणो वेदः। अर्थात्—नव शाखायुक्त अथर्ववेद है।

२. इन नव शाखाओं के विषय में आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह में लिखा है—

तत्र ब्रह्मवेदस्य नव भेदा भवन्ति। तद्यथा—पैप्पलादाः। स्तौदाः। मौदाः। शौनकीयाः। जाजलाः। जलदाः। ब्रह्मवदाः[1]। देवदर्शाः। चारणवैद्याः चेति।[2]

इस सम्बन्ध में एक प्रकार के चरणव्यूहों का पाठ है—

पिप्पलाः। शौनकाः। दामोदाः। तोत्तायनाः। जाबालाः। कुनखी। ब्रह्मपलाशाः। देवदर्शी। चारणविद्याः चेति।

दूसरे प्रकार के चरणव्यूहों का पाठ है—

पैप्पलाः। दान्ताः। प्रदान्ताः। स्तौताः। औताः। ब्रह्मदापलाशारः। शौनकी। वेददर्शी। चारणविद्याः चेति।

३. प्रपञ्चहृदय में लिखा है—

नवैवाथर्वणस्य। .... । आथर्वणिकाः पैप्पलाद - योद - तोद - मोद - दायद - ब्रह्मपद - शौनक- अङ्गिरस -देवर्षिशाखाः।

४. ब्रह्मप्रोक्त याज्ञवल्क्य संहिता १. ३१, ३२ में अथर्ववेद के नौ भेद गिनाए हैं।

५. वायुपुराण ६१.४९-५३, ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वभाग, दूसरा पाद ३५.५५-६१ तथा विष्णु पुराण ३.६.९-१२ के अनुसार आथर्वण शाखाभेद निम्नलिखित प्रकार से हुआ—

---

१. तुलना करें महाभाष्य भाग २, पृष्ठ ३५२ सप्तका ब्रह्मवृक्षाः, परन्तु अर्थ संदिग्ध है।

२. अथर्ववेद के सायणभाष्य के उपोद्घात के अंत में आथर्वण शाखाओं के ये ही नाम मिलते हैं। हां स्तौदा के स्थान में वहां तौदा पाठ है।
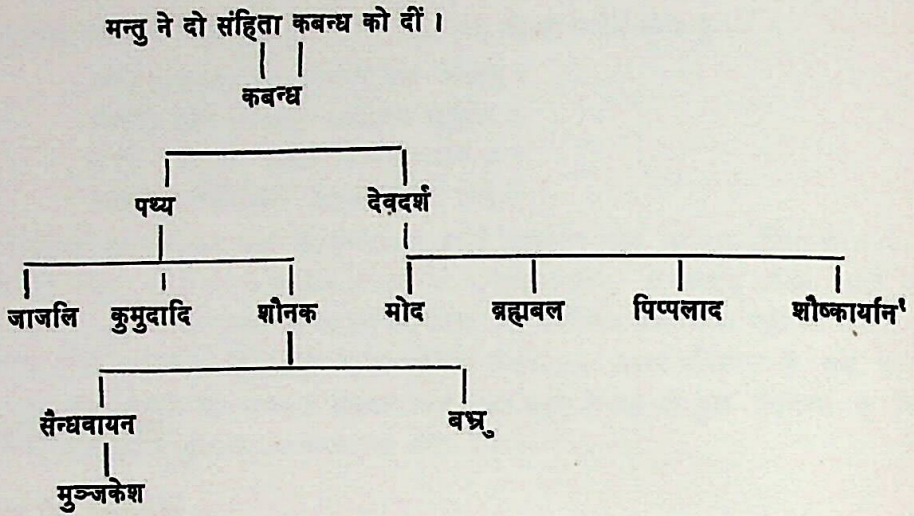
इन दोनों संहिताओं का वर्णन पुराणों में नहीं है ।

६. अहिर्बुध्न्यसंहिता अध्याय १२ और २० में क्रमशः लिखा है—

साम्नां शाखाः सहस्रं स्युः पंचशाखा ह्यथर्वणाम् ॥९॥
अथर्वाङ्गिरसो नाम पञ्चशाखा महामुने ॥२१॥

आथर्वण पांच शाखाओं की परम्परा कैसी थी, अथवा इस पाञ्चरात्र आगम का यह मत कैसा है, इस विषय में हम अभी कुछ नहीं कहते । आथर्वण पांच कल्प प्रसिद्ध हैं ।

७. स्कन्द पुराण पृष्ठ ८० पर अथर्ववेद की बारह शाखाएं कही हैं ।

आथर्वण नौ शाखाओं के शुद्ध नाम— पूर्वोक्त आथर्वण शाखाओं के नामों में से आथर्वण चरणव्यूह में आए हुए नाम सब से अधिक शुद्ध हैं । उन में से छः के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता । वे छः ये हैं—पैप्पलादाः । मौदाः । शौनकीयाः । जाजलाः । देवदर्शाः । चरणविद्याः वा चारणवैद्याः । शेष स्तौदाः जलदाः और ब्रह्मवदाः नामों में कुछ शोधन की आवश्यकता है । ब्रह्मवदाः कदाचित् ब्रह्मपलाशः वा ब्रह्मबलाः हो । अन्य दो नामों के विषय में हम कुछ विशेष नहीं कह सकते ।

सुमन्तु

भगवान् कृष्ण द्वैपायन का चौथा प्रधान शिष्य सुमन्तु था । यह सुमन्तु जैमिनि-पुत्र सुमन्तु से भिन्न होगा । सुमन्तु नाम का धर्मसूत्रकार ही प्रसिद्ध संहिताकार था । अपने धर्मशास्त्रेतिहास के पृ०१२९—१३१ पर पाण्डुरंग वामन काणे ने इस सुमन्तु के संबंध में विस्तृत लेख लिखा है । परन्तु उन का कालनिर्देश सर्वथा अशुद्ध है, आश्वलायन गृह्य के तर्पण प्रकरण के प्रतिकूल होने से । सुमन्तु के धर्मसूत्र का कुछ अंश हमारे मित्र श्रीयुत टी० आर० चिन्तामणि ने मुद्रित किया है ।[2] सुमन्तु अपने धर्मसूत्र में अङ्गिरा और

१. ब्रह्माण्ड, विष्णु— शौल्कायनि ।
2. The Journal of Oriental Research, Madras, January—March, 1934, pp. 75-88.

शङ्ख को स्मरण करता है । शान्तिपर्व ४६.६ के अनुसार एक सुमन्तु शरशय्यास्थ भीष्म जी के पास था ।

कबन्ध आथर्वण

सुमन्तु ने अथर्व संहिता की दो शाखाएं बना कर अपने शिष्य कबन्ध को पढ़ा दीं । बृहदारण्यक उपनिषद् ३.७ से उद्दालक आरुणि और याज्ञवल्क्य का संवाद आरम्भ होता है । उद्दालक आरुणि कहता है कि हे याज्ञवल्क्य, हम मद्र देश में पतञ्जल काप्य के घर पर यज्ञ पढ़ रहे थे । उस की स्त्री गन्धर्वगृहीता थी । उस गन्धर्व को पूछा, कौन हो । वह बोला, कबन्ध आथर्वण हूं । क्या यही कबन्ध आथर्वण कभी सुमन्तु का शिष्य था । एक कबन्ध आथर्वण जैमिनीय ब्राह्मण ३.३१९ में उल्लिखित है । कबन्ध के साथ आथर्वण का विशेषण यह बताता है कि कदाचित् यही कबन्ध सुमन्तु का शिष्य हो ।

कबन्ध ने अपनी पढ़ी हुई दो शाखाएं अपने दो शिष्यों पथ्य और देवदर्श को पढ़ा दीं । उन से आगे अन्य शाखाओं का विस्तार हुआ । वे शाखाएं नौ हैं । उन्हीं का आगे वर्णन किया जाता है ।

१. पैप्पलादाः—स्कन्दपुराण, नागर खण्ड, के अनुसार एक पिप्पलाद सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य का ही संबंधी था । प्रश्न उपनिषद् के आरम्भ में लिखा है कि भगवान् पिप्पलाद के पास सुकेशा भारद्वाज आदि छः ऋषि गए थे । वह पिप्पलाद महाविद्वान् और समर्थ पुरुष था । शान्तिपर्व ४६.१० के अनुसार एक पिप्पलाद शरतल्पगत भीष्म जी के समीप विद्यमान था ।

पिप्पलादों के संहिता और ब्राह्मण दोनों ही थे । प्रपञ्चहृदय में लिखा है—**तथाथर्वणिके पैप्पलादशाखायां मन्त्रो विंशतिकाण्डः ।......तदब्राह्मणमध्यायाष्टकम् ।**

अर्थात्—पैप्पलाद संहिता बीस काण्डों में है और उसके ब्राह्मण में आठ अध्याय हैं ।

पैप्पलाद संहिता का अद्वितीय हस्तलेख—यह पैप्पलाद संहिता सम्प्रति उपलब्ध है । भुर्जपत्र पर लिखा हुआ इसका एक प्राचीन हस्तलेख काश्मीर में था । उसकी लिपि शारदा थी । काश्मीर-महाराज रणवीरसिंह जी की कृपा से यह हस्तलेख अध्यापक रुडल्फ रोथ के पास पहुंचा । सन् १८७५ में रोथ ने इस पर एक लेख प्रकाशित किया ।[1] सन् १८७५ तक यह कोश रोथ के पास ही रहा । तब रोथ की मृत्यु पर यह कोश ट्यूबिंजन यूनिवर्सिटी पुस्तकालय के पास चला गया । इस यूनिवर्सिटी के अधिकारियों की आज्ञा से उस कोश का फोटो अमरीका के बाल्टीमोर नगर से सन् १९०१ में प्रकाशित किया गया । इस प्रति के काश्मीर से बाहर ले जाए जाने से पहले उससे दो देवनागरी प्रतियां तैय्यार की गयी थीं । एक प्रति अब पूना के भण्डारकर इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है ।[2] दूसरी प्रति रोथ को सन् १८७४ मास नवम्बर के अन्त में मिली थी । शारदा ग्रन्थ में १६ पत्र लुप्त हैं । दूसरा, तीसरा, चौथा और पांचवा पत्र बहुत फट चुके हैं । इनके अतिरिक्त, संभवतः इसी कोश की एक और देवनागरी प्रति भी है । वह मुम्बई की रायल एशियाटिक सोसाइटी की शाखा के पुस्तकालय में है । उसी की फोटो कापी पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में संख्या ६६६२ के अन्तर्गत है । यह प्रति काश्मीर में विक्रम संवत् १९२६ में लिखी गई थी ।

---

1. Der Atharva-Veda in Kashmir, Tubingen, 1875
2. Descriptive Catalogue of the Government Collections of Mss., Deccan College, Poona, 1916, pp. 276-277.
   यह सारा संग्रह अब भण्डारकर संस्था के पास है ।

पैप्पलादों के अन्य ग्रंथ

प्रपञ्चहृदय पृ० ३३ के अनुसार पैप्पलाद शाखा वालों का सप्त अध्याय युक्त अगस्त्य प्रणीत एक कल्पसूत्र था। इस सूत्र का नाम हमें अन्यत्र नहीं मिला। हेमाद्रि रचित श्राद्धकल्प पृ० १४७० से आरम्भ होकर एक पिप्पलाद श्राद्धकल्प मिलता है। इस श्राद्धकल्प का पुनरुद्धार अध्यापक कालेण्ड ने किया है।[1] वीरमित्र कृत श्राद्धप्रकाश, पृष्ठ २३९ पर पिप्पलाद सूत्र उद्धृत है। प्रपञ्चहृदय के प्रमाण से आठ अध्याय का पैप्पलाद ब्राह्मण पहले कहा जा चुका है। इसके सम्बन्ध में वेंकट माधव अपने ऋग्वेद भाष्य मण्डल ८.१ की अनुक्रमणी में लिखता है ऐतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम् ॥२॥ अर्थात्—आथर्वणों का पैप्पलाद ब्राह्मण था।

आठवें अथर्व परिशिष्ट के अनुसार अथर्ववेद १९.५६-५८ सूक्त पैप्पलाद मन्त्र हैं। उन्नीसवें काण्ड में पैप्पलाद शाखा और अथर्ववेद की समानता है।

पैप्पलाद संहिता का प्रथम मन्त्र—महाभाष्य पस्पशाह्निक में आथर्वणों का प्रथम मन्त्र शन्नो देवीः माना गया हैं। गोपथ ब्राह्मण १.२९ का भी ऐसा ही मत है। इसी सम्बन्ध में छन्दोग्यमन्त्रभाष्य में गुणविष्णु लिखता है--शन्नो देवीः .....। अथर्ववेदादिमन्त्रोऽयं पिप्पलाददृष्टः।

अर्थात्—पैप्पलादों का प्रथम मन्त्र शन्नो देवीः है।

पिप्पलाद संहिता के उपलब्ध हस्तलेख में प्रथम मन्त्र नष्ट हो चुका है, अतः गुणविष्णु के कथन की परीक्षा नहीं की जा सकती।

ह्विटने (और रोथ) का मत है कि पिप्पलाद अथर्ववेद में अथर्ववेद की अपेक्षा ब्राह्मण पाठ अधिक है, तथा अभिचारादि कर्म भी अधिक हैं।[2]

पैप्पलादशाखा और अथर्ववेद के कुछ पाठों की तुलना ह्विटने ने निम्नलिखित प्रकार से की है—

अथर्व	पैप्पलाद	
तस्मात्	ततः	१० ३.८
जगाम	इयाथ	१०.७.३१
योत	या च	१०.८.१०
ओषं	क्षिप्रं	१२.१.३५
गृहेषु	अमा च	१२.४.३८

अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी के जर्नल में पिप्पलाद शाखा का सम्पादन रोमन लिपि में हो गया है।

बड़ोदा के सूचीपत्र में पुरुषसुक्त का एक कोश सन्निविष्ट है। संख्या उसकी ३८१० है। उसके अन्त में लिखा है—

इदं काण्डं शाखाद्वयगामि। पैप्पलाद-शाखायां जाजल-शाखायां च।

1. Altindischer Ahnencult, Leiden, E. J. Brill, 1893
2. The Kashmirian text is more rich in Brahmana passages and in charms and incantations than in the vulgate, Whitneys translation of the Atharva Veda, Introduction. p. LXXX

पैप्पलाद-शाखागत यां कल्पयन्ति सूक्त व्याख्या सहित बड़ोदा के सूचीपत्र में दिया हुआ है। यह ग्रन्थ हमने अन्यत्र भी देखा है और आवश्यकता होने पर उपलब्ध हो सकता है। वासुदेव त्रिवेदी कृत व्याख्या सहित इस सूक्त का दशहस्त लेखों के आधार पर एक संस्करण काशी से प्रकशित हो चुका है।[1] इसका सम्पादन पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी ने किया है।

महाभाष्य ४.१.८६, ४.२.१०४, ४.३.१०१ आदि में **मौदकम्। पैप्पलादकम्।** प्रयोग मिलते हैं। ४.२.६६ में **मौदाः पैप्पलादाः** प्रयोग मिलते हैं। काठक और कालापक के समान किसी समय यह शाखा भारत में अत्यन्त प्रसिद्ध रही होगी। यत्न करने पर पैप्पलाद शाखा सम्बन्धी ग्रंथ अब भी मिल सकेंगे।

पिप्पलाद और युधिष्ठिर का संवाद मत्स्य पुराण पृ० १४५ पर उपलब्ध होता है।

२. स्तौदाः—सायण का पाठ तौदाः है। अथर्व परिशिष्ट २२.३ का लेख है—**आ स्कन्धादुरसो वापीति स्तौदायनैः स्मृता।** यहां अरणि का वर्णन करते हुए स्तौदायनों का मत लिखा है।

मज्झिम निकाय २.५.१०. पृ॰ ४२१ के अनुसार तथागत के काल में कोसल देश में तौदेय्य अथवा तोदेय्य ब्राह्मण थे।

३. मौदाः—इस शाखा का अब नाममात्र ही शेष है। महाभाष्य के काल में यह शाखा बहुत प्रसिद्ध रही होगी। शाबर भाष्य १. २. ३. में भी यह नाम मिलता है। अथर्व परिशिष्ट २.४ में जलद और मौद शाखीय पुरोहितों से काम लेने वाले राजा के राष्ट्र का नाश कहा गया है। अथर्व परिशिष्ट २२. ३ में मौद का मत है।

४. शौनकीयाः—शौनक नाम के अनेक ऋषि हो चुके हैं। नैमिषारण्य वासी वृद्ध कुलपति शौनक एक बह्वृच था। भागवत १. ४. १ में ऐसा ही लिखा है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १. २१ में लिखे हुए शौनक कापेय का नाम अन्यत्र लिखा जा चुका है। अतिधन्वा शौनक का नाम जै० ब्रा० १. १६० में मिलता है। इन के अतिरिक्त भी कई अन्य शौनक होंगे। आथर्वण शौनक किस गोत्र वा किस देश का था, यह हम अभी तक नहीं जान सके।

आर्षी संहिता और आचार्य संहिता

पञ्चपटलिका ५. १६ में लिखा है—

आचार्यसंहितायां तु पर्यायाणामतः परम्। अवसानसंख्यां वक्ष्यामि यावती यत्र मिश्रिताः॥

इस श्लोक में आचार्यसंहिता पद प्रयुक्त हुआ है। कौशिकसूत्र ८. २१ पर टीका करते हुए दारिल इस शब्द के संबंध में लिखता है—**पुनरुक्तप्रयोगाः पंचपटलिकायां कथितः। आर्षीसंहितायाः कर्मसंयोगात् आचार्यसंहिताभ्यासार्था।**

अर्थात्—पठन पाठन में, आचार्य-संहिता काम में आती है। इस में उक्तानुक्तविधि चरितार्थ होती है। आर्षीसंहिता ही मूल है और यही विनियोगादि में प्रयुक्त होती है।

शौनकीय-संहिता परिमाण

अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि अथर्ववेद बीस काण्ड युक्त ही है। पैप्पलाद संहिता के भी बीस काण्ड ही हैं, परन्तु शौनकीय संहिता में अठारह काण्ड ही प्रतीत होते है, इस के कारण निम्न-लिखित हैं—

१. राजकीय संस्कृत महाविद्यालय काशी की पत्रिका सारस्वती सुषमा, वर्ष ७, अंक ३,४

१. पञ्चपटलिका खण्ड ५ और १३ के देखने से यही प्रतीत होता है कि शौनकीय संहिता में कुल अठारह काण्ड थे।

२. शौनकीय चतुरध्यायिका में जो निस्सन्देह शौनकीय शाखा का ग्रंथ है, अठारह ही काण्डों के मन्त्र प्रतीक से उद्धृत किए गए हैं।

३. कौशिक और वैतान सूत्र भी शौनकीय शाखा से ही संबंध विशेष रखते हैं। उनमें भी अठारह ही काण्डों के मन्त्र प्रतीक से उद्धृत हैं।

४. बृहत्सर्वानुक्रमणिका में उन्नीस काण्डों के ही ऋषि, देवता छन्द आदि कहे हैं। बीसवें काण्ड के ऋषि, देवता आदि आश्वलायन की अनुक्रमणी से लिए गए हैं।[1] उनमें भी अनेक खिल सूक्त हैं। इन खिल सूक्तों के ऋषि आदि बृहत्सर्वानुक्रमणी के अनेक हस्तलेखों में नहीं हैं। घृतावेक्षण परिशिष्टानुसार १६.५६-५८ सूक्त पैप्पलादमन्त्र कहाते हैं।

संहिता-विभाग

शौनकीय संहिता काण्ड, प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त, मन्त्र, पर्याय, गण और अवसानों में विभक्त है। काण्ड-रचना के संबंध में ब्लूमफील्ड और व्हिटने ने कल्पना की थी कि अठारह काण्ड तीन बड़े भागों में बांटे जा सकते हैं। अर्थात्—

बृहद् भाग	प्रथम काण्ड	१-७
„	द्वितीय „	८-१२
„	तृतीय „	१३-१८

इन तीनों विभागों में अनुवाक, सूक्त और ऋगादि की रचना भिन्न-भिन्न क्रम से पाई जाती है। पञ्चपटलिका पञ्च खण्ड में भी तिसृणामाकृतीनाम् शब्द के प्रयोग से तीन प्रकार का विभाग ही माना गया प्रतीत होता है। परन्तु है वह विभाग व्हिटने आदि के विभाग से कुछ भिन्न। पञ्चपटलिका के अनुसार दूसरा विभाग ८-११ काण्डों का और तीसरा विभाग १२-१८ काण्डों का है। ऋग्-गणना के लिए पञ्चपटलिका का क्रम अधिक उपयोगी है। यदि अथर्ववेद के बर्लिन संस्करणानुसार प्रत्येक पर्याय-समूह को एक-एक सूक्त मानें, तो ८-११ काण्डों में दस-दस सूक्त ही पाए जाते हैं। इसी कारण बारहवां काण्ड तीसरे विभाग में मिलाया गया है। इस सम्बन्ध में हमारे मित्र अध्यापक जार्ज मैल्विल बोलिंग का लेख भी देखने योग्य है।[2] उनका कथन है कि अथर्ववेद १९.२३.२१ के अनुसार ८-११ काण्ड ही क्षुद्र सूक्त है, और यही दूसरे विभाग में होने चाहिएं।

शौनकीय संहिता की मन्त्र-गणना – पञ्चपटलिकानुसार अठारह काण्डों में कुल मन्त्र ४६२७ हैं। व्हिटने के अनुसार इन काण्डों की मन्त्र-संख्या ४४३२ है। भिन्नता का कारण पर्याय सूक्त हैं। व्हिटने की गणना सम्बन्धी टिप्पणी देखने से यह भेद भले प्रकार अवगत हो जाता है।

मुद्रित शौनकीय-संहिता में अपपाठ—अथर्ववेद का संस्करण सन् १८५६ में बर्लिन से प्रकाशित हुआ था। इसके सम्पादक थे रोथ और व्हिटने। तदनन्तर शंकर पाण्डुरंग पंडित ने मुम्बई से सायण

१. देखें बृहत्सर्वानुक्रमणी के सम्पादक पं० रामगोपाल की २०वें काण्ड के आरम्भ की टिप्पणी।
2. American Journal of Philolygy, October, 1921, p. 367, पञ्चपटलिका की समालोचना।

भाष्य सहित अथर्ववेद का संस्करण निकाला था। मुम्बई संस्करण पहले संस्करण की अपेक्षा बहुत अच्छा है, परन्तु इसमें भी अनेक अशुद्धियां हैं। हमारे मित्र पं० रामगोपाल जी ने हमारी प्रार्थना पर दन्त्योष्ठ-विधि नाम का एक लक्षण ग्रन्थ सन् १९२१ में प्रकाशित किया था। उसके देखने से मुद्रित शौनकीय शाखा के अनेक अपपाठ शुद्ध हो सकते हैं। विशेष देखें दन्त्योष्ठविधि १. ११., २. ३ तथा २.५ इत्यादि।

पञ्चपटलिका और शौनकीय शाखा-क्रम – पञ्चपटलिका में अथर्ववेद का अठारहवां काण्ड पहले है और सतारहवां काण्ड उसके पश्चात् है। हम इस भेद का कारण नहीं समझ सके। जार्ज मैल्विल बोलिंग की सम्मति है कि पञ्चपटलिका का पाठ ही आगे पीछे हो गया है –

At least two other passages are similarly misplaced, and there are besides probably the lacunas already mentioned.[1]

अर्थात् पञ्चपटलिका के पाठों में उलट-पलट हुआ है।

५. **जाजलाः** -- गणरत्नमहोदधि ३.२३१ के अनुसार **जाजलिनोपत्यं जाजलः** नाम बनता है। पाणिनीयसूत्र ६.४.१४४ पर महाभाष्यकार वार्तिकानुसार जाजलाः प्रयोग पढ़ता है। जाजलों के पुरुषसूक्त का वर्णन हम पृ० १८५ पर कर चुके हैं। बाईसवें अर्थात् **अरणिलक्षण परिशिष्ट** के दूसरे खण्ड में लिखा है—**बाहुमात्रा देवदर्शैर् जाजलैररुमात्रिका ॥३॥**

यहां अरणि के सम्बन्ध में जाजलों का मत दर्शाया है।

६. **जलदाः**—अथर्वपरिशिष्ट २.५ में जलदों की निन्दा मिलती है—

पुरोधा जलदो यस्य मौदो वा स्यात्कदाचन। अब्दाद्दशभ्योमासेभ्यो राष्ट्रभ्रंशं स गच्छति ॥

अर्थात् —जलदशाखीय को पुरोहित बनाकर राजा का राष्ट्र नष्ट हो जाता है।

आथर्वण परिशिष्ट अरणिलक्षण खण्ड २ में इस शाखा वालों का जलदायन नाम से स्मरण किया गया है।

७. **ब्रह्मवदाः** इस शाखा का नाम चरणव्यूह में मिलता है।

क्या ब्रह्मवद और भार्गव एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं – बाईसवें अथर्व परिशिष्ट का नाम अरणिलक्षण है। इसके दशम अर्थात् अन्तिम खण्ड में लिखा है कि यह परिशिष्ट पिप्पलाद कथित है—

एतदेवं समाख्यातं पिप्पलादेन धीमता ।४।।

अब विचारने का स्थान है कि इस परिशिष्ट के दूसरे खंड में अरणि-मान के विषय में आठ आचार्यों के मत दिए गए हैं। और पिप्पलाद से अतिरिक्त आठ ही आथर्वण शाखाकार आचार्य हैं। अरणिलक्षण में स्मरण किए गए आचार्य हैं – **स्तौदायन, देवदर्शी, जाजलि, चारणवैद्य, मौद, जलदायन, भार्गव और शौनक।** पिप्पलाद ने इस परिशिष्ट में अपने नाम से अपना मत नहीं दिया। अन्य आठ आचार्यों में से सात निश्चित ही आथर्वण संहिताकार हैं। आठवां नाम भार्गव है। प्रकरणवशात् यह भी संहिताकार ही होना चाहिए। वह संहिताकार ब्रह्मवद के अतिरिक्त अन्य है नहीं, अतः ब्रह्मवद का ही गोत्र-नाम भार्गव होगा। मारीस ब्लूमफील्ड के ध्यान में यह बात नहीं आई, इसी कारण उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण के १३ पृष्ठ पर ब्रह्मवदों के वर्णन में लिखा था—

'Not found in Atharvana literature outside of the Caranavyuha.

---

१. पूर्वोद्धृत जर्नल, पृ० ३६७

अर्थात् चरणव्यूह के अतिरिक्त अथर्व वाङ्मय में ब्रह्मवद शाखा का नाम नहीं मिलता।

यदि हमारा पूर्वोक्त अनुमान ठीक है, जिसकी अत्यधिक संभावना है, तो ब्रह्मवदों का वर्णन अथर्व वाङ्मय में भार्गव नाम के अन्तर्गत मिलता है।

८. देवदर्शाः—श्मशान के मान-विषय में कौशिक सूत्र खण्ड ३५ में लिखा है—"एकादशभिर्देवदर्शिनाम् ॥७॥ अर्थात्—देवदर्शियों का मान ग्यारह से है।

शौनकों के मान का इनसे विकल्प है। देवदर्शियों का उल्लेख जाजलों के वर्णन में भी आ चुका है। पाणिनीय गण ४-३-१०६ में देवदर्शन नाम मिलता है।

९. चारणवैद्याः—कौशिक सूत्र ६.३७ की व्याख्या में केशव लिखता है—त्वमग्ने व्रतपा असि तृचं सूक्तं कामस्तदग्र इति पञ्चर्चं सूक्तम्। एते चारणवैद्यानां पठ्यन्ते।

अर्थात्—चारणवैद्यों के तन्त्र में ये सूक्त पढ़े जाते हैं।

अथर्व परिशिष्ट २२.२ में लिखा है—चारणवैद्यं जंद्यं च मौदेनाष्टांगलानि च ॥४॥

संहिता प्रमाण—वायु पुराण ६१.६९ तथा ब्रह्माण्ड पुराण २.३५.७८-७९ में चारणवैद्यों की संहिता की मन्त्र-संख्या कही है। इससे प्रतीत होता है कि कभी यह संहिता बड़ी प्रसिद्ध रही होगी। दोनों पुराणों का सम्मिलित पाठ नीचे लिखा जाता है—

तथा चारणवैद्यानां प्रमाणं संहितां शृणु। षट्सहस्राणामृचामुक्तमृचः षड्विंशतिः पुनः ॥
एतावदधिकं तेषां यजुः कामं विवक्ष्यति।[1]

अर्थात्—चारणवैद्यों की संहिता में ६०२६ ऋचाएं हैं।

आथर्वण मन्त्र संख्या—चरणव्यूह में आथर्वण शाखाओं की मन्त्र संख्या द्वादशैव सहस्राणि अर्थात् १२००० लिखी है।[2] चरणव्यूहों में एक और भी पाठ है—

द्वादशैव सहस्राणि ब्रह्मत्वं साभिचारिकम्। एतद्वेदरहस्यं स्यादथर्ववेदस्य विस्तरः ॥

इस श्लोक का अभिप्राय भी पूर्ववत् ही है।

रहस्य—प्रतीत होता है कि यहां वेद-रहस्य में मन्त्र आदि के परिमाण का संकेत प्रदर्शित था। ब्रह्माण्ड और वायु पुराणों में चारणवैद्यों की संख्या गिना कर एक और आथर्वण मन्त्र संख्या दी है। उस संख्या वाले पाठ बहुत अशुद्ध हो चुके हैं तथापि विद्वानों के विचारार्थ आगे दिये जाते हैं—

एकादश सहस्राणि दश* चान्या दशोत्तराः। ऋचश्चान्या)
ऋचां दश सहस्राणि अशीतिस्त्रिशतानि* च ॥७०॥ (ह्यशीतिस्त्रिंशदेव)
सहस्रमेकं मन्त्राणामृचामुक्तं प्रमाणतः।
एतावद् भृगुविस्तारमन्यच्चार्थविकं बहु ॥७१॥ (एतावानृचि विस्तारो ह्यन्यः)
ऋचामथर्वणां पञ्च सहस्राणि विनिश्चयः।
सहस्रमन्यद्विज्ञेयमृषिभिर्विंशतिं विना ॥७३॥
एतदङ्गिरसा प्रोक्तं तेषामारण्यकं पुनः। (एतदङ्गिरसां)

---

१. ब्रह्माण्ड—किमपि वक्ष्यते। ये पाठ संदिग्ध हैं।

२. तुलना करें—ब्रह्मप्रोक्त याज्ञवल्क्य संहिता अ० १ श्लोक ३५। संभवतः चरणव्यूहकार ने यह श्लोक यहीं से लिया हो।

यहां मूल पाठ वायु से दिया गया है, तथा कोष्ठों में ब्रह्माण्ड पुराण के आवश्यक पाठान्तर भी दे दिए हैं। इन श्लोकों से प्रतीत होता है कि भृगु और अङ्गिरसों की पृथक्-पृथक् संख्या यहां दी गई है। ब्रह्मवद का भार्गव होना पूर्व कहा जा चुका है। उसका भी इस वर्णन से कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है।

आथर्वण चरणव्यूह में सारी शाखाओं की मन्त्र-संख्या के विषय में लिखा है—

तेषामध्ययनम्—

ऋचां द्वादशसहस्राण्यशीतिस्त्रिशतानि च।
पर्यायिकं द्विसहस्राण्यन्यांश्चैवार्चिकान् बहून्।
एतद्ग्राम्यारण्यकानि षट् सहस्राणि भवन्ति।

अर्थात् – ऋचाएं १२३८० हैं। पर्याय २००० है। ग्राम्यारण्यक ६००० हैं। यह पाठ भी बहुत स्पष्ट नहीं है।

अथर्ववेद के अनेक नाम

१. अथर्वाङ्गिरसः	अथर्ववेद १०.७.२०
२. भृग्वंगिरसः	आथर्वण याज्ञिक-ग्रन्थों में
३. ब्रह्मवेद	आथर्वण याज्ञिक ग्रंथों में
४. अथर्ववेद	सर्वत्र प्रसिद्ध

पहले दो नामों में भृगु और अथर्वा शब्द एक ही भाव के द्योतक प्रतीत होते हैं। परलोकगत मौरीस ब्लूमफील्ड ने अपने अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण नामक अंग्रेजी ग्रन्थ के आरम्भ में इन नामों के कारणों और अर्थों पर बड़ा विस्तृत विचार किया है। उनकी सम्मति है कि अथर्वा वा भृगु शब्द शान्त कर्मों के लिए हैं और अङ्गिरस शब्द घोर आदि कर्मों के लिए हैं। चूलिकोपनिषद् में अथर्ववेद को भृगुविस्तर लिखा है। वायु पुराण के पूर्व लिखित ७२ वें श्लोक में भी भृगुविस्तर शब्द आया है। यह शब्द भी भृग्वङ्गिरस नाम पर प्रकाश डालता है।

अथर्ववेद सम्बन्धी एक आगम—वसिष्ठ और अथर्ववेद—किरातार्जुनीय १०.१० का अन्तिम पाठ है—कृतपदपंक्तिरथर्वणेव वेदः।

इसकी टीका में मल्लिनाथ लिखता है – अथर्वणा वसिष्ठेन कृता रचिता पदानां पंक्तिरानुपूर्वी यस्य स वेदः चतुर्थत्रेव इत्यर्थः। अथर्वणस्तु मन्त्रोद्धारो वसिष्ठकृत इत्यागमः।

अर्थात् - अथर्व का मन्त्रोद्धार वसिष्ठ ने किया, ऐसा आगम है। हमने यह आगम अन्यत्र नहीं सुना। न ही प्राचीन ग्रन्थों में कोई ऐसा संकेत है। इस आगम का मूल जाने बिना इस पर अधिक लिखना व्यर्थ है।

आपव वसिष्ठ—रघुवंश काव्य १,५९ के अनुसार आपव वसिष्ठ अथर्वनिधि था। बृहन्नारदीय ८.६३ में भी ऐसा लेख है।

*

अष्टादश अध्याय

मिश्रित शाखाएं

१. आश्मरथाः—काशिकावृत्ति ४. ३. १०५ पर आश्मरथः कल्पः का उदाहरण मिलता है। भारद्वाज आदि श्रौतसूत्रों में इति आश्मरथ्यः (१. १६.७) इति आलेखन (१. १७. १) कह कर दो आचार्यों का मत प्रायः उद्धृत किया गया है। उनमें से आश्मरथ्य का पिता ही इस सौत्रशाखा का प्रवक्ता है। काशिकावृत्ति के अनुसार आश्मरथ आचार्य भल्लु शाट्यायन और ऐतरेय आदि आचार्यों से अवर-कालीन है।

आश्मरथ्य आचार्य का मत वेदान्तसूत्र १. ४. २० में लिखा गया है। चरक सूत्रस्थान १. १० में—विश्वामित्राश्वरथ्यौ च मुद्रित पाठ है। सम्भव है आश्मरथ्य के स्थान में आश्वरथ्य अशुद्ध पाठ हो गया हो।

२. काश्यपाः—काशिकावृत्ति ४. ३. १०३ पर लिखा है—काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीते काश्यपिनः। इस उदाहरण से काशिकाकार बताता है कि ऋषि काश्यप प्रोक्त एक कल्पसूत्र था। इस प्रसंग में व्याकरण महाभाष्य ४. २. ६६ भी द्रष्टव्य है।

कश्यप का धर्मसूत्र प्रसिद्ध ही है। इसका एक हस्तलेख होशियारपुर में है। इस धर्मसूत्र के प्रमाण विश्वरूप आदि अनेक पुराने टीकाकारों ने अपने ग्रंथों में दिये हैं। सम्भव है कि कश्यप के कल्पसूत्र का ही अन्तिम भाग कश्यप धर्मसूत्र हो। महाभारत आश्वमेधिकपर्व में ९६ अध्याय हैं। यह और इससे अगले अध्याय दाक्षिणात्य पाठ में ही मिलते हैं। उत्तरीय पाठ में इनका अभाव है। इस ९६ अध्याय के सोलहवें श्लोक में काश्यप के धर्मशास्त्र का नाम मिलता है।

वाजसनेय प्रातिशाख्य ४. ५ में काश्यप उद्धृत है।

३. कर्दमायन – मत्स्य पुराण १९७.१ में कर्दमायन शाखेयाः पाठ है। कर्दम २१ प्रजापतियों में एक था। शान्ति पर्व ३४२.३७

४. कार्मन्दाः—काशिकावृत्ति ४.३.१११ से इस शाखा का पता लगता है।

५. कार्शाश्वाः—कार्मन्दों के साथ काशिका में इस सूत्र का भी नाम मिलता है।

६. क्रौडाः—महाभाष्य ४. ६. ६६ पर क्रौडाः। काङ्कताः। मौदाः। पैप्पलादाः नाम मिलते हैं। क्रौड कोई संहिता वा ब्राह्मणकार है।

७. काङ्कताः—क्रौडाः के साथ काङ्कताः प्रयोग संख्या ५ में आ गया है। आपस्तम्ब श्रौत १४. २०. ४ में कङ्कति ब्राह्मण उद्धृत है।

८. वाल्मीकाः—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५. ३६ के भाष्य में माहिषेय लिखता है—वाल्मीकेः शाखिनः। देखो पूर्व पष्ठ १०५

पूर्व पृष्ठ १०५ पर हरिषेण कालिदास का रघुवंशस्थ श्लोक उद्धृत कर चुके हैं। तदनुसार मंत्र-कृत वाल्मीकि ही रामायण का कर्ता था। अश्वघोष उसे च्यवन ऋषि का पुत्र लिखता है। निस्सन्देह वह राम का समकालीन था। उसके रामायण को ईसा पूर्व दूसरी शती का लिखना महान् अज्ञान है।[1]

यदि कोई ऐसी बात होती, तो अश्वघोष सदृश बौद्ध विद्वान् इस पर अवश्य कटाक्ष करता। वस्तुतः ईसाई मतान्धता का पारावार नहीं है।

९. शैत्यायनः।

१०. कोहलीपुत्राः—तैत्तिरीय ब्राह्मण १७. २ के भाष्य में कोहलीपुत्र इसी शाखा का पाठान्तर है। वायुपुराण ६१. ४३ के अनुसार कोहल साम शाखीय था।

गोभिलगृह्य ३. ४. ३३ अन्तर्गत कौहलीयाः पद के भाष्य में भट्ट नारायण लिखता है—

कौहलीया नाम शाखिनः।

साम शाखा की कोहल शिक्षा सम्प्रति मिलती है।

११. पिङ्गल शाखा—महाभाष्य में पिङ्गल काण्वस्य छात्राः पाठ है। एक पैङ्गलायनि ब्राह्मण बौधायन श्रौत २. ७ में उद्धृत है।

१२. पौष्करसादाः—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५. ४० के भाष्य में माहिषेय लिखता है—

शैत्यायनादीनां कोहलीपुत्र-भारद्वाज-स्थविरकौण्डिन्य-पौष्करसादीनां शाखिनां।

इनमें से भारद्वाज और कौण्डिन्य शाखाओं का वर्णन याजुष अध्याय में हो चुका है। शेष तीन अब लिख दी गई हैं। पौष्करसादि आदि को तैत्तिरीय प्रातिशाख्य भाष्य में अन्यत्र भी शाखा नाम से लिखा गया है।

१३. प्लाक्षाः—प्लाक्षेः शाखिनः—तैत्तिरीय प्रतिशाख्य १४. १० के माहिषेय भाष्य में ऐसा प्रयोग है।

१४. प्लाक्षायणाः—माहिषेय भाष्य १४.११ में इसे शाखा माना है। यह प्लाक्षों से भिन्न शाखा है।

१५. वाडभीकाराः—माहिषेय भाष्य १४. १३ में इसका उल्लेख है।

१६. साङ्कृत्याः—माहिषेय भाष्य १६. १६ में सांङ्कृत्यस्य शाखिनाः प्रयोग है।

धर्माचार्य सांकृति भारत-रचना के समय स्वर्ग सिधार गया था। शान्ति पर्व २५०. १३

इनमें से कुछ शाखाएं संभवतः सौत्र शाखाएं होंगी। इनमें से कुछ का संबंध कृष्ण याजुषों से है।

१७. त्रिखर्वाः—ताण्ड्य ब्राह्मण २. ८. ३ में इस शाखा का नाम मिलता है।

१८-१९. तैतिलाः शैखण्डाः, सौकरसद्याः—ये तीन नाम महाभाष्य ६. ४. १४४ में मिलते हैं। इनके साथ लांङ्गला आदि नाम भी हैं, पर उनका उल्लेख सामवेद के प्रकरण में हो गया है। पाणिनीय-

१. पृ० ४२, संस्कृत साहित्य का इतिहास, कीथ।

गण ३. ३. १०६ में भी अनेक संहिता प्रवचनकर्ता ऋषियों के नाम हैं। उनमें से शौनक आदि का वर्णन हो चुका है। शेष शार्ङ्गरव, अश्वपेय आदि नामों का शोधन होना आवश्यक है।

२०. प्रावचन चरण—गङ्गराज श्री पुरुष के शक ६९३ के ताम्रशासन में लिखा है—हारितगोत्रस्य नीलकण्ठनामधेयस्य प्रावचनचरणस्य।[1]

२१. मीमांसा शाखा—तैत्तिरीय प्रतिशाख्य ५. ४१ में यह स्मृत है।

वेद शाखा सम्बन्धी जितनी सामग्री हमारे ज्ञान में आ चुकी है, उस का वर्णन हो चुका। बहुधा यह वर्णन का एक प्रयोजन यह भी है कि आर्य विद्वान् यदि यत्न करेंगे तो अनेक अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थ सुलभ हो सकेंगे। वेद सम्बन्धी इतनी विशाल ग्रन्थ राशि के अनेक ग्रन्थरत्न अब भी आर्य ब्राह्मणों के घरों में सुरक्षित मिल सकते हैं। केवल आवश्यकता है, परिश्रमी अन्वेषक की।

*

1. E. I., Vol. XXVII, p. 151

ऊनविंश अध्याय

एकायन शाखा

पाञ्चरात्र संहिताओं में एकायन वेद की बड़ी महिमा गाई गई है। इस आगम का आधार ही इस ग्रन्थ पर है। श्रीप्रश्न संहिता में लिखा है—

वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्। तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत् क्रियावताम्॥

अर्थात्—एकायन वेद अत्यन्त श्रेष्ठ है।

इसी विषय पर ईश्वरसंहिता के प्रथमाध्याय में लिखा है—

पुरा तोताद्रिशिखरे शाण्डिल्योऽपि महामुनिः। समाहितमना भूत्वा तपस्तप्त्वा सुदारुणम्॥
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च। साक्षात् संकर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम्॥
सुमन्तुं जैमिनिं चैव भृगुं चैवौपगायनम्। मौञ्जायनं च तं वेदं सम्यगध्यापयत् पुरा॥
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि।

अर्थात्—शाण्डिल्य ने साक्षात् संकर्षण से एकायन वेद प्राप्त किया। वह वेद उसने सुमन्तु, जैमिनि, भृगु औपगायन, और मौञ्जायन को पढ़ाया। यह एकायन वेद सारे संसार में प्रसिद्ध है।

पाञ्चरात्र आगम वालों ने अपने वेद की श्रेष्ठता जताने के लिए निस्संदेह बहुत कुछ घड़ा है, तथापि एकायन नाम का एक प्राचीन शास्त्र था अवश्य। छान्दोग्य उपनिषद् ७.१.२ में लिखा है—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि...वेदानां वेदं.. निधिं वाकोवाक्यमेकायनम्।

अर्थात्–(भगवान् सनत्कुमार को नारद कहता है) हे भगवन् मैं ने ऋग्वेदादि पढ़ा है, और एकायन शास्त्र पढ़ा है। उपनिषद् का एकायन शास्त्र क्या यही पाञ्चरात्र वाला एकायन शास्त्र था, यह हम नहीं कह सकते। कई पाञ्चरात्र श्रुतियां और उसी प्रकार के उपनिषदादि वचन उत्पल अपनी स्पन्दकारिका में लिखता है। (पृ० २, ८, २२, २६, ३५)। बहुत सम्भव है कि ये श्रुतियां और उपनिषद् सदृश वचन एकायनशास्त्र के ग्रन्थों से ली गई हों।

श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने जयाख्य संहिता की भूमिका[1] में लिखा है कि काण्वशाखामहिमा संग्रह[2] में नागेश प्रतिपादन करता है कि एकायन शाखा काण्वशाखा ही थी। सात्वत शास्त्र के अध्ययन से नागेश की कल्पना युक्त प्रतीत नहीं होती। जयाख्य संहिता का बीसवां पटल प्रतिष्ठाविधि कहा जाता है। उसमें लिखा है—

---

१. पृ० ६, टिप्पणी ४
२. इस ग्रन्थ का हस्तलेख राजकीय प्राच्य पुस्तकालय मद्रास के संग्रह में है। देखें त्रैवार्षिक सूची भाग ३, १वी, पृ० ३२९९

ऋङ्मन्त्रान्पाठयेत्पूर्वं वीक्ष्यमाणुदग्दिशम् ।
यजुर्वृन्दं तोष्णवं यत् पाठयेद्देशिकस्तु तत् ॥२६२॥
गायेत् सामानि शुद्धानि सामशः पश्चिमस्थितः ।
भक्तश्चोदकस्थितो ब्रूयाद्दक्षिणस्थो ह्याथर्वणम् ॥२६३॥

अर्थात्—प्रत्येक वेद के मन्त्रों से एक-एक दिशा में क्रिया करें। इससे आगे वहीं लिखा है—

एकायनीयशाखोत्थान् मन्त्रान् परमपावनान् ॥२६६॥

अर्थात्—आप्त यतियों को एकायनीय शाखा के परमपावन मन्त्र पढ़ाए।

यदि एकायन शाखा चारों वेदों के अन्तर्गत होती तो वेदों को कहकर पुनः इसका पृथक् उल्लेख न होता। छान्दोग्योपनिषद् के पूर्व प्रदर्शित प्रमाण में भी एकायन शास्त्र वेदों में नहीं गिना गया, प्रत्युत अन्य विद्याओं के साथ गिना गया है।

एकायन शाखा का स्वरूप—पाञ्चरात्रों का एकायन शाखा का वर्णन महाभारत शांतिपर्व ३५८. ८०-८२ श्लोकों में निम्न प्रकार से मिलता है—

पुरुषः पुरुषं गच्छेन्निष्क्रियं पाञ्चविंशकम् । एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ।
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते । एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः ॥

अर्थात्—एक वैकारि पुरुष (जीव), निष्क्रिय पुरुष (परमात्मा), सांख्य, योग और वेदारण्यक। ये पांचों जिसमें परस्पर अंग हों वह पाञ्चरात्र कहता है। यह एकायनों का नारायण परक धर्म है।

एकायन धर्म का निर्देश महाभारत शान्तिपर्व अ० २१९.३७ में भी मिलता है।

सात्वत शास्त्रों के अध्ययन से हमें प्रतीत होता है कि एकायन शास्त्र भक्तिपरक शास्त्र था। उस में वेदों से भी मन्त्र लिए गए थे, और ब्राह्मणादि ग्रन्थों से भी संग्रह किया था, तथा अनेक बातें स्वतन्त्रता से भी लिखी गयी होंगी। वेदों में से यजुर्वेद की सामग्री इससे अधिक होगी। सात्वत संहिता पच्चीसवें परिच्छेद में लिखा है—एकायनान् यजुर्मयानाभावि तदनन्तरम् ॥६४॥

सात्वत संहिता के पच्चीसवें परिच्छेद में एकायन संहिता के दो मन्त्र लिखे हैं। वे नीचे दिए जाते हैं—

१. ओं नमो ब्रह्मणे ॥५३॥
२. अजस्य नाभावित्यादिमन्त्रै रेकायनैस्ततः ॥८॥

अजस्य नाभौ मन्त्र ऋग्वेद में १०.८२.६ मन्त्र है।

पाञ्चरात्र की अनेक संहिताओं में से एकायन मन्त्रों का संग्रह करना, एकायन शास्त्र के ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किसी भावी विद्वान् को यह काम अवश्य करना चाहिए।

★

विंश अध्याय

वेदों के ऋषि

वैदिक शाखाओं का वर्णन हो चुका । शाखा-प्रवचन काल भी निर्णीत कर दिया गया । अब प्रश्न होता है कि वेदों का काल कैसे जाना जाए । वेदों का काल जानने के लिए पाश्चात्य लेखकों ने अनेक कल्पनाएं की हैं । वे कल्पनाएं हैं सारी निराधार । उनसे कोई तथ्य तो जाना नहीं जा सकता, हां साधारण जन उन्हें पढ़ कर भ्रम में अवश्य पड़ सकते हैं ।

ऋषि इतिहास आवश्यक - वेदों का काल जानने के लिए वेदों के ऋषियों का इतिहास जानना बड़ा सहायक है । हम जानते हैं कि वेद मन्त्रों के जो ऋषि लिखे हुए हैं, अथवा मन्त्रों के सम्बन्ध में अनुक्रमणियों में जो ऋषि दिये हैं, वे सब उन मन्त्रों के आदि द्रष्टा नहीं है । मन्त्र उनमें से अनेक से बहुत पहले विद्यमान चले आ रहे हैं, तथापि उन ऋषियों का इतिवृत जानने से हम इतना कह सकेंगे कि अमुक अमुक मन्त्र शाखा-प्रवचन काल से इतना काल पहले अवश्य विद्यमान थे । वे मन्त्र उस काल से पीछे के हो नहीं सकते ।

पुराणों ने उन ऋषियों का एक अच्छा ज्ञान सुरक्षित रखा है । वायुपुराण ५९.५६ ब्रह्माण्डपुराण २.३२.६२, मत्स्यपुराण १४५.५८ से यह वर्णन आरम्भ होता है । इन तीनों पुराणों का यह पाठ बहुत अशुद्ध हो चुका है, तथापि निम्नलिखित श्लोक कुछ शुद्ध करके लिखे जाते हैं । इनके शोधन में बहुत नहीं, पर हम कुछ सफल अवश्य हुए हैं । श्लोकों के अंक ब्रह्माण्ड के अनुसार हैं—

ऋषीणां तप्यतामुग्रं तपः परमदुष्करम् ॥६७॥
मन्त्राः प्रादुर्बभूवुर्हि पूर्वमन्वन्तरेष्विह ।
असन्तोषाद् भयाद् दुःखात् सुखात्[1]छोकाच्च पंञ्चधा ॥६८॥
ऋषीणां तपः कार्त्स्न्येन दर्शनेन यदृच्छया ।

इन श्लोकों का सही अभिप्राय है कि तप आदि आठ प्रभावों से ऋषियों को मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ । वह तप अनेक कारणों से किया गया । यही भाव निरुक्त और तैत्तिरीय आरण्यक (?) में मिलता है ।

पांच प्रकार के ऋषि - जिन ऋषियों को मन्त्र प्रादुर्भूत हुए, वे पांच प्रकार के हैं । इन को महर्षि, ऋषि, ऋषीक, ऋषिपुत्रक, और श्रुतर्षि कहते हैं चरकतन्त्र सूत्रस्थान १. ७ की व्याख्या में भट्टार हरिचन्द्र चार प्रकार के मुनि कहता है मुनिनां चतुर्विधो भेदः । ऋषयः ऋषिकाः ऋषिपुत्रा महर्षयश्च ।

---

१. मत्स्य-मोहाच्

हरिश्चन्द्र श्रुतर्षियों को नहीं गिनता । इन पांच प्रकार के ऋषियों में से पुराणों में अब तीन ही प्रकार के ऋषियों का वर्णन रह गया है । शेष दो प्रकार के ऋषियों के संबंध के पाठ नष्ट हो चुके हैं । इन ऋषियों के विषय का पुराणस्थ पाठ आगे लिखा जाता है—

अतीतानागतानां च पञ्चधा ह्यार्षकं स्मृतम् । अतस्त्वृषीणां वक्ष्यामि तत्र ह्यार्षसमुद्भवम् ॥७०॥
इत्येता ऋषिजातीस्ता नामभिः पञ्च वै शृणु ॥९५॥
अर्थात्—अब पांच प्रकार के ऋषियों का वर्णन किया जाता है ।

१. महर्षि=ईश्वर—भृगुर्मरीचिरत्रिश्च ह्यङ्गिराः पुलहः क्रतुः ।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्चपुलस्त्यश्चेति ते दश ॥९६॥

ब्रह्मणो मानसा ह्येते उद्भूताः स्वयमीश्वराः । परत्वेनर्षयो यस्मात्-स्मृतास्तस्मान्महर्षयः ॥९७॥
ऋषि कोटि में प्रथम दस महर्षि हैं । तुलना करें शान्ति पर्व २०७.३-५ तथा ३४९.६७-६८ से । वे स्वयं ईश्वर और ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं ।

२. ऋषि—इन दस भृगु आदि महर्षियों के पुत्रों का वर्णन आगे मिलता है । वे ऋषि कहाते हैं—

ईश्वराणां सुता ह्येते ऋषयस्तान्निबोधत । काव्यो बृहस्पतिश्चैव कश्यपश्च्यवनस्तथा ॥९८॥
उतथ्यो वामदेवश्च अगस्त्यश्चौशिजस्तथा ।[1] कर्दमो विश्रवाः शक्तिर्वालखिल्यास्तथार्वतः ॥९९ ॥
इत्येते ऋषयः प्रोक्तास्तपसा[2] चर्षितां गताः ।

अर्थात्—उशना काव्य, बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, उतथ्य, वामदेव, अगत्स्य, उशिक्, कर्दम, विश्रवा, शक्ति, बालखिल्य और अर्वत, वे ब्रह्मर्षियों के पुत्र ऋषि हैं, जो तप से इस पदवी को प्राप्त हुए ।

३. ऋषि पुत्र=ऋषीक— ऋषिपुत्रानृषीकांस्तु गर्भोत्पन्नान्निबोधत ॥१००॥
वत्सरो नग्नहूश्चैव भरद्वाजस्तथैव च । ऋषिदीर्घतमाश्चैव बृहदुक्थः शरद्वतः ॥१०१॥
वाजश्रवाः सुवित्तश्च वश्याश्वश्च[3] पराशरः । दधीचः शंशपाश्चैव राजा वैश्रवणस्तथा ।१०२।
इत्येते ऋषिकाः प्रोक्तास्ते सत्यादृषितां गताः ।

ऋषि पुत्र और ऋषिक समान हैं । (तुलना करें शाति पर्व १ २.४८) शरद्वत पाठ चिन्त्य है । शंशप का पुत्र शांशपायन पुराण प्रवक्ता हुआ ।

उन्नीस भृगु— पुराणों में भृगुकुल के उन्नीस मन्त्रकृत ऋषि कहे गए हैं । उनके नाम निम्न-लिखित श्लोकों में दिये हैं—

एते मन्त्रकृतः सर्वे कृत्स्नशस्तान्निबोधत । भृगुः काव्यः प्रचेताश्च दधीचो ह्याप्नवानपि ॥१०४॥
और्वोऽथ जमदग्निश्च विदः सारस्वतस्तथा । आर्ष्टिषेणश्च्यवनश्च वीतहव्यः सुमेधसः ॥१०५॥
वैन्य पृथुर्दिवोदासो वाध्र्यश्वो गृत्सशौनकौ । एकोनविंशतिर्ह्येते भृगवो मन्त्रवादिनः ॥१०६॥

१. वायु—अयोज्यश्चौशि० । ब्रह्माण्ड—अपास्यश्चोशि० । मत्स्य—अगस्त्यः कौशिकस्तथा ।
२. वायु—प्रोक्ता ज्ञानयो ऋषितां ।
३. श्या वा श्वश्च ?

१. भृगु
२. काव्य (उशना-शुक्र)
३. प्रचेता
४. दध्यङ् (आथर्वण)
५. आप्नवान्
६. और्व (ऋचीक)
७. जमदग्नि
८. विद
९. सारस्वत
१०. आर्ष्टिषेण
११. च्यवन
१२. वीतहव्य
१३. सुमेधाः
१४. वैन्य पृथु
१५. दिवोदास
१६. बाध्र्यश्व
१७. गृत्स (मद)
१८. शौनक

ये अठारह ऋषि नाम हैं। पुराणों में कुल संख्या उन्नीस कही है, और वेन्य तथा पृथु दो व्यक्ति गिने हैं। वैदिक साहित्य में वैन्य पृथु एक ही व्यक्ति है, अतः हमने यह एक नाम माना है। इस प्रकार उन्नीसवां नाम कोई और खोजना पड़ेगा। इनमें से अनेक ऋषि भृगु ही कहे जाते हैं। उनको मूल भृगु से सदा पृथक् जानना चाहिए। इस कुल का सर्वोत्तम वृत्तान्त महाभारत आदि पर्व ६०. ४० से आरम्भ होता है। तदनुसार भृगु का पुत्र कवि था। कवि का शुक्र हुआ, जो योगाचार्य और दैत्यों का गुरु था। भृगु का एक पुत्र च्यवन था। इस च्यवन का पुत्र और्व था। और्व पुत्र ऋचीक था, और ऋचीक का पुत्र जमदग्नि हुआ। महाभारत में इससे आगे अन्य वंशों का वर्णन चल पड़ता है। पुराणों के अनुसार च्यवन और सुकन्या के दो पुत्र थे। एक था आप्नवान् और दूसरा दधीच वा दध्यङ्। आप्नवान् का पुत्र और्व था। और्वों का स्थान मध्यदेश था। यहीं पर इन भार्गवों का कार्तवीर्य अर्जुन से झगड़ा आरम्भ हो गया। यहीं पर अर्जुन के पुत्रों ने जमदग्नि का वध किया था। वीतहव्य पहले क्षत्रिय था। एक भार्गव ऋषि के वचन से वह ब्राह्मण हो गया। उसी के कुल में गृत्समद और शौनक हुए थे। गृत्समद दाशरथि राम का समकालिक था।

भृगु-कुल और अथर्ववेद—पृ० २५६ पर हम लिख चुके हैं कि अथर्ववेद का एक नाम भृग्वङ्गिरोवेद भी था। इसका अभिप्राय यही है कि भृगु और अङ्गिरा कुलों का इस वेद से बड़ा संबंध था। भृगु-कुल के ऋषियों के नाम ऊपर लिखे जा चुके हैं। उनमें से भृगु, दध्यङ् और शौनक स्पष्ट ही आथर्वण हैं। यही शौनक कदाचित् आथर्वण शौनक शाखा का प्रवक्ता है। भृगु, गृत्समद, और शुक्र तो अनेक आथर्वण सूक्तों के द्रष्टा हैं। इनमें से भी शुक्र के सूक्त अधिक हैं। और भृग्वङ्गिरा के भी बहुत सूक्त हैं। अतः अथर्ववेद का भृग्वङ्गिरोवेद नाम युक्त ही है।

अथर्ववेद और दैत्यदेश—उशना शुक्र का दैत्य गुरु होना प्रसिद्ध है। फारस, कालडिया, बैबिलोनिया आदि देश ही दैत्य देश थे। शुक्र[1] ने इन देशों में अपने पिता से पढ़ी हुई आथर्वण श्रुतियों का प्रचार अवश्य किया। इसी कारण इन देशों की भाषा में कई आथर्वण शब्द बहुत प्रचलित हो गए। उन्हीं शब्दों में से ऊपर लिखे हुए आलिगी आदि शब्द है। अतः बाल गंगाधर तिलक का यह कहना युक्त नहीं कि ये शब्द कालडिया की भाषा से अथर्ववेद में आये होंगे। ये शब्द तो शुक्र के कारण अथर्ववेद से कालडिया की भाषा में गए हैं।

योरोप दैत्यों की सन्तानों से बसाया गया, इसका विशेष उल्लेख इसी ग्रन्थ के पूर्व पृष्ठ ५१-६१ तथा भाषा का इतिहास पृ० १०८-१०६ पर देखें।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ५१-६३

अङ्गिरा कुल के तेतीस ऋषि—अङ्गिरा कुल के निम्नलिखित तेतीस ऋषि पुराण में लिखे गए हैं—

१. अंगिरा	९. मान्धाता	१७. ऋषभ्	२५. वाजश्रवा
२. त्रित	१०. अम्बरीष	१८. कपि	२६. अयास्य
३. भारद्वाज बाष्कल	११. युवनाश्व	१९. पृषदश्व	२७ सुवित्ति
४. ऋतवाक्	१२. पुरुकुत्स	२०. विरूप	२८. वामदेव
५. गर्ग	१३. त्रसदस्यु	२१. कण्व	२९. असिज
६. शिनि	१४. सदस्युमान	२२. मुद्गल	३०. बृहदुक्थ
७. संकृति	१५. आहार्य	२३. उतथ्य	३१. दीर्घतमा
८. गुरुवीत	१६. अजमीढ़	२४. शरद्वान्	३२. कक्षीवान्

तेतीसवां नाम अशुद्ध पाठों के कारण लुप्त हो गया है। इन बत्तीस नामों में भी अनेक नामों का शुद्ध रूप हम निश्चित नहीं कर सके। इस अङ्गिरा गोत्र में आगे कई पक्ष बन गए हैं, यथा कण्व, मुद्गल कपि इत्यादि। इस कुल का मूल अङ्गिरा बहुत पुराना व्यक्ति था। अङ्गिरा कुल के इन मन्त्रद्रष्टाओं में, मान्धाता, अम्बरीष और युवनाश्व आदि क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे। राजा अम्बरीष भी एक बहुत पुराना व्यक्ति था। महाभारत आदि में नाभाग अम्बरीष नाम से इसका उल्लेख बहुधा मिलता है। अङ्गिरा का भी अथर्ववेद से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। स्वतन्त्र रूप से और भृगु के साथ इसके अनेक सूक्त अथर्ववेद में हैं।

छः ब्रह्मवादी काश्यप

१. कश्यप	३. नैध्रुव	५. असित
२. वत्सार	४. रैभ्य	६. देवल

कश्यप-कुल में छः ऋषि हुए हैं। इनमें से असित और देवल का महाभारत काल के इन्हीं नामों के व्यक्तियों से सम्बन्ध जानना चाहिए। सम्भवतः दोनों पिता पुत्र बहुत दीर्घजीवी थे।

छः आत्रेय ऋषि

१. अत्रि	३. श्यावाश्व	५. आविहोत्र
२. अर्चनाना	४. गविष्ठिर	६. पूर्वातिथि

पांचवें नाम के कई पाठान्तर हैं। सम्भव है यह नाम अन्धिगु हो। अन्धिगु गविष्ठर का पुत्र और ऋग्वेद ९. १०१ का ऋषि है।

सात वासिष्ठ ऋषि

१. वसिष्ठ	३. पराशर	५. भरद्वसु	७. कुण्डिन
२. शक्ति	४. इन्द्रप्रमति	६. मैत्रावारुणि	

वसिष्ठ कुल में ये सात ब्रह्मवादी हुए हैं। इन्ही में एक पराशर है। यही पराशर कृष्ण द्वैपायन का पिता था। कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत और वेदान्तसूत्रों में मन्त्रों को नित्य माना है। कृष्ण सदृश सत्य-वक्ता ऋषि जब अपने पिता के दृष्ट-मन्त्रों को नित्य कहता है, तो इस नित्य सिद्धान्त की गम्भीर विवेचना करनी चाहिए। अनेक आधुनिक व्यक्ति वेद के नित्य सिद्धान्त के समझने में अभी की अशक्त हैं।

तेरह ब्रह्मिष्ठ कौशिक ऋषि

१. विश्वामित्र	५. अघमर्षण	९. कील	१३ धनञ्जय
२. देवरात	६. अष्टक	१०. देवश्रवा	
३. उद्धल (बल)	७. लोहित	११. रेणु	
४. मधुच्छन्दा	८. कत	१२. पूरण	

मत्स्य ने दो नाम और जोड़े हैं। वे हैं शिशिर और शालङ्कायन। वासिष्ठों के वर्णन के पश्चात् वायु पुराण का पाठ त्रुटित हो गया है। वायु पुराण ९१. ९३ के अनुसार देवरात के कृत्रिम पिता विश्वामित्र का निज नाम विश्वरथ था। विश्वरथ के पिता का नाम गाधी था। गाधी के पश्चात् विश्वरथ ने राज्य संभाला। कुछ दिन राज्य करने के अनन्तर विश्वरथ ने राज्य छोड़ दिया और बारह वर्ष तक घोर तपस्या की। इसी विश्वरथ का वसिष्ठ से वैमनस्य हो गया। सत्यव्रत त्रिशंकु नाम का अयोध्या का एक राजकुमार था। उस की विश्वरथ ने बड़ी सहायता की। उसी का पुत्र हरिश्चन्द्र और पौत्र रोहित था। तपस्या के कारण यह विश्वरथ क्षत्रिय से ब्राह्मण ही नहीं; अपितु ऋषि बन गया। ऋषि बनने पर इस का नाम विश्वामित्र हो गया। इसी विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र के यज्ञ में शुनःशेप देवरात को अपना कृत्रिम पुत्र बना लिया। ऐतरेय ब्राह्मण आदि में शुनःशेप की कथा प्रसिद्ध है। मधुच्छन्दा और अघमर्षण धर्म के सुविद्वान् थे। (शा० पर्व २५०.१६)

तीन आगस्त्य ऋषि

१. अगस्त्य	२. दृढद्युम्न (दृढायु)	३. इन्द्रबाहु विध्मवाह)

ये तीन अगस्त्य कुल के ऋषि थे।

दो क्षत्रिय मन्त्रवादी

वैवस्वत मनु और ऐल राजा पुरुरवा, दो क्षत्रिय ऋषि थे।

तीन वैश्य ऋषि

१. भलन्दन	२. वत्स	३. संकील

ये तीन वैश्यों में श्रेष्ठ थे। वैवस्वत मनु ब्राह्मण था, वह क्षत्रिय हो गया। नाभानेदिष्ठ उस का पुत्र था। नाभानेदिष्ठ क्षत्रिय नहीं बना। वह वैश्य हुआ और उसी कुल में ये तीन ऋषि हुए।

इस प्रकार कुल ऋषि ९२ थे। उन का ब्योरा निम्नलिखित है—

भृगु	१९
आङ्गिरस	३३
काश्यप	६
आत्रेय	६
वासिष्ठ	७
कौशिक	१३
आगस्त्य	३
क्षत्रिय	२
वैश्य	३
	९२

ब्रह्माण्ड में कुल संख्या ६० लिखी है, परन्तु मत्स्य में संख्या ६२ ही है। ब्रह्माण्ड का पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। इस से आगे ब्रह्माण्ड में ही इस विषय का कुछ पाठ अधिक मिलता है। वायु का पाठ पहले ही टूट चुका था और मत्स्य का पाठ इस संख्या को गिना कर टूट जाता है। ब्रह्माण्ड में ऋषिपुत्रक और श्रर्तर्षियों का वृत्तान्त भी लिखा है। ब्राह्मणों के प्रवचनकार अन्तिम प्रकार के ही ऋषि हैं। उन के नाम ब्राह्मण भाग में लिखेंगे।

वद मन्त्र, मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों से पूर्व विद्यमान

हम प० २६५ पर लिख चुके हैं कि वेद मन्त्रों के जो ऋषि अब मन्त्रों के साथ अनुक्रमणियों में स्मरण किए जाते है; वे बहुधा मन्त्रों के अन्तिम ऋषि हैं। मन्त्र उन से पहले से चले आ रहे हैं। इस बात को पुष्ट करने वाले दो प्रमाण हम ने अपने **ऋग्वेद पर व्याख्यान** में दिए थे। वे दोनों प्रमाण तथा कुछ नए प्रणाम हम नीचे लिखते हैं—

१. तैत्तिरीय संहिता ३. १, ६. ३०, मैत्रायणी संहिता १. ५८ और ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४ में एक कथा मिलती है। उस के अनुसार मनु के अनेक पुत्रों ने पिता की आज्ञा से पिता की सम्पत्ति बांट ली। उन का कनिष्ठ भ्राता नाभानेदिष्ठ अभी ब्रह्मचर्य वास ही कर रहा था। गुरुकुल से लौट कर नाभानेदिष्ठ ने पिता से अपना भाग मांगा। अन्य द्रव्य वस्तु न रहने पर पिता ने उसे दो सूक्त और एक ब्राह्मण दे कर कहा कि अङ्गिरस ऋषि स्वर्ग की कामना वाले यज्ञ कर रहे हैं। यज्ञ के मध्य में वे भूल कर बैठते हैं। तुम इन सूक्तों से उस भूल को दूर कर दो। जो दक्षिणा वे तुम्हें दें, वही तुम अपना भाग समझो। वे सूक्त ऋग्वेद दशम मण्डल के सुप्रसिद्ध ६१, ६२ सूक्त हैं। ब्राह्मण का एक पाठ तैत्तिरीय संहता के भाष्य में भट्ट भास्कर मिश्र ने दिया है। अनुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के इन सूक्तों का ऋषि नाभानेदिष्ठ है नाभानेदिष्ठ का नाम भी ६१. १८ में मिलता है। इस कथा का अभिप्राय यही है कि ये सूक्त नाभानेदिष्ठ काल से पहले विद्यमान थे, परन्तु इन का ऋषि वही नाभानेदिष्ठ है।[1]

२. ऐतरेय ब्राह्मण ६.१६ तथा गोपथ ब्राह्मण ६.१ में लिखा है कि ऋग्वेद ४.१६ आदि सम्पात ऋचाओं को विश्वामित्र ने पहले (**प्रथमं**) देखा। तत्पश्चात् विश्वामित्र से देखी हुई इन्हीं सम्पात ऋचाओं को वामदेव नें जन साधारण में फैला दिया। कात्यायन सर्वानुक्रमणी के अनुसार इन ऋचाओं का ऋषि वामदेव है, विश्वामित्र नहीं। ये ऋचाएं वामदेव ऋषि से बहुत पहले विद्यमान थीं।

३. कौषीतकि ब्राह्मण १२.२ से कवष ऋषि का उल्लेख आरम्भ होता है। वहां लिखा है कि कवष ने पन्द्रह ऋचा वाला ऋग्वेद १०.३० सूक्त देखा। तत्पश्चात् उस ने इस का यज्ञ में प्रयोग किया। कौषीतकि ब्राह्मण १२.३ में पुनः लिखा है—**कवषस्यैष महिमा सूक्तस्य चानुवेदिता।**

अर्थात् कवष की यह महिमा है, कि वह १०.३० सूक्त का उत्तरवर्ती जानने वाला है।

इस से ज्ञात होता है कि कवष से पहले भी उस सूक्त को जानने वाले ऋषि हो चुके थे। अनेक स्थानों में विद् आदि धातु के साथ अनु का अर्थ क्रमपूर्वक या अनुक्रम से होता है। परन्तु वैसे ही स्थानों में अनु का अर्थ पश्चात् भी होता है। अतः कौषीतकि के वचन का जो अर्थ हमने किया है, वह इस वचन का सीधा अर्थ ही है।

---

[1] ऊपर पृ० १३०-१५५ देखें।

मित्रवर श्री पण्डित ब्रह्मदत्त जी के शिष्य ब्रह्मचारी पं० युधिष्ठिर मीमांसक का एक लेख आर्य-सिद्धान्त विमर्श में मुद्रित हुआ है। उसका शीर्षक है—क्या ऋषि वेद-मन्त्र रचयिता थे। उसमें उन्होंने चार प्रमाण ऐसे उपस्थित किये हैं जिन से हमारे वाला पूर्वोक्त पक्ष ही पुष्ट होता है। उन्हीं के लेख से लेकर दो प्रमाण संक्षिप्त रूप में आगे लिखे जाते हैं। उनके शेष दो प्रमाणों पर हम विचार कर रहे हैं—

१. सर्वानुक्रमणि के अनुसार कस्य नूनं.....। ऋग्वेद १.२४ का ऋषि आजीगर्ति=अजीगर्त का पुत्र देवरात है। यही देवरात विश्वामित्र का कृत्रिम पुत्र बन गया था और इसी का नाम शुनःशेप था। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.३,४ में भी यही कहा है कि शुनःशेप ने कस्य नूनं ऋक् द्वारा प्रजापति की स्तुति की। वररुचि-कृत निरुक्त समुच्चय[1] में इसी सूक्त के विषय में एक आख्यान लिखा है। तदनुसार इस सूक्त का द्रष्टा अजीगर्त स्वयं है। यदि निरुक्तसमुच्चय का पाठ त्रुटित नहीं हो गया, तो शुनःशेप से पूर्व कस्य नूनं आदि मन्त्र विद्यमान थे।

२. तैत्तिरीय संहिता ५.२.३ तथा काठक संहिता २०.१० में ऋग्वेद ३.२२ सूक्त विश्वामित्र दृष्ट हैं। सर्वानुक्रमणी के अनुसार यह सूक्त गाथी-गाधी का है। इस से भी पता लगता है कि विश्वामित्र से पहले यह सूक्त गाधी के पास था।

अनेक प्रमाणों से हमने यह सिद्ध किया है कि मन्त्र द्रष्टा ऋषि मन्त्र रचयिता नहीं थे। वे मन्त्रार्थ-प्रकाशक या मन्त्र विनियोजक आदि ही थे। हम पहले लिख चुके हैं कि भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषि मन्त्र द्रष्टा ऋषि थे। इन भृगु, अङ्गिरा आदि का काल महाभारत-काल से सहस्रों वर्ष पूर्व था। महाभारत युद्ध का काल विक्रम से ३०४० वर्ष पहले है। अतः विचारना चाहिए कि जब वेद-मन्त्र इन भृगु, अंगिरा आदि ऋषियों से भी बहुत पहले अर्थात् विक्रम से ४००० वर्ष से कहीं पहले विद्यमान थे, तो यह कहना कि ऋग्वेद का काल ईसा से २५००-२००० वर्ष पूर्व तक का है, एक भ्रममात्र है।

जो आधुनिक लोग भाषा विज्ञान (Philology) पर बड़ा बल देकर वेद का काल ईसा से २०००-१५०० वर्ष पहले तक का निश्चित करते हैं, उन्हें भृगु-अङ्गिरा आदि के मन्त्रों की भाषा पराशर के मंत्रों से मिलानी चाहिए। पराशर भारत युद्ध काल का है और भृगु अङ्गिरा आदि बहुत पहले हो चुके है। उन्हें पता लगेगा कि उन के भाषा मत की कसौटी वेद मन्त्रों का काल निश्चय करने में अणुमात्र सहायता नहीं देती। वेद मन्त्रों का काल तो ऐतिहासिक क्रम से ही निश्चित हो सकता है, और तदनुसार वेद कल्पनातीत काल से चला आ रहा है। ऋषियों के इतिहास ने ही हमें इस परिणाम पर पहुंचाया है।

पाश्चात्य भाषा मत का मिथ्यात्व इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय तथा भाषा का इतिहास ग्रन्थ में देखिए।

मन्त्रों का पुनः पुनः प्रादुर्भाव

पूर्वोक्त प्रमाणों से यह बात निश्चित हो जाती है कि मन्त्रों का प्रादुर्भाव बार बार होता रहा है। इसीलिए अनेक बार एक ही सूक्त के कई ऋषि होते हैं। यह गणना सौ तक भी पहुंच जाती है। यह बात सिद्ध करती है कि ऋषि मन्त्र बनाने वाले नहीं थे, प्रत्युत वे मन्त्र द्रष्टा थे। इस विषय की विस्तृत आलोचना ऊपर देखें।[2]

---

१. इस के दो संस्करण निकल चुके हैं।　　२. पृ० १३० से आगे।

मन्त्रार्थ द्रष्टा ऋषि

मन्त्रों के बार बार प्रादुर्भाव का एक और भी गम्भीर अर्थ है । हम जानते हैं कि भिन्न-भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में एक ही मन्त्र के भिन्न भिन्न अर्थ किए गए हैं । एक ही मन्त्र का विनियोग भी कई प्रकार का मिलता है। मन्त्रार्थ की यही भिन्नता है जो एक ही मन्त्र में समय-समय पर अनेक ऋषियों को सूझी । इसी लिए प्राचीन आचार्यों ने यह लिखा है कि ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टा भी थे । इस के लिए निम्नलिखित प्रमाण विचार योग्य हैं—

१. निरुक्त २.८ में लिखा है कि शाकपूणि ने संकल्प किया कि मैं सब देवता जान गया हूं। उस के लिए दो लिङ्गों वाली देवता प्रादुर्भूत हुई । वह उसे न जान सका । उस ने जानने की जिज्ञासा की । उस देवता ने ऋ० १.१६४.२६ ऋचा का उपदेश किया । यही मुझ देवता वाला मन्त्र है । इस प्रमाण से पता लगता है कि देवता ने शाकपूणि को ऋचा भी बताई और ऋगन्तर्गत अर्थ भी बताया । तभी शाकपूणि को ऋगर्थ का ज्ञान हुआ और उसने देवता पहचानी । यह मन्त्र तो शाकपूणि से पहले भी प्रसिद्ध था। यह मन्त्र वेद का अंग था और व्यास से पैल आदि इसे पढ़ चुके थे । शाकपूणि स्वयं इस मन्त्र को पढ़ चुका था। फिर भी उस के लिए इस मन्त्र का आदेश हुआ और उसने इस मन्त्र में उभय लिंग देवता देखी ।

२. निरुक्त १३.१२ में लिखा है—न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा । अर्थात्—इन मन्त्रों में अनृषि और तपशून्य का प्रत्यक्ष नहीं होता । अब जो लोग संस्कृत भाषा के मर्म को समझते है, इस वचन को पढ़ते ही वे समझ लेंगे कि इस वचन का अभिप्राय यही है कि मन्त्र बहुधा विद्यमान होते हैं और उन्हीं मन्त्रों में ऋषियों का प्रत्यक्ष होता है । गुलाब का फूल तो इस पृथिवी पर चिरकाल से मिलता है, परन्तु उस फूल के गुणों में वैद्यों की दृष्टि कभी कभी ही गई है । जब जब वह दृष्टि खुलती है, तब तब उसी फूल का एक नया उपयोग सूझता है ।

इस वचन के आगे निरुक्तकार लिखता है—

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् । को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् । मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूलहम् । तस्माद्यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ।

इस सारे वचन का यही अभिप्राय है कि ऋषियों को बहुधा मन्त्रार्थ ही सूझता था। वेंकटमाधव अपने ऋग्भाष्य के अष्टमाष्टक के सातवें अध्याय की अनुक्रमणी में लिखता है कि निरुक्त का यह पाठ किसी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ का पाठ है । वह तो वस्तुतः इसे ब्राह्मणों के नाम से उद्धृत करता है । इससे पता लगता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ऋषि बहुधा मन्त्रार्थ-द्रष्टा ही माने गए हैं । यास्क के एषु प्रत्यक्षम् पद से निरुक्त ७.३ में आए हुए ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः का भी सप्तमी परक ही अर्थ होगा । इससे भी यही पता लगता है कि उपस्थित मन्त्रों में भी ऋषियों की दृष्टियां होती थीं ।

३. निरुक्त १०.१० में लिखा है—ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता । यहां दृष्टार्थ शब्द विचारणीय है । अर्थ का अभिप्राय मन्त्र भी हो सकता है और मन्त्रार्थ भी । मन्त्रार्थ वाले अर्थ से हमारा प्रस्तुत अभिप्राय ही सिद्ध होता है ।

४. न्यायसूत्र ४.६.६२ पर भाष्य करते हुए किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रमाण देकर वात्स्यायन मुनि लिखता है—

य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति ।

पुनः सूत्र २.२.६२ की व्याख्या में वात्स्यायन ने लिखा है—य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामिति।

इन दोनों वचनों से यही तात्पर्य स्पष्ट होता है कि आप्त=साक्षात्कृतधर्मा लोग वेदार्थ के द्रष्टा भी थे। वह वेदार्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है, अतः कहा जा सकता है कि ऋषि लोग वेदार्थ रूपी ब्राह्मण के द्रष्टा थे। इसी का भाव यह है कि समय समय पर एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न ऋषियों को भिन्न-भिन्न विनियोग दिखाई दिये।

५. यजुर्वेद के सातवें अध्याय में ४६वां मन्त्र है—ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषि-मार्षेयम्।

यहां ऋषि पद के व्याख्यान में उवट लिखता है—ऋषिर्मन्त्राणां व्याख्याता। अर्थात् ऋषि मन्त्रों का व्याख्याता है।

६. बौधायन धर्मसूत्र २.६.३६ में ऋषि पद मिलता है। उसकी व्याख्या में गोविन्द स्वामी लिखता है—ऋषिर्मन्त्रार्थज्ञः। अर्थात्–ऋषि मन्त्रार्थ का जानने वाला होता है।

काशिकर जी का संस्कृत भाषा-ज्ञान—आयुर्वेद का इतिहास प्रथम भाग की समालोचना करते हुए पूना के श्री काशिकर जी ने वात्स्यायन के पूर्वोद्धृत वचन के विषय में लिखा है कि वात्स्यायन का वचन इस बात को प्रकट नहीं करता कि आयुर्वेद, इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र आदि के रचयिता ही ब्राह्मण ग्रंथों के प्रवक्ता थे।[1]

इस लेख से प्रकट होता है कि असत्य योरोपीय पक्ष का दुराग्रह और हठ से रक्षण करते हुए काशिकर जी ने एक ऐसी निराधार बात कह दी है, जो न्याय शास्त्र के अध्येताओं ने स्वप्न में भी नहीं जानी थी। काशिकर जी न्याय शास्त्र के इस वचन का प्रसंगानुसार अर्थ किसी विद्वान् से पढ़ लें। उनका योरोपीय कल्पित-पक्ष विद्वानों के सम्मुख उपहास मात्र का विषय है।

७. भृगु-प्रोक्त मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के प्रथम श्लोकान्तर्गत महर्षयः पद के भाष्य में मेधातिथि लिखता है—ऋषिर्वेदः। तदध्ययन-विज्ञान-तदर्थानुष्ठानातिशययोगात् पुरुषेऽप्यृषिशब्दः।

अर्थात्—वेद के अध्ययन, विज्ञान, अर्थानुष्ठान आदि के कारण पुरुष में भी ऋषि शब्द का प्रयोग होता है।

इत्यादि अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि मन्त्रार्थ-द्रष्टा के लिए भी ऋषि शब्द का प्रयोग आर्य वाङ्मय में होता चला आया है।

मन्त्रों से लिए—अनेक ऋषि नाम

हम पृ० २६६ पर लिख चुके हैं कि विश्वरथ नाम के राजा ने घोर तप किया। इस तप के प्रभाव से वह ऋषि बन गया। जब वह ऋषि बन गया, तो उसका नाम विश्वामित्र हो गया। इससे ज्ञात होता है कि ऋषि बनने पर अनेक लोग अपना नाम बदल कर वेद का कोई शब्द अपने नाम के लिए प्रयुक्त करते थे। शिव संकल्प ऋषि ने भी यजुः ३४.१ से शिवसंकल्प शब्द लेकर अपना नाम शिवसंकल्प रखा होगा। इस विषय की बहुत सुन्दर आलोचना परलोकगत मित्रवर श्री शिवशंकर जी काव्यतीर्थ ने अपने वैदिक इतिहा-

१. बुलेटीन आफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, सन् १९५४

सार्थ निर्णय के पृ० २४-२९ तक की है।[1] ऐतरेयारण्यक के प्रमाण से उन्होंने दर्शाया है कि विश्वामित्र, गृत्समद आदि नाम प्राणवाचक हैं। इसी प्रकार वामदेव, अत्रि और भरद्वाज नाम भी सामान्यमात्र ही हैं। शतपथ ब्राह्मण के प्रमाणानुकूल वसिष्ठ आदि नाम इन्द्रियों के ही हैं। ऋ० १०.१५१ वाले श्रद्धासूक्त की ऋषिका श्रद्धा कामायनी ही है। इस कन्या ने अवश्य ही अपना नाम बदला होगा। इस प्रकार के अनेक प्रमाण अति संक्षिप्त रीति से उक्त ग्रन्थ में दिए गए हैं। विचारवान् पाठक वहीं से इनका अध्ययन करें। हम यहां इतना ही कहेंगे कि इतिहास शास्त्र के आधार पर वेद पाठ करने वाले के हृदय में अनायास यह सत्यता प्रकट होगी कि वेद मन्त्रों के आश्रय पर ही अनेक व्यक्तियों ने अनेक नाम रखे या बदले थे। इसी लिए भगवान् मनु के भृगुप्रोक्त शास्त्र १.२१ में कहा गया है कि—सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥[2]

अर्थात्—वेद शब्दों से ही आदि में अनेक पदार्थों के नाम रखे गए।

आर्य धर्म के जीवन-दाता ऋषि

आर्य धर्म के जीवन-दाता यही ऋषि लोग थे। इन्हीं के उपदेशों से आर्य संस्कृति और सभ्यता का निर्माण हुआ। इन्हीं का मान करना आर्य सम्राट् गण अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। बड़े-बड़े प्रतापी सम्राट् अपनी कन्याएं इन ऋषियों को विवाह में देकर अपना गौरव माना करते थें। जानश्रुति ने अपनी कन्या रैक्क को दी। लोपामुद्रा राजकन्या थी। सुकन्या भी महाराज शर्याति की पुत्री थी। इसी प्रकार के दृष्टान्तों से महाभारत आदि ग्रन्थ भरे पड़े हैं। जब जब ये ऋषिगण आर्य राजाओं की सभाओं में जाते थे, तो रत्न, धन, धान्य से राजा लोग इन का मान करते थे। बस ऋषियों से बढ़ कर आर्य जनों में और किसी का स्थान न था। इनका शब्द प्रमाण होता था। ये प्रत्यक्षधर्मा थे, परम सत्यवक्ता और सत्यनिष्ठ थे। इन्हीं के बनाए हुए धर्म सूत्रों में, अनेक प्रक्षेपों के होते हुए भी, प्राचीन आर्य धर्म का एक बड़ा उज्जवल रूप दिखाई देता है। दुःख में पड़े हुए वर्तमान संसार के लिए वह परम शान्ति का कारण बन सकता है। धर्माधर्म का यथार्थ निर्णय इन्हीं ऋषियों की वाणी द्वारा हो सकता है। यादव कृष्ण सदृश तेजस्वी योगी इन ऋषियों का कितना आदर करते थे, इसका दृश्य महाभारत में देखने योग्य है। जब भगवान् मधुसूदन दूत-कार्य के लिए युधिष्ठिर से विदा हुए, तो मार्ग में उन्हें ऋषि मिले। वे बोले हे केशव, सभा में तुम्हारे वचन सुनने आयेंगे। तदनन्तर श्रीकृष्ण हस्तिनापुर में पहुंच गए। उन्होंने रात्रि विदुर के गृह पर व्यतीत की। प्रातः सब कृत्यों से अवकाश प्राप्त करके वे राज-सभा में प्रविष्ट हुए। सात्यकि उनके साथ था। उस समय उस सभा में राजाओं के मध्य में ठहरे हुए दाशार्ह ने अन्तरिक्षस्थ ऋषियों को देखा। तब वासुदेव जी शन्तनु के पुत्र भीष्म जी से धीरे से बोले—

> पार्थिवीं समितिं द्रष्टुमृषयोऽभ्यागता नृप ॥५४॥
> निमन्त्र्यन्तामासनैश्च सत्कारेण च भूयसा।
> नैतेष्वनुपविष्टेषु शक्यं केनचिदासितुम् ॥५५॥ (उद्योगपर्व अध्याय ९४)

---

१. ४.१.१०४ सूत्र पर महाभाष्य में लिखा है—विश्वामित्र ने तप-तपा, मैं अनृषि न रहूं। वह ऋषि हो गया। पुनः उसने तप तपा। मैं अनृषि का पुत्र न रहूं। तब गाधि भी ऋषि हो गया। उस ने पुनः तप तपा मैं अनृषि का पौत्र न रहूं। तब कुशिक भी ऋषि हो गया। पिता और पितामह पुत्र के पश्चात् ऋषि बने।

२. इस वचन पर प्रभातचन्द्र के प्रलाप का संकेत पूर्व पृ० २६ पर देखें।

अर्थात्—हे राजन्! पृथिवी पर होने वाली इस सभा को देखने के लिए ये ऋषिगण पर्वतों से यहां उतरे हैं। इनका बहुविध सत्कार और आसनों से आदर करो। जब तक ये न बैठ जाएं, अन्य कोई भी बैठ नहीं सकता। जब ऋषियों की पूजा हो गई तो वह बैठ गए।

तेषु तत्रोपविष्टेषु गृहीतार्घ्येषु भारत ॥५८॥ निषसादासने कृष्णो राजानश्च यथासनम् ॥५९॥

अर्थात्—ऋषियों के बैठ जाने पर कृष्ण जी आसन पर बैठे, और अन्य राजा भी अपने-अपने आसनों पर बैठे।

अपने ज्ञान-दाताओं का, अपने धर्मसंरक्षकों का, धर्म-प्रचारकों का, दिव्य ज्ञान की निधियों का कितना आदर है। इस भूमि पर अन्य किस जाति ने ऐसा दृश्य उपस्थित किया है? कहां पर बड़े-बड़े सम्राट् ऐसे धनहीन लोगों के आगे झुके हैं? वस्तुतः ही आर्य संस्कृति महान् है, अनुपम है। इसी आदर में इस संस्कृति का जीवन था, इसका प्राण था।

वेद का पर्यायवाची ऋषि शब्द

अनेक प्राचीन भाष्यकार अनेक प्रसंगों में ऋषि शब्द का वेद भी एक अर्थ करते आए हैं। यह प्रवृत्ति कब से चली है, इसका ऐतिहासिक ज्ञान बड़ा उपादेय है, अतः उसका आगे निदर्शन किया जाता है—

१. भोजराज कृत उणादिसूत्र २. १. १५९ की वृत्ति में दण्डनाथ नारायण लिखता है—ऋषिः वेदः। अर्थात्—ऋषि वेद को कहते हैं।

२. हरदत्तमिश्र पाणिनीय सूत्र १. १. १८ की अपनी पदमंजरी व्याख्या में लिखता है—ऋषिर्वेदः। तदुक्तमृषिणा इत्यादौ दर्शनात्।

अर्थात्—ब्राह्मण ग्रन्थों के तदुक्तमृषिणा पाठ के अनुरोध से ऋषि का अर्थ वेद है।

३. वैजयन्तिकोश में यादवप्रकाश लिखता है—ऋषिस्तुवेदे। अर्थात्—ऋषि शब्द वेद के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

४. मनु भाष्यकार मेधातिथि का ऋषिर्वेदः प्रमाण ऊपर लिखा जा चुका है।

५. आठवीं शताब्दी से पूर्व शाश्वत कोश श्लोक ७१९ में लिखा है—ऋषिर्वेदे। इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी तक ऋषि शब्द का वेद अर्थ सुप्रसिद्ध था। इससे कितना काल पहले ऐसा अर्थ प्रचलित हुआ, यह विचारना चाहिए।

वेद और ऋषियों के विषय में तथागत बुद्ध की सम्मति—शान्तरक्षित अपने तत्वसंग्रह में लिखता है—यथोक्तं भगवता—इत्येते आनन्द पौराणा महर्षयो वेदानां कर्तारो मन्त्राणां प्रवर्तयितारः। पृ० १४

अर्थात्—भगवान् बुद्ध ने कहा है—हे आनन्द ये पुराने महर्षि थे, जिन्होंने वेद बनाए और मंत्र प्रवृत्त किए।

मन्त्र प्रवृत्त करने से बुद्ध का क्या अभिप्राय था, यह विचारणीय है। वेदों के कर्ताओं से बुद्ध का अभिप्राय शाखाओं के प्रवक्ताओं से हो सकता है। बुद्ध का वेदों के प्रति यदि कुछ आदर था भी, तो उसके अनुयाइयों को वह रुचिकर नहीं लगा।

मज्झिम निकाय २. ५. ५ में बुद्ध का कथन है—ब्राह्मणों के पूर्वजों ऋषि अट्टक, वामक..।

पुनः मज्झिम निकाय २. ५. ९ में बुद्ध के श्रावस्ती में विहार का उल्लेख है। श्रावस्ती के जेतवन में बुद्ध ने तौदेय्य पुत्र शुभ-माणवक को कहा—

माणव जो वह वेदों के कर्ता, मन्त्रों के प्रवक्ता ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि थे, जिन के गीत, संगीत, प्रोक्त पुराने मन्त्र पद को आज भी ब्राह्मण उनके अनुसार जाते हैं।..... (वह पूर्वज ऋषि) जैसे कि अट्टक-अष्टक, वामक-वामदेव, विश्वामित्र, जमदग्नि, अङ्गिरा, भारद्वाज, वसिष्ठ, कश्यप, भृगु..।

इस वचन में वामक तो वामदेव ही प्रतीत होता है और शेष आठ ऋषि रहते हैं। वे आठ पाली में अट्टक कहाते होंगे। मज्झिम निकाय के इस वचन से पता लगता है कि शान्तरक्षित के पाठ में प्रवर्तयितारः के स्थान में प्रवक्तारः पाठ चाहिए।

जैन और वेद

तत्वार्थ श्लोकवार्तिक का कर्ता विद्यानन्द स्वामी सूत्र १. २० की व्याख्या में लिखता है—

तत्कारणं हि काणादाः स्मरन्ति चतुराननम्। जैनाः कालासुरं बौद्धाः स्वष्टकात्सकलाः सदा॥३६॥

अर्थात्-वैशेषिक वाले ब्रह्मा से वेदोत्पत्ति मानते हैं, जैन कालासुर से और सकल बौद्ध सम्प्रदाय स्वष्टक से वेदोत्पत्ति मानते हैं।

जैनों ने कालासुर से वेदोत्पत्ति कैसे मानी, यह जैनेतिहास में ही लिखा होगा। विद्यानन्द स्वामी ने इस श्लोक में बौद्धों के जिस मत का वर्णन किया है, उसका मूल मज्झिम निकाय के पूर्व-प्रदर्शित प्रमाण में मिलता है। विद्यानन्द स्वामी के स्वष्टक पद का अभिप्राय सु-अट्टक से ही है।

वेद तो अनादि काल से चला आ रहा है। जब जब वेद का लोप होता है, वेद का प्रचार न्यून होता है, तब तब ही ऋषि उस वेद का प्रचार करते हैं, उसका अर्थ प्रकाशित करते हैं। उन वैदिक ऋषियों का इतिवृत्त, अति संक्षिप्त वृत्त लिखा जा चुका है।

ऋषि काल की समाप्ति कब हुई

सामान्यतया तो ऋषि काल की समाप्ति कभी भी नहीं होती। तप से, योग से, ज्ञान से, वेदाभ्यास से कोई व्यक्ति कभी भी ऋषि बन सकता है, परन्तु है यह बात असाधारण ही। वेदमन्त्रों का, अथवा मन्त्रार्थों का दर्शन अब किसी विरले के भाग्य में ही होता है। अतः सैंकड़ों सहस्रों की संख्या में ऋषियों का होना जैसा पूर्व युगों में हो चुका है, भारत युद्ध के कुछ काल पीछे तक ही रहा। इसका उल्लेख वायु आदि पुराणों में मिलता है। युधिष्ठिर के पश्चात् परीक्षित् ने हस्तिनापुर की राजगद्दी संभाली। परीक्षित् का पुत्र जनमेजय था। जनमेजय का पुत्र शतानीक और शतानीक का पुत्र अश्वमेधदत्त था।[1] अश्वमेधदत्त के पुत्र के विषय में वायुपुराण ९९ अध्याय में लिखा है—

पुत्रोऽश्वमेधदत्ताद्वै जातः परपुरञ्जयः॥२५७॥
अधिसीमकृष्णो धर्मात्मा सांप्रतोऽयं महायशाः। यस्मिन् प्रशासति महीं युष्माभिरिदमाहृतम्॥२५८॥
दुरापं दीर्घसत्रं वै त्रीणि वर्षाणि दुश्चरम्। वर्षद्वयं कुरुक्षेत्रे दृषद्वत्यां द्विजोत्तमाः॥२५९॥

अर्थात्-अश्वमेधदत्त का पुत्र अधिसीमकृष्ण था। उसी के राज्य में ऋषियों ने दीर्घ सत्र किया।

इसी विषय के सम्बन्ध में वायु पुराण के आरम्भ में लिखा है—

---

१. शतानीक ने कोई अश्वमेध यज्ञ किया होगा। उसके अनन्तर इस पुत्र का जन्म हुआ होगा। इसी कारण उसका ऐसा नाम हुआ।

असीमकृष्णे विक्रान्ते राजन्येऽनुपमत्विषि । प्रशासतीमां धर्मेण भूमिं भूमिसत्तमे ॥१२॥
ऋषयः संशितात्मानः सत्यव्रतपरायणाः । ऋजवो नष्टरजसः शान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ॥१३॥
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रं तु ईजिरे । नद्यास्तीरे दृषद्वत्याः पुण्यायाः शुचिरोधसः ॥१४॥

अर्थात्-असीमकृष्ण के राज्य में ऋषियों ने कुरुक्षेत्र में दृषद्वती के तट पर एक दीर्घसत्र किया।

युधिष्ठिर के राजत्याग के समय कलियुग आरम्भ हो गया था। तत्पश्चात् वंशावलियों के अनुसार परीक्षित का राज्य ६० वर्ष तक रहा। जनमेजय ने ८४ वर्ष राज्य किया। शतानीक और अश्वमेधदत्त का राज्यकाल ८२ वर्ष था। इन राजाओं ने लगभग २२६ वर्ष राज्य किया होगा। असीमकृष्ण इनसे अगला राजा है। उसका राज्यकाल भी लम्बा था। अनुमान से हम कह सकते हैं कि उसके राज्य के पन्द्रहवें वर्ष में कदाचित् दीर्घसत्र आरम्भ हुआ हो। अर्थात् कलि के संवत् २४० में यह दीर्घयज्ञ हो रहा था कि जिसमें ऋषि लोग उपस्थित थे। इस यज्ञ के २०० वर्ष पश्चात् तक अधिक ऋषि रहे होंगे, क्योंकि इस यज्ञ के अनन्तर कोई ऐसा वृत्तान्त नहीं मिलता कि जब ऋषियों का होना किसी प्राचीन ग्रंथ से पाया जाए। फलतः कहना पड़ता है कि कलि के संवत् ४४० या ४५० तक ही ऋषि लोग होते रहे।

गौतम बुद्ध के काल में भारत भूमि पर कोई ऋषि न था। बौद्ध साहित्य में ऐसा कोई प्रमाण नहीं कि जिससे बुद्ध के काल में ऋषियों का होना पाया जाए। बुद्ध के काल से बहुत-बहुत पहले ही आर्य भारत का आचार्य युग आरम्भ हो चुका था। बुद्ध अपने काल के ब्राह्मणों को स्वयं कहता है कि उन ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि थे, अर्थात् उसके काल में कोई ऋषि न था। पृ० २७६ पर ऐसा ही एक प्रमाण मज्झिम निकाय से दिया गया है।

आर्ष वाङ्मय का काल

जब ऋषियों के काल की समाप्ति कुछ निश्चित् हो गई, तो यह कहना बड़ा सरल है कि सारा आर्ष साहित्य कलि संवत् ४५० से पूर्व का है। मनु, बौधायन, आपस्तम्ब आदि के धर्मशास्त्र; चरक, सुश्रुत, हारीत, जतुकर्ण आदि के आयुर्वेद ग्रंथ; भरद्वाज, पिशुन, उशना, बृहस्पति आदि के अर्थशास्त्र; शाकपूणि, और्णवाभ, औपमन्यव आदि के निरुक्त; वेदान्त, मीमांसा, कपिल आदि के दर्शन; ब्राह्मण ग्रन्थ, सुतरां सहस्रों अन्य आर्ष शास्त्र, सब इस काल के अथवा इस काल से पूर्व के ग्रन्थ हैं। जिन विदेशीय ग्रन्थकारों ने हमारा यह वाङ्मय ईसा काल से सहस्र या पन्द्रह सौ वर्ष पहले का और अनेक अवस्थाओं में ईसा काल का बना दिया है, उन्होंने पक्षपात से आर्ष वाङ्मय के साथ घोर अन्याय किया है।

इसी अन्याय और भ्रान्ति को दूर करने के लिए हमें इस इतिहास के लिखने की आवश्यकता पड़ी है। जितनी-जितनी सामग्री हमें मिल रही है, उससे हमारा विचार दृढ़ हो रहा है कि भारत-युद्ध काल और आर्ष काल का निर्णय ही प्राचीन वाङ्मय के काल का निर्णय करेगा। इस ग्रन्थ के अन्य भागों के पाठ से यह बात सुविदित होती चली जाएगी।

*

उद्धृत ग्रन्थ सूची

अग्निहोत्र चन्द्रिका—वामन शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९२१

अणुभाष्य—

अथर्ववेद —१. दामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, १९५८
२. सायण भाष्य, शंकर पाण्डुरंग पंडित, बम्बई, १८९५-९८
३. विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसन्धान संस्था, होशियारपुर, १९६०-६४
4. Bloomfield, M. Baltimore, 1901

अनुग्राहिक सूत्र —

अनुवाक सूत्राध्याय —

अनुवाकानुक्रमणी – १. षड्गुरुशिष्य कृत वेदार्थदीपिका सहित, सम्पादक ए. ए. मैकडानल, आक्सफोर्ड १८८६
(शौनकीय) २. उमेशचन्द्र शर्मा, विवेक प्रकाशन, अलीगढ़, १९७७

अभिधान चिन्तामणि—हेमचन्द्राचार्य कृत, स्वोपज्ञटीका सहित, भावनगर, वीर संवत्, २४४१

अमर कोष—अमरसिंह, १. हरदत्त शर्मा तथा सारदेसाई, पूना, १९४१
२. आर. शाम शास्त्री, मैसूर, १९२०
३. के. जी. ओक, १९१३

अर्थ शास्त्र—कौटल्य कृत, सम्पादक टी. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्

अल किताब-उल-हिन्द—अलबेरूनी, अनुवादक, सन्तराम, प्रयाग (अलबेरूनी का भारत) १९१६-१९२८

अवन्ति सुन्दरी कथा—दण्डी विरचित,

अष्ट विकृति विवृति—मधुसूदन सरस्वती

अष्टाङ्ग संग्रह—वाग्भट्ट

अष्टाध्यायी —पाणिनि

अहिर्बुध्न्य संहिता—सम्पादक रामानुजाचार्य, अडयार, १९६६

आथर्वण चरणव्यूह—

आथर्वण परिशिष्ट—१. G. M. Bolling and J. von Negelein Leipzig, 1909-10
२. रामकुमार राय, चौ० ओरिएण्टेलिया, १९७६

आथर्वण प्रातिशाख्य (शौनकीय चतुराध्यायिका)—१. विश्वबन्धु, पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर, १९२३
२. W. D. Whitney चौ० सं० सी०, १९६२

आनन्द संहिता –

आपस्तम्ब गृह्य सूत्र—१. हरदत्त मिश्र कृत अनाकुला टीका, चौ० सं० सी०, १९२८
२. M. Winternitz, Vienna, १८८७

आपस्तम्ब धर्म सूत्र—G. Buhler, बम्बई संस्कृत सीरीज, १९३२

आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र—कपर्दि टीका, देखें दर्शपूर्णमास प्रकाश, आनन्दाश्रम, पूना

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र—१. Richard Garbe, Calculta, 1882-1902
२. धूर्त स्वामी भाष्य, बड़ोदा, १९५५
३. नरसिंहाचार, मैसूर, १९४५
४. Caland, W., Gottingen, १९२१

आर्च ज्योतिष—
आर्यभटीयं—आर्यभटाचार्य विरचित, गार्ग्यकेरल नीलकण्ठ भाष्य सहित, सम्पादक के साम्बशिव शास्त्री त्रिवेन्द्रम, १९३०-३१
आर्य मञ्जुश्री मूलकल्प—सम्पादक, के. पी. जायसवाल, लाहौर, १९३४
आर्षानुक्रमणी—राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता, १८९२
आर्षेय ब्राह्मण - १. A. C. Burnell मंगलोर, १८७६
२. सायणाचार्य कृत वेदार्थ प्रकाश, बी० आर० शर्मा, तिरुपति, १९६७
आश्वलायन गृह्यकारिका—वासुदेव शर्मा पणसीकर, निर्णयसागर, बम्बई, १८९४
आश्वलायन गृह्य सूत्र १. A. G. Stenzler, Leipzig, १९६४
२. भवानी शंकर शर्मा, बम्बई, १९०९
३. हरदत्ताचार्य टीका, टी. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९२३
४. आनन्दाश्रम, पूना, १९३७
आश्वलायन श्रौत सूत्र भाष्य—१. विद्यारत्न, कलकत्ता, १८७४
२. नारायण विवृति, गणेश शास्त्री गोखले, आनन्दाश्रम पूना, १९१७
आह्निक प्रकाश—वीर मित्रोदय कृत, नित्यानन्द शर्मा, चौ० सं० सी०, १९१०
ईश्वर संहिता—
उणादि सूत्र—भोजराज कृत
उपदेश मञ्जरी—दयानन्द सरस्वती
ऋक् प्रातिशाख्य—उवट भाष्य, मंगल देव शास्त्री, बनारस, १९५३
ऋक् सर्वानुक्रमणी—१. कात्यायन कृत—A. A. Macdonell, Oxford, १८८६
२. उमेशचन्द्र शर्मा, विवेक प्रकाशन, अलीगढ़, १९७७
ऋग्मन्त्र व्याख्या—भगवद्दत्त, लाहौर, १९१७
ऋग्वेद १. स्कन्द स्वामी भाष्य, विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर
२. सायण भाष्य, F. Max Muller,, चौ० सं० सी०, १९६६
३. सायण भाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल (वै० सं० मं०) पूना, १९४१
४. वेङ्कट माधव भाष्य, लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर, १९३९
५. दयानन्द सरस्वती भाष्य, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
ऋग्वेद कल्पद्रुम—केशव कृत
ऋग्वेद की ऋक् संख्या—युधिष्ठिर मीमांसक
ऋग्वेद पर व्याख्यान—भगवद्दत, लाहौर
ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—दयानन्द सरस्वती
ऋग्वेदानुक्रमणी—माधव
एकाग्निकाण्ड—हरदत्त मिश्र भाष्य
ऐतरेय आरण्यक - सायण भाष्य, बाबा शास्त्री फडके, आनन्दाश्रम, पूना, १८९८
ऐतरेय ब्राह्मण—१. Theodor Aufrecht, Bonn, 1879.
२. Martin Haug, बम्बई, १८६३
३. अनुवाद सहित, A B. Keith, Oxford, १९०९
४. सायण भाष्य, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, सम्वत् १९५२
५. सायण भाष्य, काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना १९३१
६. षड्गुरुशिष्य कृत सुखदावृत्ति, अनन्त कृष्ण शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् १९४२

ऐतेरेयारण्यक पर्यालोचनम्—मंगल देव शास्त्री, बनारस, १९५३
ऐतरेयालोचनम्—सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १९०६
कठ ब्राह्मण—देखें काठक संकलनम्, सूर्य कान्त, लाहौर, १९४३
कठोपनिषद्—अष्टादश उपनिशदः, लिमये तथा वाडेकर, वै० सं० मं०, पूना, १९५८
कथासरित्सागर—सोमदेव कृत, दुर्गाप्रसाद तथा पाण्डुरंग परब, निर्णय सागर, बम्बई, १९३७
काठक गृह्य सूत्र—देवपाल भाष्य, W. Caland, लाहौर, १९२५
कपिष्ठल-कठ-संहिता—रघुवीर, लाहौर, १९३२
काठक संहिता—१. दामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, औन्ध, १९४३।
२. L. von Schroeder, Leipzig, 1900-11
काण्डानुक्रमणिका—A. Weber, Indische Studien, Vol. III, 1885, pp. 247-83.
काण्व संहिता भाष्य संग्रह—आनन्दबोध भाष्य, सारस्वती सुषमा, संस्कृत विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी
कातीय गृह्य सूत्र—
कामसूत्र-वात्स्यायन कृत—यशोधर कृत जय मंगला टीका, बम्बई
कालक्रिया पाद—देखें आर्यभटीयम्
काल निर्णय—हेमाद्रि कृत
काशिका—वामन तथा जयादित्य कृत, १. शर्मा, संस्कृत परिषद्, उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद
२. भगवत्प्रसाद त्रिपाठी, बनारस, १८९०
काशिका विवरण पंजिका—जिनेन्द्र बुद्धिपाद विरचित (देखें न्यास)
कुरान—
कूर्म पुराण—
कृत्य कल्पतरु—लक्ष्मीधर कृत
कृष्ण चरित—महाराज समुद्रगुप्त कृत
केनोपनिषद्—१. अष्टादश उपनिषदः, लिमये तथा वाडेकर, वै० सं० मं०, पूना, १९५८
२. शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम पूना।
कोहल शिक्षा—
कौशिक सूत्र अथर्ववेदीय, दारिल तथा केशव टीका, Maurice Bloomfield, JAOS, Vol. XIV
कौषीतकि उपनिषद्—अष्टादश उपनिषदः, लिमये तथा वाडेकर, वै० सं० मं०, पूना, १९५८
कौषीतकि गृह्य कारिका—मद्रास संग्रह का हस्तलेख
कौषीतकि गृह्य सूत्र—भवत्रात भाष्य, टी० आर० चिन्तामणी, मद्रास, १९४४
कौषीतकि ब्राह्मण—१. B. Lindner, 1887
२. E. B. Cowell, Calculta, 1861
३. गुलाबराय वज्रेशंकर छाया, आनन्दाश्रम, पूना, १९११
खादिर गृह्य सूत्र—रुद्रस्कन्द व्याख्या, महादेव शास्त्री तथा श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, १९१३
खुलास-तुत-तवारीख—मुंशी सुजानराय
गणपाठ—पाणिनि कृत, कपिल देव शास्त्री, कुरुक्षेत्र
गणरत्नमहोदधि - वर्धमान कृत, १. J. Eggeling, Leyden, 1879
२. इटावा संस्करण
गर्ग संहिता—पुनर् गर्ग
गोत्र प्रवर मंजरी—पुरुषोत्तम कृत, गोत्रप्रवर निबन्ध कदम्ब में संगृहीत, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०१
गोपथ ब्राह्मण—१. राजेन्द्रलाल मित्र तथा हरचन्द विद्या भूषण, कलकत्ता, १८७२
२. D. Gaastra, Leyden, 1919

चान्द्रव्याकरण—चन्दगोमीकृत, क्षितीश चन्द्र चैटर्जी, पूना, १९५३
चूलिकोपनिषद् —
छन्दोगश्रौत प्रयोग-प्रदीपिका—
छान्दोग्योपनिषत्—आनन्दाश्रम, पूना, १९३४
छान्दोग्य परिशिष्टम् (कर्मप्रदीप)—चन्द्रकांत तर्कालंकार, कलकत्ता, १९०९
छान्दोग्य मन्त्र भाष्य—गुणविष्णु
छन्दः शास्त्रम् —१. पिंगलकृत, हलायुधभट्ट कृत संजीवनी टीका, केदारनाथ तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणसीकर, निर्णय सागर, बम्बई, १९२७।
२. यादव प्रकाश टीका
छन्दः संख्या—उमेश चन्द्र शर्मा, विवेक प्रकाशन, अलीगढ़, १९७७
जयाख्य संहिता (सात्वत शास्त्र)—विनयतोष भट्टाचार्य
जातूकर्ण्य संहिता—
जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (जै० उ० ब्रा०)—१. रामदेव लाहौर, १९२१।
२. H. Oertel, Journal of the American Oriental Society (JOS) Vol. XVI, 1896।
३. बी० आर० शर्मा, तिरुपति, १९६७।
जैमिनीय गृह्यसूत्र—
जैमिनीय ब्राह्मण—रघुवीर तथा लोकेश चन्द्र, १९५४
जैमिनीय श्रौत सूत्र—Dieuke Gaastra, Leiden, 1906
ज्योतिर्विदाभरण—कालिदास कृत, सम्पादक सीताराम, बम्बई, १९०८
ज्योतिष संहिता—पराशरकृत
तत्व संग्रह—शान्त रक्षित कृत
तत्वार्थ श्लोक वार्तिक—विद्यानन्द स्वामी
तन्त्र वार्तिक—कुमारिल भट्ट, देखें मीमांसा दर्शन, शाबर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना
तारीख रियासत बीकानेर—
ताण्ड्य महा ब्राह्मण (पंचविंश ब्राह्मण) १. सायण भाष्य, चिन्न स्वामी शास्त्री, चौ० सं०. सी०
२. सायण भाष्य, आनन्दचन्द्र वेदान्त वागीश, कलकत्ता, १८७०
तैत्तिरीय आरण्यक—१. कृष्ण यजुर्वेदीय, बाबा शास्त्री फडके, आनन्दाश्रम, पूना, १८९८।
२. सायण भाष्य, राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८७२।
३. भट्ट भास्कर भाष्य, १९०२।
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—माहिषेय भाष्य, वेंकट राम शर्मा विद्याभूषण, मद्रास, १९३०।
तैत्तिरीय ब्राह्मण—१. सायण भाष्य, राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८६२।
२. सायण भाष्य, नारायण शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९३४।
३. भट्ट भास्कर भाष्य, महादेव शास्त्री तथा श्रीनिवासाचार्य, मैसूर।
तैत्तिरीय संहिता - १. A. Weber, Berlin, 1971-72.
२. श्रीदामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, संवत् २०१३।
३ कृष्ण यजुर्वेदीय, सायण भाष्य, काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना।
४. ज्ञानरुद्र भाष्य, भट्ट भास्कर कृत, वै० सं० मं०, पूना।
थेरावली—आचार्य हिमवान्
दन्त्योष्ठ विधि (अथर्ववेदीय)—रामगोपाल शास्त्री, लाहौर, १९२१
दिव्यावदान सम्पादक, पी. एल. वैद्य, दरभंगा, १९५९
देवी शतक—कैयट टीका

वैवम्—देव कृत, श्रीकृष्णलीला शुकमुनिकृत पुरुषाकाराख्य वार्तिक, युधिष्ठिर मीमांसक, अजमेर, सं० २०१६
द्राह्यायण श्रौत सूत्र—१. J. N. Reuter, Luzac and Co, London, 1924
२. धन्विन् भाष्य, रघुवीर; देखें Journal of Vedic Studies, Vol. 1, No., Lahore
धम्मपद—
धर्मशास्त्र—बृहस्पति कृत, संग्रहकार शिवस्वामी
धर्म सूत्र—शंखलिखित
धारणालक्षण—
नाट्यशास्त्र—भरतमुनि कृत, गायकवाड़ ओरिएण्टल संस्कृत सीरीज, बड़ोदा, १९३४, १९५३।
नारद शिक्षा—शोभाकर भाष्य, देखें शिक्षा संग्रह, काशी, १८९३।
निघण्टु—१. देवराज यज्वा भाष्य, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८८२।
२. विट्ठल पुरन्दरे, आनन्दाश्रम, पूना १९२५।
निघण्टु भूमिका—दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
निदान सूत्र—कैलाशनाथ भटनागर, देहली, १९७१।
निरुक्त—१. राजाराम, लाहौर।
२. भगवद्दत्त, अमृतसर, सं० २०२१।
३. भदकमकर आनन्दाश्रम, पूना।
४. लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर।
५. दुर्गवृत्ति, वी० के० राजवाडे, पूना।
६. संपादक, रुडल्फ रोथ, गोटिंजन, १९६२।
निरुक्त—कौत्सव्य प्रणीत।
निरुक्त भाष्य टीका—स्कन्द-महेश्वर कृत, सम्पादक लक्ष्मणस्वरूप, लाहौर।
नीलमत पुराण—
नृसिंह पूर्वतापिनी उपनिषद्—
नैगेय परिशिष्ट—
न्याय दर्शन—वात्स्यायन भाष्य, दिगम्बर शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९२२
न्याय मञ्जरी—जयन्त भट्ट कृत, विजय नगर ग्रन्थमाला, वाराणसी
न्यायवार्तिक—वात्स्यायन भाष्य सहित, चौ० सं० सी, १९१५।
न्यास—देखें काशिका विवरण पंजिका, वरेन्द्र रिसर्च सोसायटी, राजशाही, १९२५
पञ्चपटलिका—
पञ्चविंश ब्राह्मण—देखें ताण्ड्य महा ब्राह्मण
पदमञ्जरी—
पद्मप्राभृतक (भाण)—शूद्रक कृत
परिभाषा प्रकरण—कात्यायन
पारस्कर गृह्य पद्धति—स्थपति गर्ग
पारस्कर गृह्य सूत्र—१. एम. गङ्गाधर, बम्बई, १९५७
२. गोपाल शास्त्री नेने, बनारस, १९२६
३. चौखम्बा संस्कृत संस्थान, १९७८
प्रक्रिया कौमुदी—रामचन्द्र कृत, प्रसाद नामक विट्ठल कृत टीका सहित, बम्बई संस्कृत तथा प्राकृत सीरीज़ १९२५
प्रतिज्ञा सूत्र परिशिष्ट—अनन्त भाष्य सहित, कात्यायन प्रातिशाख्य के अन्त में संगृहीत, चौ. सं. सी.
प्रपञ्च हृदय—टी. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् १९१५
प्रमाण वार्तिक—धर्म कीर्ति कृत, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, १९४३

प्रश्न उपनिषद् —
प्राकृत प्रकाश — वररुचि प्रणीत, भामह कृत मनोरमा व्याख्या सहित, चौ. सं. सी., सं. १९९६
प्राकृत सूत्र—वररुचि प्रणीत
पाणिनीय शिक्षा पंजिका—
बार्हस्पत्य सूत्र सम्पादक भगवद्दत्त
बुद्ध चरित—E. H. Johnston, कलकत्ता, १९३५
बृहज्जाबालोपनिषद्— राममय तर्करत्न, कलकत्ता
बृहत्संहिता — वराहमिहिर, सम्पादक सुधारक द्विवेदी
बृहदारण्यक —१. माध्यन्दिन, Brahadaranjakopanishad in der Madhjamdina Recension, Otto Whitling, St. Petersburg, 1889.
२. काण्व।
बृहदारण्यकोपनिषद् —१. शंकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, १९२७।
२. आनन्दगिरि टीका, आनन्दाश्रम, पूना, १८९४।
३. द्विवेदगङ्ग व्याख्या।
बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक—सुरेश्वर कृत, आनन्दाश्रम, पूना
बृहद्देवता—१. A. A. Macdonell, 1940
२. राजेन्द्रलाल कलकत्ता।
बैजवाप गृह्य संकलन —भगवद्दत्त, चतुर्थ आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेन्स, भाग २, १९३८
बौधायन गृह्य सूत्र—आर० शाम शास्त्री, मैसूर, १९२०।
बौधायन धर्म सूत्र—१. चिन्न स्वामी शास्त्री, चौ० सं० सी०, वाराणसी, १९९१।
२. गोविन्द स्वामी विवरण, उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौ० सं० सी०, वाराणसी।
३. E. Hultzsch, Leipzig, 1884।
बौधायन प्रयोग सार—केशव स्वामी।
बौधायन श्रौत विवरण — भवस्वामी कृत।
बौधायन श्रौत सूत्र —Willem Caland, कलकत्ता, १९०४।
ब्रह्म सूत्र—शांकर भाष्य, निर्णय सागर, बम्बई १९१५।
ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य —१. भामति, कल्पतरु और परिमल टीका, निर्णयसागर, बम्बई, १९३८।
२. पाराशर्य विजय व्याख्या।
ब्रह्माण्ड पुराण—मधुसूदन सरस्वती, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०६
बार्हस्पत्य सूत्र—सम्पादक भगवद्दत्त
भविष्य पुराण—
भविसियत्त कहा—सम्पादक पाण्डुरंग दामोदर गुण
भागवत पुराण—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६५
भारतवर्ष का इतिहास—भगवद्दत्त, आदि युग से गुप्त साम्राज्य के अन्त तक, लाहौर १९४०।
भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—भगवद्दत्त, दो भाग, प्रणव प्रकाशन, १/२८ पंजाबी बाग, नई दिल्ली
भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी— सुनीति कुमार चैटर्जी, राजकमल प्रकाशन, १९५४
भारतीय इतिहास की रूपरेखा—जयचन्द्र विद्यालंकार
भाषा का इतिहास—भगवद्दत्त, तीसरा संस्करण, प्रणव प्रकाशन, १/२८ पंजाबी बाग, नई दिल्ली
भाषा विज्ञान —भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद
भेल संहिता—

महाभारत—१. भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
२. चित्रशाला प्रेस, पूना
३. नीलकण्ठ भाष्य, पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९०४
महाभाष्य—F. Kielhorn, भण्डारकर ओ. रि. इ., पूना
महाभाष्य टीका—
महाभाष्य दीपिका—१. भर्तृहरि टीका, वी० स्वामीनाथन, वाराणसी, सं० २०२१।
२. भ० ओ० रि० ई०, पूना, १९६७।
मज्झिम निकाय—राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, १९३३
मनुस्मृति—१. मेधातिथि भाष्य, गङ्गानाथ झा, कलकत्ता।
२. कुल्लूक भट्ट भाष्य, प्राण जीवन शर्मा, बम्बई १९१३।
मन्त्र भ्रान्तिहर (सूत्र मन्त्र प्रकाशिका)—
मन्त्रार्षाध्याय—चारायणीय, विश्वबन्धु, लाहौर, १९३५।
मन्त्रोपनिषद्—
माध्यन्दिन शिक्षा—
मानव गृह्य परिशिष्ट—Mark John
माहिषेय भाष्य—
मिताक्षरा—अन्नं भट्ट
मीमांसा दर्शन—जैमिनी प्रणीत, शाबर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना
मुक्तिकोपनिषद्—
मुण्डकोपनिषद्—
मृच्छकटिक – शूद्रक विरचित
मैत्रायणी प्रातिशाख्य—
मैत्रायणी ब्राह्मण—
मैत्रायणी संहिता—१. F. O. Schroder Leipzig, 1923.
२. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, औन्ध, १९४२।
मैत्र्युपनिषद्—अष्टादश उपनिषदः लिमये तथा वाडेकर, वै० सं० मं०, पूना।
यजुर्वेद—१. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, १९५७।
२. उवट भाष्य, निर्णयसागर प्रेस, १९२९।
२. दयानन्द सरस्वती भाष्य, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
यजुः प्रातिशाख्य—
याजुष ज्योतिष—
याज्ञवल्क्य चरित्र—
याज्ञवल्क्य संहिता—मन्मथनाथ दत्त, कलकत्ता, १९०८।
याज्ञवल्क्य स्मृति—१. अपरार्क टीका, आनन्दाश्रम, पूना, १९०३।
२. बालक्रीडा टीका, टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९२४।
योगशास्त्र—हिरण्यगर्भ विरचित
योगियाज्ञवल्क्य—
रघुवंश—हरिषेण कालिदास कृत, अरुणगिरि नाथ टीका सहित
रत्नदीपिका—चण्डेश्वर कृत, मद्रास, १९५१
रत्नाकरपुराण—
राजतरंगिणी—कल्हण कृत
राजवार्तिक—अकलङ्कदेव कृत

राजस्थान का इतिहास—टाड कृत
रावण वहो—
लाट्यायन श्रौत सूत्र— १. आनन्दचन्द्र वेदान्त वागीश, कलकत्ता, १८७२
२. चौ. सं. सी., वाराणसी
लिंगानुशासन—देखें अमरकोष
लीलावई—सम्पादक आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्या भवन, बम्बई
लौगाक्षि स्मृति—
वाक्यपदीय—भर्तृहरि विरचित १. हेलाराज कृत टीका, के० साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९३५।
२. पुण्यराज टीका, चारुदेव शास्त्री, लाहौर।
वाजसनेयिप्रातिशाख्य—कात्यायन, उवट तथा अनन्त भट्ट भाष्य, वेंकटराम शर्मा, मद्रास, १९३४।
वाजसनेय संहिता—
वाधूल श्रौत सूत्र—W. Caland, Acta Orientalia, 2, 4, 6
वायुपुराण—आनन्दाश्रम, पूना, १९०५।
वाराह गृह्य सूत्र—
वाराह श्रौत सूत्र—
वासिष्ठ धर्म सूत्र—A. A. Fuhrer, भण्डारकर, १९३०।
वासिष्ठि शिक्षा—काशी से शिक्षा सग्रंह में मुद्रित।
विकृतिवल्ली—टीका गंगाधर भट्टाचार्य
विधान पारिजात—स्तवक—अनन्त भट्ट
विष्णु तत्वनिर्णय—आनन्दतीर्थ कृत।
विष्णु पुराण—
विष्णु स्मृति—
वेद कुसुमाञ्जलि—राजाराम, लाहौर
वेदभाष्य विज्ञापन—दयानन्द सरस्वती, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, सम्पादक भगवद्दत्त, १९५५।
वेद सर्वस्व—हरिप्रसाद स्वामी
वेदाङ्ग ज्योतिष—लगध
वेदान्त सूत्र—वादरायण कृत—१. शांकर भाष्य, देखें ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य।
२. भास्कर भाष्य, बिन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौ० सं० सी०, बनारस
३. श्री गोविन्द व्याख्या
४. आनन्दगिरी व्याख्या
५. श्रीपति रचित श्रीकर नामक भाष्य
वेदार्थ दीपिका—षड्गुरु शिष्य कृत सर्वानुक्रमणी पर भाष्य, देखें अनुवाकानुक्रमणी
वैखानस श्रौत सूत्र—
वैजयन्ती—महादेव
वैजयन्ती कोष—१. यादवप्रकाश कृत, Gustav Oppert, मद्रास, १८९३।
२. चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, १९७१।
वैतान सूत्र—
वैदिक वाङ्मय का इतिहास—१. वेदों के भाष्यकार, भगवद्दत्त तथा सत्यश्रवा, १९७६, प्रणव प्रकाशन १/२८ पंजाबी बाग, नई दिल्ली
२. ब्राह्मण तथा आरण्यक भाग, भगवद्दत्त तथा सत्यश्रवा, वही, १९७४।
वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा
व्याकरण शास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, (हरयाणा)

शकुन्तला नाटक—कालिदास कृत
शतपथ ब्राह्मण—माध्यन्दिन, १. Catapatha Brahmana, A. Weber, Leipzig, 1964.
२. अजमेर, संवत् १९५९।
३. सायण भाष्य, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
४. सायण भाष्य, सत्यव्रत सामश्रमी, १९०३-११।
५. वंशीधर शास्त्री, काशी।
शाकटायन व्याकरण—१. शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७१।
२. लघुवृत्ति सहित, काशी।
शांखायन आरण्यक—१. Friedlander, Berlin, 1900
२. E. B. Cowell, Calculta, 1861
३. आनन्दाश्रम, पूना, १९२२
४. A. B. Keith, Oxford, 1909.
शाङ्खायन गृह्य सूत्र—सीताराम सहगल, देहली, १९६०।
शांखायन गृह्य संग्रह—वासुदेव कृत।
शांखायन ब्राह्मण—गुलाबराय वज्रेशंकर, आनन्दाश्रम, पूना, १९११।
शांखायन श्रौत सूत्र—आनर्तीय वरदत्त सुत कृत टीका, Alfred Hillebrant, कलकत्ता, १८८८।
शाङ्खायन श्रौत सूत्र पद्धति—नारायण कृत।
शाम्बव्य गृह्य कारिका—मद्रास सूची में हस्तलेख।
शाम्बव्य गृह्य सूत्र—
शाश्वत कोष—
शिक्षा सूत्र—आपिशलि
शुक्र नीति—शुक्राचार्य
शुक्ल यजुर्वेदीय काण्वसंहिता—सायण भाष्य, माधव शास्त्री, चौ. सं. सी. १९१५।
शैशिर शिक्षा—मद्रास में सुरक्षित हस्तलेख।
श्राद्ध कल्प (पितृभक्ति तरंगिणी) वाचस्पति।
श्रीप्रश्न संहिता—
श्रुत प्रकाशिका—सुदर्शनाचार्य कृत ब्रह्मसूत्र पर भाष्य, पंडित में, १८८५-१८९७ तक प्रकाशित।
षड्विंश ब्राह्मण—१. सायण भाष्य, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता १८८१।
२. विज्ञापन भाष्य सहित, H. F. Eelsingh, Leiden, 1908।
३. सायण भाष्य, कुर्ट क्लेम्म, गटर्स्लोंह, १८९४।
४. सायण भाष्य, वी. आर. शर्मा, तिरुपति, १९६७।
संगीत मकरन्द—नारद कृत
संग्रह—व्याडि विरचित
संस्कार रत्न माला—
सत्यार्थ प्रकाश—दयानन्द सरस्वती
सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र—गोपीनाथ व्याख्या तथा महादेव कृत वैजयन्ती व्याख्या, आनन्दाश्रम, पूना, १९०७।
सन्मति तर्क कारिका—
सरस्वती कण्ठाभरण—भोजदेव विरचित, साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९६५।
सरस्वती विलास—
सर्वानुक्रमणी वृत्ति—षड्गुरुशिष्य, A. A. Macdonell, Oxford, 1886.
स्मृति चन्द्रिका—देवण भट्ट, आर. शाम शास्त्री, मैसूर, १९२१।

स्मृति तत्व—रघुनन्दन ।
सामवेद—१. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, १९३९ ।
२. सायण भाष्य, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९२ ।
सामान्य भाषा विज्ञान—बाबूराम सकसेना
सांख्य दर्शन—
सांख्य सप्तति कारिका—
सांख्यायन गृह्य सूत्र व्याख्या—भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में सुरक्षित हस्तलेख ।
सिद्धान्त कौमुदी—भट्टोजी दीक्षित ।
सिद्धांत शिरोमणी—मुनीश्वर कृत मरीची टीका ।
सुलेमान सौदागर—मौलवी महेश प्रसाद ।
सुश्रुत संहिता—सुश्रुत कृत, निर्णय सागर, बम्बई; तथा डल्हण कृत भाष्य सहित, बम्बई, १९३८ ।
सूत संहिता—
सौन्दरनन्द—अश्वघोष कृत, लाहौर, १९२८ ।
सौवर ग्रंथ—दयानन्द सरस्वती ।
हरिवंश—
हिन्दी भाषा की उत्पत्ति—इण्डियन प्रेस प्रयाग ।
हिरण्यकेशीय श्रौत सूत्र—

★

BOOK IN ENGLISH

Alberuni, A — Alberuni's India, Eng. Tr. by E.C. Sachau, 2 Vols.

Aristotle — Metaphysics, The Works of Aristotle, Eng. Tr. Oxford,

Arrian — Indika, Eng. Tr. by E. J. Chinnock, London, 1893, See Megasthenese.

Atkinson, Edwin— Himalayan Districts of the North Western Provinces of India.

Beal, Samuel— Buddhist Records of the Western World, London, 1906.

Bhuyan, Surya Kumar— Assamese Historical Literature.

Bloomfield, M— 1. Atharva Veda, Baltimore, 1901.
2. Rigveda Repititions.

Bopp, Frantz— Comparative Grammar of Greek, London.

Buhler, G— Sankhayana Grihya Sutra, S.B.E., Vol. XXIX.

Caland, W— 1. Altindischen Ahnencult, E.J. Brill, Leiden, 1893.
2. Of the Sacred Books of the Vaikhanasas, Amsterdam,

Chakravarti, P.C.— Linguistic Speculation of the Hindus, Calcutta University.

Chattopadhyaya, K.C.— Technical Terms of Sanskrit Grammar

De, Nandoo Lal— Geographical Dictionary of Ancient India, Bombay 1917.

Dikshitar, V.R.— Mauryan Polity.

Dutt, V.B.— Science of the Sulbas
Ghentoo (Hindu) Law

Gaddie, J.L.— Chambers Twentieth Century Dictionary, London, 1950

Grimm, J. Deutsche Grammatik, Gottingen, 1822

Guha, Abhaya Kumara— Jivatman in the Brahma Sutras, 1921

Hamilton, Edith— Mythology, New York, 1953

Herodotus— History, 2 Vols. Eng. Tr. by G, Rawlinson, London 1858.

Hopkins, W.— 1. The Great Epic of India
2. India Old and New

Jayaswal, K.P.— An Imperial History of India

Jesperson Otto— 1. Language : Its Nature, Development and Origin.
2. Mankind, Nation and Individual, London

Kane, P.V.— History of Dharmasastra, Poona.

Kanga, M.F. and Sontakke, N.S.— Avesta, Vedic Samsodhana Mandal, Poona, 1962

Kaul, Anand— History of Kashmir

Keith, A.B.— 1. Aitareya Aranyaka
2. History of Sanskrit Literature

Linguistica

Macdonell, A.A.— 1. History of Sanskrit Literature
2. India's Past
3. Vedic Reader

Macdonell, A.A. & Keith, A.B.— Vedic Index, 2 Vols.

Macnaughton, Duncan— Scheme of Egyptian Chironology, 1823, London

Majumdar, R.C.— Vedic Age, Bharatiya Vidya Bhawan, 1951

Maurice, Thomas— History of Hindoostan

Max Muller, F.— 1. History of Ancient Sanskrit Literature
2. India What can it Teach Us
3. Lectures on the Science of Language
4. Rgveda Pratisakhya

Megasthenese— Ancient India as described by Megasthenese and Arrian, Tr. By J. W. McCrindle

Mercer— The Religion of Ancient Egypt

Monier Williams— Sanskrit English Dictionary

Muir, J.— Original Sanskrit Texts

Pargiter, F.E — Ancient Indian Historical Tradition

Patrick, Kirk – An Account of the Kingdom of Nepal

Pliny— Natural History, Leipzig, 1892, 1909

Pradhan, S.N.— Chronology of Ancient India

Ptolemy, Claudius— Ancient India, ed. by S.N. Majumdar, Calcutta, 1927

Ramsay— Asianic Elements in Greek Civilization

Rapson, E.J.— Cambridge History of India

Roth, R.— Der Atharvaveda in Kashmlr, Tubingen, 1875

Pei, Mario— The Story of Language, London, 1952

Satya Shrava— Sakas in India, Lahore, 1947

Sewell, Robert— The Siddhantas and the Indian Calendar

Springer Aloys— Meadows of Gold and Mines of Gem, London

Taraporewala— Elements of the Science of Language

Verner, Karl A.— Afhandlinger og Breve, Copenhagen, 1904

Waddell, L.A.— The Aryan Origin of the Alphabet, London, 1927

Watters Thomas— On Yuan Chawang's Travels in India, London, 1904

Weber, A.— History of Indian Literature, London

West, E.W.— Sacred Language and Religion of Parsis

Whitney, W.D.— 1. Atharvaveda
2. Language and the Study of Language

Winternitz, M.— History of Indian Literature, Calcutta, 1927, 1933

Zimmer— Philosophies of India

Zimmerman— A Second Selection of Hymns from the Rgveda

★

JOURNALS, CATALOGUES, etc.

Archaeological Survey Reports
Asiatic Researches
A Second Report for the Search of Manuscripts, P. Peterson.
Catalogus Catalogorum, Aufrecht.
Catalogue of Manuscripts in the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona
Catalogue of Manuscripts in Bikaner Library
Catalogue of Bodelian Library, Oxford.
Catalogue of Manuscripts in Ulwar Library, P. Peterson
Catalogue of Manuscripts in the Mysore Library.
Catalogue of Sanskrit Mansucripts by G. Oppert
Catalogue of Manuscripts in C.P. and Berar, Hira Lal
Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Asiatic Society of Bengal, Calcutta
Catalogue of Manuscripts, Adyar, Madras.
Catalogue of Manuscripts, Government Oriental Manuscripts Library, Madras.
Catalogue of Manuscripts in the Royal Asiatic Society, Bombay Branch.
Catalogue of Manuscripts in the Punjab University, Lahore.
Catalogue of Manuscripts in the Gaekwad Oriental Research Institute, Baroda.
Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Central Library, Baroda.
Catalogue of MSS in Deccan College Poona.
Catalogue of Palm leaf and Selected Paper MSS of the Durbar Library, Nepal
Epigraphia Indica.
Imperial Gazetteers (Kangra)
Indian Antiquary
Indian Historical Quarterly
Indische Studien
Journal of the American Oriental Society
Journal of American Philology
Journal of the Bhandarkar O.R.I, Poona
Journal Bihar and Orissa Research Society, Patna
Journal of the Oriental Research, Madras
Journal of the Royal Asiatic Society, London.
Mss. in the D.A.V. College, Lahore, (Now V.V.R.I., Hoshiarpur)
Proceedings and Transactions of the All India Oriental Conference
Vedic Magazine, Lahore
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
वेदवाणी
सारस्वती सुषमा (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की पत्रिका)
ओरिएण्टल कालेज लाहौर की मैगज़ीन

★

★

शब्द सूची

इ

०—०

अन्ततः वैदिक वाङ्मय का इतिहास तीन खण्डों में प्रकाश में आया। सर्वप्रथम इसका द्वितीय भाग शोध विभाग डी. ए. वी. कॉलेज लाहौर द्वारा १९२४ में छपा। लेखक ने द्वतीय खण्ड में *ब्राह्मण और आरण्यक* साहित्य का विचार किया है। उपलब्ध और अनुपलब्ध ब्राह्मणों के विवरण के पश्चात् इन ग्रन्थों पर लिखे गए भाष्यों और भाष्यकारों की पूरी जानकारी दी गई है। चारों वेदों से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न आरण्यकों की विषय-सामग्री का उल्लेख करने के पश्चात् आरण्यकों का संकलन काल, इन ग्रन्थों के भाष्यकारों की जानकारी तथा अन्य आवश्यक तथ्य प्रस्तुत किए हैं। अपने विषय का यह प्रथम मौलिक ग्रन्थ था।

वेदों के भाष्यकार शीर्षक से तृतीय खण्ड का प्रकाशन १९३१ में हुआ। वेद भाष्यकारों के काल का निर्धारण करने में लेखक ने महत् परिश्रम किया है। यहाँ अनेक ऐसे भाष्यकारों की चर्चा हुई है जिनके अस्तित्व की जानकारी भी लोगों को नहीं थी।

वैदिक वाङ्मय के इतिहास का प्रथम खण्ड जिसमें मुख्यतः *वैदिक शाखाओं पर विचार* किया गया है। विद्वान् लेखक ने भाषा शास्त्र तथा भारत के प्राचीन इतिहास विषयक अपने मौलिक चिन्तन का सार भी प्रस्तुत किया है। पं. भगवद्दत्त की धारणाएँ और उपपत्तियाँ विद्वत् संसार में हड़कम्प मचा देने वाली थीं। ऋषि दयानन्द के शास्त्रों के विषय में प्रस्तुत मन्तव्यों की पूर्ण रक्षा करते हुए पं. भगवद्दत्त ने इस ग्रन्थ के द्वारा पुरातन वैदिक वाङ्मय की जो समीक्षा की है वह सचमुच अद्वितीय है।

पं. भगवद्दत्त बी.ए. रिसर्च स्कॉलर

आर्यसमाज में वैदिक शोध के सही अर्थ में प्रवर्तक पं. भगवद्दत्त ही कहे सकते हैं। हिन्दी में लिखे गए उनके शोधपरक ग्रन्थों का आशय समझने लिए पश्चिमी विद्वानों को हिन्दी सीखनी पढ़ी थी। कहने को तो वे मात्र ही थे किन्तु उनके शोध निष्कर्ष बड़े–बड़े प्राच्यविद्याविदों को चमत्कृत देते थे तथा उन्हें अपना मत बदलने के लिए विवश कर देते थे।

उनका जन्म अमृतसर में २७ अक्टूबर १८६३ को लाला चन्दनलाल के यहाँ हुआ था। १६१५ में बी.ए. करने के पश्चात् वे सर्वात्मना वैदिक अध्ययन और शोध में लग गए। कुछ काल डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर में अध्यापन करने के पश्चात् महात्मा हंसराज के अनुरोध से वे उसी कॉलेज के अनुसंधान विभाग में आ गए तथा १६ वर्ष तक इसी कार्य में लगे रहे। इस अवधि में उन्होंने कॉलेज के शोध पुस्तकालय के लिए ७००० पांडुलिपियों का संग्रह किया और अनेक ग्रंथों का लेखन एवं संपादन किया। देश विभाजन के पश्चात् वे दिल्ली आ गए और पंजाबी बाग में रह कर पुनः लेखन एवं शोध में लग गए। परोपकारिणी सभा ने १६२३ में उन्हें अपना सदस्य मनोनीत किया। २२ नवबंर १६६८ को उनका निधन हो गया।

उनके द्वारा लिखित व सम्पादित ग्रन्थ निम्न हैं– वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ऋग्वेद पर व्याख्यान, ऋङ्मंत्र व्याख्या, वेद विद्या निदर्शन, निरुक्त भाषा भाष्य, अथर्ववेदीया पञ्चपटलिका, अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा, बैजवाप गृह्य सूत्र संकलन, आथर्वण ज्योतिष, धनुर्वेद का इतिहास Extra Ordinary Scientific Knowledge in Vedic Works, Western Indologists : A Study in Motives.